

प्रेमचन्द और भारतीय किसान

भाग्नीय इतिहास अनुमधान परिषद, नई दिल्ली
की आर्थिक सहायता से प्रकाशित ।



वाणी प्रकाशन

दिल्ली-110007

प्रेमचन्द
और
भारतीय किसान

*

लेखक
डॉ० रामवक्ष

यह ग्रंथ भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली की आर्थिक सहायता से प्रकाशित हुआ है। किन्तु इसमें दिये गये तथ्यों, निर्णयों और निष्कर्षों के लिए भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद उत्तरदायी नहीं है, बल्कि इन सबका सारा उत्तरदायित्व स्वयं लेखक पर है।

वाणी प्रकाशन
61 एफ कमला नगर, दिल्ली 110007
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण 1982

© रामबक्ष मूल्य 65 00 रुपये
आवरण एम० के० सिन्हा

अशोक कम्पोजिंग एजेंसी द्वारा
गोपाल प्रिंटिंग प्रेस, बाहदुरा, दिल्ली 110032
में मुद्रित

Premchand aur Bhartiya Kisan
(Criticism) by Rambux

प्रस्तावना

प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य के गौरव हैं। प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य का केन्द्र उनके साहित्य में व्यक्त किमान सम्बन्धनशीलता है। भारतीय किसान का दिल प्रेमचन्द की रचनाओं में घड़कता है। प्रेमचन्द से पहले और उनके बाद में भी (हिन्दू-उर्दू में) किसानों का ऐसा हिमायती साहित्यकार पैदा नहीं हुआ। जिसे हम 'भारतीय किसान' कहते हैं वह कोई अमूर्त धारणा नहीं है। यहाँ भारतीय किसान से तात्पर्य बीसवीं सदी के शुरू के 36 वर्षों के भारतीय किसान से है। इस किसान को—इसकी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी समस्या का, उसके जीवनानुभवा को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का काम हिन्दी-उर्दू साहित्य में सबसे पहले प्रेमचन्द ने किया है। प्रेमचन्द की इस विशिष्ट स्थिति को—उनकी समकालीन चेतना और मानवीय संवेदनशीलता को—तद्गुणित भारतीय किसान के सन्दर्भ में ही परखा जा सकता है।

वास्तव में प्रेमचन्द और भारतीय किसानों के सम्बन्ध की जिज्ञासा साहित्यिक जिज्ञासा मात्र नहीं है, बल्कि इससे बड़ी और विस्तृत जिज्ञासा है। यह उस पुरानी और प्रासंगिक बहस का एक हिस्सा है जिसमें साहित्य और सामाजिक-राजनीतिक जीवन का सम्बन्ध क्या है? और साहित्य में समाज की तथा समाज में साहित्य की भूमिका क्या होती है? जैसे सवाल उठाये जाते हैं। इस पुरानी प्रचलित बहस को प्रेमचन्द और भारतीय किसान के विशिष्ट सन्दर्भ में ही यहाँ रखा गया है। प्रस्तुत विषय में दो मुख्य जिज्ञासार्थ हैं—एक, प्रेमचन्द (एक साहित्यकार के रूप में) और किसान (एक सामाजिक वर्ग के रूप में) का सम्बन्ध क्या है? और दूसरा, प्रेमचन्द की रचनाओं में व्यक्त किसान जीवन का स्वरूप क्या है? इनमें पहली जिज्ञासा का सम्बन्ध बीसवीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रीय राजनीति में किसानों की भूमिका और उस भूमिका के सन्दर्भ में तद्गुणित बुद्धिजीवियों के चिन्तन से है। दूसरी जिज्ञासा का सम्बन्ध उस भूमिका के प्रेमचन्द द्वारा किये गये साहित्यिक सृजन से है, जिसमें तत्कालीन परिस्थितियों के साथ साथ प्रेमचन्द की जीवन दृष्टि और कलात्मक सामर्थ्य की एक बड़ी भूमिका है।

प्रेमचन्द और भारतीय किसानों का सम्बन्ध सहज और सरल नहीं है। यह सम्बन्ध प्रेमचन्द की जीवन-दृष्टि मात्र का ही अनिवार्य परिणाम नहीं है, बल्कि इससे हिन्दुस्तान के सांस्कृतिक वातावरण और वर्ग सम्बन्धों के नये स्वरूप की भी अभिव्यक्ति होती है। वास्तव में ब्रिटिश भारत में किसानों की सशस्त्र आन्तिकारी सघर्ष की परम्परा रही है। किसानों ने आरम्भ से ही अंग्रेजों को भारत से निवाल बाहर

करने के लिए सशस्त्र सघर्ष चलाये। इसीलिए उन्होंने 1857-58 के विद्रोह में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इन सघर्षों का उद्देश्य ब्रिटिश पूँव राजाओं और कृषि सम्बन्धों को पुनः स्थापित करना था। उन्होंने ब्रिटिश भारत के अधिवासी जमींदारों और महाराजों की हत्याएँ की, पुलिस और फौज का मुकाबला किया। यह किसान अभी तक संगठित राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर नहीं आये थे, बल्कि इनके सघर्षों में अपनी परेशानियों से उत्पन्न आक्रोश की अभिव्यक्ति होती थी। ब्रिटिश भारत में एक परम्परा इन किसानों की थी।

दूसरी परम्परा उस बुद्धिजीवी वर्ग की थी, जिसने आगे चलकर इन किसानों को संगठित किया और राष्ट्रीय आन्दोलन में नेतृत्वकारी भूमिका निभाई।

ब्रिटिश सिंह' की छत्रछाया में जिस अंग्रेजी पढ़ लिखे बुद्धिजीवी वर्ग का उद्भव और विकास हुआ—वह आरम्भ में अंग्रेजों की न्यायप्रियता और प्रजापालकता का गहरा हामी था। उसे बर्बर मुस्लिम साम्राज्य के बाद अंग्रेजों का शासन शान्ति का दूत दिखाई दिया। इस वर्ग ने भारत में अंग्रेजी राज को स्तुत्य माना और किसानों की सघर्षशील परम्परा को 'क्रूर' और 'बर्बर' कहकर पुकारा। यह एक ऐसा वर्ग था जिसने 1857 के विद्रोह का विरोध किया और अंग्रेजों का साथ दिया। पश्चिम के सम्पर्क में आते ही उस अंग्रेजों की सभ्यता और भारतीयों के जगलीपन में अटूट विश्वास हो गया। अतः इस वर्ग के एक तबके ने अंग्रेजी सभ्यता के अनुकरण को ही भारत की भावी उन्नति का आधार माना। इसी वर्ग ने भारत में आधुनिक राजनीतिक चेतना का प्रचार और प्रसार के आरम्भिक प्रयास किये। इसी ने 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को संगठित किया। इसने ही अंग्रेजों के सामने भारतीय जनता की परेशानियों को रखा फिर इन परेशानियों का दूर करने के लिए सघर्ष किया। अपनी माँगों को मानवाने के लिए इसने ही सबसे पहले सम्पूर्ण भारतीय जनता का संगठित करने का प्रयास किया।

प्रेमचन्द और भारतीय किसानों का सम्बन्ध इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है कि इस बुद्धिजीवी वर्ग ने किसानों की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका को महत्व दिया। प्रेमचन्द इसी बुद्धिजीवियों में से एक थे। यह काम अकेले प्रेमचन्द नहीं कर पाते, बल्कि उस दौर के अनेक राजनीतिक नेता और साहित्यकारों की दृष्टि गाँवों की ओर गई और उनमें अपने विचारों को किसानों में भी प्रचारित करने के होसले हुए। आरम्भ में यह विचार दया भाव से आया, जिसमें 'बेचारे किसानों की भलाई के लिए शिक्षित जन' को कुछ करन का आह्वान था। बाद में प्रेमचन्द जैसे लोगों ने यह महसूस किया कि किसान ही भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का आधार हैं। प्रेमचन्द महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू ने तत्काल एक ही समय किसानों की शक्ति को पहचाना। गांधी ने चम्पारन (1917 ई०) में नेहरू ने प्रतापगढ़ और रायचौरी (1920-21 ई०) में किसानों के बीच काम किया। प्रेमचन्द ने इसी बीच (मई 1918 ई० में) 'प्रमाथम' लिखना शुरू किया। राजनीति और साहित्य दोनों ही शिक्षित जन समुदाय की संकुचित सीमा से निकलकर गाँव की चौपाल में आये। राजनीतिक और साहित्यिक विषयों और समस्याओं का यह परिवर्तन

भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक जीवन में एक महत्वपूर्ण घटना है। तिलक गोपले के बाद गांधी नेहरू और मैथिलीशरण गुप्त, देवकीनन्दन खत्री के बाद निराला प्रेमचन्द का यह आगमन भारत के सांस्कृतिक आकाश में एक बड़े परिवर्तन की पूर्व सूचना है। इसी परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्द और भारतीय किसान का सम्बन्ध प्रेमचन्द की जीवन-दृष्टि के घेरे में निबलकर राष्ट्रीय राजनीति के दायरे में आ जाता है। यह भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के आपसी सम्बन्धों के परिवर्तन और नये स्वरूप का घोषित करता है।

इसलिए एक ओर तो हम ब्रिटिश भारत में किसानों की स्थिति पर विचार करना होगा और दूसरी ओर राष्ट्रीय आन्दोलन की विकास रेखा को भी समझना होगा। इसी परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्द का जीवन, उनकी-जीवन दृष्टि का विकास, उनकी साहित्यिक शुरुआत की आरम्भिक समस्याओं और हिन्दी साहित्य की परम्परा को भी समझना होगा।

साहित्य और समाज के सम्बन्धों के विवेचन में मोटे तौर पर दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं—समाज में साहित्य की स्थिति और साहित्य में समाज की उपस्थिति। प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने इन दोनों पद्धतियों का उपयोग किया है जिससे प्रेमचन्द के साहित्य का समग्र अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके।

प्रेमचन्द के साहित्य पर अनवरचितको, आलोचका और शोधकर्त्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। 'सेवासदन' के प्रकाशन (1916 ई०) के बाद से ही प्रेमचन्द के साहित्य पर गम्भीर विचार विमर्श शुरू हो गया था और समकालीनों में प्रेमचन्द बहुमते के केन्द्र में आ गये थे। तब से आज तक प्रेमचन्द साहित्य पर विचार विमर्श जारी है। भारत में ही नहीं विदेशों में भी आलोचकों ने प्रेमचन्द के साहित्य का मनन किया है। इन सभी प्रयासों से प्रेमचन्द के साहित्य के प्रति कुछ धारणाएँ सर्वमान्य हो चली हैं। प्रेमचन्द साहित्य के इन अध्ययताओं के प्रति पूरी श्रद्धा रखते हुए भी मैंने ग्रन्थ में उनसे सहमत करने का प्रयास नहीं किया है। उन्होंने प्रेमचन्द के साहित्य के बारे में जो सामान्य धारणाएँ बना रखी हैं उन्हीं धारणाओं पर प्रसंगवश विचार किया गया है। प्रेमचन्द साहित्य के वस्तुगत अध्ययन से उनके बारे में जो मरी धारणाएँ बनी हैं उन्हें ही मैंने मुख्य रूप से सामने रखने का प्रयास किया है। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए मैंने किसी आलोचक के मत का सहारा न लेकर स्वयं प्रेमचन्द के साहित्य का ही सहारा लिया है। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रेमचन्द साहित्य के पूर्ववर्ती अध्ययताओं का खण्डन मण्डन बहुत कम किया गया है। प्रेमचन्द साहित्य की वस्तुगत और बोधगम्य तस्वीर बनाने का प्रयास ही यहाँ अभीष्ट है।

यह ग्रन्थ मूलतः आलोचनात्मक है। इसमें मैंने नये तथ्यों की खोज का प्रयास नहीं किया है प्रसंगवश कुछ नये तथ्यों का अवश्य सामने आ गये हैं, लेकिन मेरी रुचि उपलब्ध तथ्यों के नये विश्लेषण की ओर ही रही है। प्रेमचन्द साहित्य में सम्बन्धित इन तथ्यों के लिए मैं अपने पूर्ववर्ती शाश्वतकर्त्ताओं का ऋणी हूँ। प्रेमचन्द के जीवन-चरित्र और रचनाओं के प्रकाशन काल जेम तथ्यों के लिए मुख्यतः श्रीमती शिवरानी देवी, अमृतराय, मदन गोपाल जौनपुरी, कुमार और कमल विश्वेश्वर गोयनका ही मरे

आधार रहे हैं। फिर भी, मुझे लगता है कि प्रेमचन्द से सम्बन्धित अनेक नये तथ्यों को अभी प्रकाशन में लाया जाना बाकी है और अगर वे सारे तथ्य उपलब्ध होते तो यह शोध-कार्य और ज्यादा पूर्ण होता।

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे शोध-प्रबन्ध का निचित संशोधित रूप है, जिसे भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली ने पी एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत किया है। यह कार्य प्रो० नामवरसिंह के कुशल निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। गुरुवर डॉ० मैनजर पाण्डेय ने मुझे शोध-कार्य के लिए प्रेरित किया और विषय-चयन में सहायता दी। काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी और मारवाड़ी पुस्तकालय दिल्ली से मुझे तत्कालीन युग की पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें मिली हैं। मैं इन सभी के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ।

हिन्दी विभाग

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,

रोहतक

—रामबक्ष

विषय-सूची

पथ सन्धान और किसानों के महत्त्व की पहचान /	13
सर्जनात्मक विकास और किसान के	
वर्गीय सम्बन्धों के उद्घाटन का प्रयास /	49
चिन्तन की परिपक्वता और स्वाधीनता	
आन्दोलन में किसानों की भूमिका /	94
सर्जनात्मक उत्थर्पण और किसान	
जीवन की जटिलता में अन्त प्रवेश /	141
प्रेमचन्द के साहित्य में	
किसानों के आर्थिक शोषण की प्रक्रिया /	176
प्रेमचन्द के साहित्य में किसानों का	
सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन /	210
प्रेमचन्द की जीवन-दृष्टि /	243
उपसंहार /	273

पथ संधान और किसानों के महत्त्व की पहचान

(1900-1919 ई०)

हिन्दी साहित्य की परम्परा और प्रेमचन्द

प्रेमचन्द ने अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत उर्दू में की और धीरे-धीरे वह हिन्दी भाषा की ओर आया। इसलिए उनका साहित्यिक कृतित्व का मूल्यांकन करने के लिए हिन्दी साहित्य की आधुनिक परम्परा का ज्ञान भी आवश्यक है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् 1850-1885 ई०) के साथ हिन्दी साहित्य आधुनिक युग में प्रवेश करता है। इस युग में साहित्य के सिद्धान्त स्वरूप, प्रयोजन आदि को लेकर नये मवाल उठे, जिन पर खूब बहस हुई। भारतन्दु पुरानी और नयी दोनों साहित्यिक परम्पराओं के बीच में खड़े थे। रीतिकालीन दरबारी कविता और भक्तकालीन सामाजिक परम्परा—इन दोनों का सघर्ष उस युग में मुख्य था। इस समय साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में दो प्रमुख विरोधी धारणाएँ थीं। एक धारणा के अनुसार साहित्य मनोरंजन का साधन है और दूसरी के अनुसार साहित्य ज्ञान का साधन है। पहली धारणा को मानने वाले चिंतकों ने साहित्य में चमत्कार, रस, छंद और अलंकारों को महत्त्व दिया। इनके पाठकों का बड़ा भाग सामाजिक जीवन में निष्क्रिय था, समय काटना उनका मुख्य धंधा था। ये लोग अधिकतर दरबारी सामंती जीवन-मूल्यों के समर्थक थे। ये साहित्य में 'नवीनता' के नहीं बल्कि 'चमत्कार' के पक्ष में थे। इनके अनुसार साहित्य के विषय भीगित होते हैं, मानव जीवन के सभी पक्षों पर साहित्य लिखना साहित्य को शुष्क बना देता है। इन्होंने गद्य के खिलाफ पद्य का और खड़ी बोली के खिलाफ ब्रजभाषा का पक्ष लिया। ये लोग पाठकों में 'सहृदयता' और 'दानशीलता' को ही उत्पन्न करते थे। इन्होंने प्रेम और पत्रिका को साहित्यिक पत्रिका का कारण समझा। हिन्दी में बहुत दिनों तक इस परम्परा का दबदबा रहा है। अब भी इस परम्परा के प्रच्छन्न समर्थक साहित्यकार मिल जाते हैं। प्रेमचन्द और अन्य जनवादी साहित्यकारों ने इस परम्परा से बड़ा संपर्क किया।

दूसरी परम्परा की मूल स्थापना यह है कि साहित्य भी ज्ञान-प्राप्ति का एक साधन है। इस परम्परा में परम्पर-विराधी विचारों और जीवन-मूल्यों के साहित्य-कार मिलते हैं। इन लोगों ने चली आती हुई साहित्य परम्परा का विरोध किया है, जिसके कारण उस परम्परा का कई प्रच्छन्न प्रभाव भी हम पर पड़े है। 'साहित्य मनोरंजन के माध्यम में शिक्षण है', यह धारणा इन दोनों विरोधी परम्पराओं के

सामाजिक का परिणाम है। इनके अनुसार साहित्य अन्य मानवीय ज्ञान-विज्ञानों की तरह और उनके साथ ही साथ मनुष्य की ज्ञानशक्ति और बोधशक्ति को विकसित करता है। साहित्य विवेक व्यापक जीवन विवेक का अंग है। अतः अन्य शास्त्रों से परिचय के बिना साहित्य विवेक विकसित नहीं किया जा सकता। साहित्य समाज में (निर्णायक) सम्बन्ध होता है। (इस सम्बन्ध के स्वरूप के बारे में इस परम्परा के साहित्यकारों में मतभेद हैं।) इन साहित्यकारों ने पश्चिमी साहित्य से प्रेरणा ली, उसको चुनौती देने का प्रयास किया और उसके समान और उसके जैसा ही नहीं—बल्कि उसकी टक्कर के साहित्य-मूजन का होसला भी दिखाया। इस वर्ग ने प्रेस और पत्रकारिता पर अधिकार किया और अन्यान्य विषयों के साथ नये ढंग से साहित्यिक चर्चाओं की। इन्होंने साहित्य का विनाश पाठकवर्ग पैदा किया और मोटे रूप से उनमें जनतांत्रिक भावनाएँ जगाईं। साहित्य में ये 'चमत्कार' के नहीं, बल्कि नवीनता और उपदेशात्मकता के कायल थे। इन्होंने साहित्य को देशप्रेम से जोड़ा और देशदशा और साहित्यदशा की समान भूमि बताते हुए देशप्रेम को साहित्य प्रेम और भाषा प्रेम में जोड़ा तथा भाषा की उन्नति को देश की उन्नति का मूल बताया। इन रचनाकारों का पाठक एक सामाजिक कार्यकर्ता होता था। यह व्यक्ति देशोद्धार में लगा हुआ था और यह साहित्य उसके इस कार्य में सीधी मदद पहुँचाता था। इन लोगों की मानसिक संरचना पर तत्कालीन धार्मिक सुधारवादी आन्दोलनों का गहरा असर रहा है।

समकालीन अधःपतन के कारण प्रश्रिया की खोज की बेचनी इस काल के लेखकों को साहित्य सृजन के लिए प्रेरित करती थी। इस अधःपतन के कारणों की खोज में कुछ लोगों ने तत्कालीन धार्मिक रूढ़ियों को टटोला और उन्होंने जातिप्रथा, बहुविवाह, बालविवाह का विरोध किया। इन सामाजिक रूढ़ियों का धार्मिक तर्कों से विरोध इस युग की आम कमजोरी रही है। यही लोग सारे भारत में 'सच्चा' और 'वास्तविक' धर्म स्थापित करने में लगे। ऐसी स्थिति में बुद्धिजीवियों के दो मुख्य खेमे बन गये। इनमें से एक ने तर्क और बुद्धि से ही तत्कालीन समाज में प्रचलित रूढ़ियों का समर्थन करना शुरू किया। दूसरे ने तत्कालीन धर्म की बुद्धिवादी आलोचना करते हुए भी प्राचीन वैदिक धर्म को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। कुछ भी हो, इन दोनों के सघर्ष में धार्मिक मसला में बुद्धि का दखल बढ़ा और 'आस्था' में कमी हुई। परम्परा-विरोधी हो या परम्परावादी, दोनों अपने पक्ष के समर्थन में वेद, पुराण, शास्त्र इतिहास, विज्ञान, दर्शन से उद्धरण देने लगे। इससे ज्ञान की भूख और ज्ञान की महिमा बढ़ी। दोनों के सघर्ष से बुद्धि और अनुभवपरक ज्ञान को सत्य मानने में लोगों का विश्वास जमने लगा। अपने-आपको, देश को, समाज और धर्म को लोग प्रश्नसूचक दृष्टि से देखने लगे।

इसी बीच राष्ट्रीय आन्दोलन भी शुरू हुआ, लेकिन उन्नीसवीं सदी के अन्त तक तो धार्मिक सामाजिक सुधार आन्दोलन ही प्रमुख रहे। बीसवीं शताब्दी के साथ राष्ट्रीयता की नई संशक्त लहर आई, जिसने सुधारवादी चेतना को अपने भीतर ही

समाहित कर लिया। इस परम्परा के साहित्यकारों ने यह दिखा दिया कि दैनिक जीवन की नीरस जिंदगी में भी साहित्यिक सरमता मौजूद है कि साहित्य समाज सुधार का एक माध्यम है, कि अनुभवपरक ज्ञान सत्य है कि यह दुनिया और मानव जीवन ऐसा नहीं है जिसकी उपेक्षा की जाए, कि साहित्य का विषय क्षेत्र सीमित नहीं होता, कि साहित्यकार एक जिम्मेदार व्यक्ति होता है।

प्रेमचन्द इसी दूसरी परम्परा के साहित्यकार हैं। बीसवीं शताब्दी के साथ शुरू हुए नए राष्ट्रीय आन्दोलन और साहित्यिक उत्थान के बीच प्रेमचन्द का रचनाकार मानम पला और विवसित हुआ। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों द्वारा उपस्थित की गई समस्याओं को नया परिप्रक्ष्य दिया और नवीन समस्याओं को नवीन व्याख्याओं की।

बचपन का परिवेश और अनुभव

धनपतराय का जन्म 30 जुलाई, 1880 को लमही (गाँव) में हुआ, जो बनारस (शहर) से चार मील है। जन्मस्थान के कारण प्रेमचन्द जितना गाँव से जुड़े हुए थे, उतना ही शहर में भी। इसलिए उन्होंने दोनों की अस्मिता और सम्बन्ध भावना को देखा था। यहाँ यह रहना आवश्यक है कि शहर के नाम से जिस आधुनिक औद्योगिक शहर की तस्वीर उभरती है उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के आरम्भ का बनारस वैसा शहर भी नहीं था। इस गाँव की मिट्टी में प्रेमचन्द पैले, बड़े हुए और उन्नति के गिछर पर चढ़े। बीच बीच में नौकरी के सिलसिले में अन्य स्थानों में भी रहे। पर मुख्यतः बनारस के ही आसपास उनकी जिंदगी का बड़ा हिस्सा बीता। गाँव में जमींदार पट्टवारी मुन्शी महाजन पुरोहित, दुकानदार, छोटे बड़े किसान—विभिन्न धर्मों और जातियों के मानने वाले—रहते ही थे। प्रेमचन्द की संवेदनशीलता इन्हीं लोगों के आपसी सम्बन्धों से निमित्त समाज-व्यवस्था में थी।¹

उनके पिता मुन्शी अजयबल्लभ डाकखान में क्लर्क थे। प्रेमचन्द कायस्थ थे—ब्राह्मण नहीं थे। उनकी जीवनदृष्टि की बुनावट में इस तथ्य का भी योग है। धर्म किमी ब्राह्मण के लिए मात्र पूजा और उपासना की वस्तु नहीं होता, बल्कि वह उसका हिस्सा रहने की एक शक्ति होती है। धर्म से उनकी जीविका चलती है। इसलिए धार्मिक पूजा के बीच इन्हीं में जल्दी पापना है। इसीलिए ब्राह्मणों ने धार्मिक सुधारवादी आन्दोलनों के समय अधिकतर मतान्तर धर्म का ही पालन किया। दूसरी ओर, कायस्थ राजकाज से जुड़ा ज्ञान के कारण भारत में मजहूरी होता है। कायस्थों का जीवन-उपाहार जोन कबड्डी, रेसू या अन्य गरीबों की नौकरियाँ में ही बीतता है। मुगलों के जमाने की इन योगों से अनेक बच्चों को राजकीय जागृता में अहित की। वे भी कायस्थ बच्चे ही राजनीति में उठते हैं और जीवन व्यवहार में बड़ा ही विचारशील होते हैं। यह कि वे ब्राह्मणिक या भारतीय मूल्य के नाम पर एक भी रंग का नुकसान नहीं करना। व्यक्तिगत और जातीय संस्कारों के इस भाव ने साहित्यिक संधर्भवाद को पालना में मदद की। प्रेमचन्द ने उर्दू-फारसी के

मदरसो में शिक्षा पाई। कुछ दिन मिशन स्कूल में भी पढ़े, सरकारी स्कूलों की भी छात्र छात्रा। सब मिलकर उन्हें गैर-मजहबों बनाने में सहायक हुए। उन पर जब आर्य समाज का प्रभाव पड़ा, तब भी उनकी मुस्लिम विरोध की भावनाओं की उग्रता को वे अपना नहीं सके। वे उससे सामाजिक सुधार वाले पक्ष का समर्थन करते रहे।

प्रेमचन्द का वचपन आर्थिक तंगी में बीता। आर्थिक तंगी और सामाजिक परेशानियों ने (माता की मृत्यु और पिता की दूसरी शादी) उनको अत्यन्त संवेदनशील बना दिया। इससे उनमें भावात्मक असंतोष और छोटी छोटी जिद्दें भी पूरी न हो पाने के कारण खिन्नता पैदा हुई। अभावों में उत्पन्न इस कल्पनाशीलता की मादकता को प्रेमचन्द ने महसूस किया। इसी मादकता का फायदा करते हुए बाद में प्रेमचन्द ने अपना वचपन की याद में आँसू बहाये हैं। इस कल्पनाशीलता का 'तिनस्म होखरवा और बज्जा की लाकड़ियाँ' न विस्तार दिया। एक तरफ उनके जीवन का बहुत यथार्थ और दूसरी ओर तिनस्मी-जामूनी उपन्यासों का यह मुग्ध सतार—इससे उनके चिंतन और जीवन व्यवहार में एक बुनियादी अलगाव पैदा हुआ। चिंतन और कल्पना में सुन्दर राजकुमारियाँ हाथी घोड़े पर सजे बाँके राजकुमार होते और जीवन में अत्याचार से पीड़ित हिन्दू विधवा दिखाई देती, जेठ की दुपहरी में गट्ठा सिर पर लादे नंग पाँव चलते हुए किसान दिखाई देते। यही सब एक बेचैनी की शुरुआत होती है। उनका साहित्य इस बेचैनी से शुरू होता है, समस्या की तह तक जाना चाहता है, और ऐसा लगता है कि बार बार अँधेरे से टकराकर लौट आता है। इसी श्रांति (1917 ई०) तक उनकी कहानियाँ और उपवासों में यही बेचैनी मुख्य है। यहाँ तक वे अपनी जीवन-दृष्टि की असंगतियों और नमियाँ को महसूस कर रहे थे, उनको दूर करने का प्रयास कर रहे थे। 1899 ई० तक अपनी शिक्षा समाप्त करके 18 रुपये मासिक के अध्यापक बन गये। एक तरह से यहाँ तक उनका वचपन भी खत्म हो जाता है। बीसवीं सदी में उनका जीवन नये कार्यक्षेत्रों में आता है। इस सदी में उनका नया कार्यक्षेत्र और नवीन संघर्ष के बीच खड़ा कर दिया। राष्ट्रीय राजनीति में चल रहे दशोद्धार के नारे के बीच प्रेमचन्द ने गवाह उठाया कि सच्चा दशभक्त कौन है? दशोद्धार का सही मार्ग क्या है? इस उद्धार के बाधक तत्त्व कौन हैं? और इस समरालीन अधःपतन का जिम्मेदार कौन है? इन्हीं सवालों के साथ प्रेमचन्द ने अपना साहित्यिक जीवन की शुरुआत की। वैसे तो प्रेमचन्द ने सन् 1900 में ही अपना साहित्यिक जीवन की शुरुआत मानी है, पर उनकी रचनाएँ 1903 ई० से ही मिलती हैं। अतः यहाँ से उनके साहित्यिक जीवन की शुरुआत माननी चाहिए।

अंग्रेजी राज्य में किसान

1757 ई० के प्लामी युद्ध के बाद अंग्रेज भारत में जम गये। 1764 के बक्सर युद्ध के बाद हिंदी भाषी क्षेत्रों में भी उनका दबदबा हो गया। 1857 के विद्रोह के बाद तो सारे भारत में अंग्रेजों की ही तूती बोलन लगी। अंग्रेजों ने भारतीय राज्य व्यवस्था में कुछ नए परिवर्तन किये जिनके दूरगामी परिणाम हुए। वारेन हेस्टिंग्स ने

सबसे पहले इस धारणा को सामने रखा कि सारी जमीन सरकार की है। जमीन जोतने वाला किसान तो सरकार से जमीन किराया पर लेता है। अतः जमीन की उपज का सरकारी हिस्सा 'टैक्स' नहीं, 'रेण्ट' है। दूसरे, 1793 में बार्नबालिस ने 'स्थायी बंदोबस्त' के अंगीन बंगाल, बिहार और उड़ीसा में जमीन जमींदारों को दे दी। शेष भारत के कुछ हिस्सों में रयतदारों और अन्य हिस्सों में जमींदारी व्यवस्था लागू हुई। इस स्थायी बंदोबस्त में सरकारी हिस्सा उपज का 90 फीसदी तक हुआ। उत्तरी भारत में 83 फीसदी लगान निश्चित हुआ। जब इसको उगाहने में कठिनाई हुई तब पहले 75 फीसदी, फिर 66 फीसदी और अंत में 1855 ई० में 50 फीसदी कर दिया गया।¹²

इन कृषि सम्बन्धों के कारण पुराने पुरतनों जमींदार टूटे और नये व्यवसायों जमींदार वर्ग का उदय हुआ, जिसका हित ब्रिटिश साम्राज्य के साथ जुड़ा था। विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने जमींदारों और राजाओं के साथ मित्रता की। औद्योगिक नीति के कारण कृषि पर निर्भर आबादी बढ़ी। सरकार और किसान के बीच बिचौलियों की एक नयी पीढ़ी बनो जिसमें पटवारी, महाजन से लगाकर कारिदा, जमींदार, पुलिस, वकील तक सम्मिलित थे। किसानों का सीधा सम्पर्क इन्हीं लोगों से था। अतः जब भी किसानों ने अन्याय के खिलाफ सर उठाया तो वे इन बिचौलियों से ही टकराये। बहुत दिनों तक किसान आन्दोलन सामन्तवाद विरोधी संघर्ष का ही एक रूप हुआ करता था, जो सारत साम्राज्यवाद विरोधी भी होता था। 1920 तक राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने जब किसानों को संगठित करना शुरू किया, तभी उनमें राजनीतिक चेतना पनपी। इसलिए गफ ने 1920 ई० के पहले के किसान संघर्षों को 'प्रो-पोलिटीकल' कहा है।¹³ किसान संघर्ष के स्थानीय और सामन्त विरोधी (मान) होने के कारण ही बहुत दिनों तक अंग्रेजों ने इस बात को बहुत उछाला कि भारत की विशाल मूक किसान जनता के वास्तविक हितोंपी अंग्रेज ही हैं।¹⁴

इसके बावजूद, कि किसानों ने अब तक राजनीतिक संघर्ष में सीधे भाग नहीं लिया था, फिर भी धीरे-धीरे बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों और साहित्यकारों की दृष्टि किसानों की ओर जान लगी थी। अपने सिद्धान्त और व्यवहार को वे गाँवों की समस्याओं की कमीटी पर भी कसने लग गये थे। वास्तव में तत्कालीन भारतीय बुद्धिजीवी में एक भीतरी अलगाव था—वह अलगाव उसके जीवन व्यवहार और उसके चिन्तन का था। वह जो कुछ सोचता था—उसकी पृष्ठभूमि इंग्लैंड या यूरोपीय विचारकों की होती थी जबकि उसे हिन्दुस्तान में रहना होता था। वहाँ के अंग्रेजों और इंग्लैंड के अंग्रेजों को एक ही समझकर इनकी भी न्यायप्रियता और स्वाधीनता-प्रेम की प्रशंसा किया करता था। इस वर्ग में इस संदर्भ में जो रचनात्मक भूमिका निभाई वह इंग्लैंड और यूरोपीय इतिहास की प्रजातान्त्रिक और परंपराओं की पहचान और उनका प्रस्तुतीकरण थी। हिन्दुस्तान में इंग्लैंड का साम्राज्यवादी रूप आया, इन बुद्धिजीवियों ने उसका दूसरा रूप भी सामने रखा।

प्रेमचन्द के साहित्यिक जीवन की शुरुआत और किसान

स्वयं प्रेमचन्द ने राजतन्त्र और प्रजातन्त्र की आपसी लड़ाई की मददेनजर रखते हुए 'आलिबर ग्रामवेल'¹⁵ पर जून 1903 में जीवनीपरक लेख लिखा है। इस लेख

से प्रेमचन्द की भावी रचनात्मक जिज्ञासा और जीवन दृष्टि का पता चलता है। इसमें उन्होंने ग्रामवेत के किसानों के जीवन पर लिखते हुए लिखा है कि 'एसा बहुत कम सयोग हुआ है कि एक साधारण, शान्ति प्रेमी किसान के रोजाना हालात विस्तार के साथ लिखे हुए मिल सकने हों या उनमें किसी की-सी दिलचस्पी और अजब-अनोखी बातें पायी जाती हों। ग्रामवेत की जिन्दगी यहाँ कुछ ऐसी सादगी और खामोशी से बसर होती थी कि उसके बारे में बहुत कम हालात मालूम होते हैं।' ७

इस उद्धरण से रचनाकार प्रेमचन्द की भीतरी लालसा का पता चलता है। यह तथ्य उनके लेखकीय व्यक्तित्व के लिए चर्चा की भी बना जिसका रचनाओं द्वारा उन्होंने जवाब भी दिया है। यही से प्रेमचन्द के मन में एक सम्भावना पैदा हुई कि किसी-वहानी का नायक साधारण किसान क्यों नहीं हो सकता? फिर भी इस दौर में उन्होंने जो रचनाएँ लिखी उनमें साधारण किसान का साधारण जीवन नहीं आया।

उनका पहला उपलब्ध उपन्यास 'अमरारो मआबिद उर्फ देवम्यान रहस्य' है, जो 1903 ई० में छपा। उपन्यास शिक्षाप्रद है। इसमें देवस्थानी में व्याप्त व्यभिचार की कलई खाली गई है। इसमें मन्दिर के महन्तों और पुजारियों द्वारा कुलीन घराने की लड़कियों की किस चालाकी से दूजत लूटी जाती है—इसका वर्णन है। इस उपन्यास के पीछे दृष्टि है कि इन लोगों ने धर्म की भाँड़ में पाप कर्म किए हैं, सच्चा धर्म गुप्त हो गया है और इन्द्रियों के गुलाम महन्त इसका ठेकदार बन बैठे हैं। लेकिन इसमें सारे माहौल और व्यभिचार प्रसंग का वर्णन इतना मादक और रसीला है कि पाठक के मन में भी व्यभिचार के प्रति आकर्षण ही पैदा होता है। इस कारण यह उपन्यास अपने उद्देश्य में असफल है। उपन्यास के अधिकांश पात्र कुलीन हैं, अन्त होते होते इसमें 'आजाद क्या' के वाक्यों की झलक भी मिल जाती है। इस ऐशो-आराम के वर्णन के बाद प्रेमचन्द ने यह भी दिखा दिया है कि इस मन्दिर के पुजारियों के ठाट-बाट का स्थायी आधार वह इलाका है, जिसकी लगान से इतनी आमदनी होती है। रामकली के गहने हड़पन के लिए जा डोग रचा जाता है उसमें इसी इलाक के नीलाप हो जाने की मनगढ़न्त कहानी बतलाई गयी है। उपन्यास के बीच में एक जगह दो पङ्क्तियाँ लिखे सज्जन बहस करते हैं, जिनमें एक अंग्रेजी पढ़ा लिखा व्यक्ति कहता है कि 'जो लोग मुफ्त की चखीतियाँ करेंगे दूसरे के सिर पर फुलीडियाँ धायेंगे, वे आखिरकार एसा पसन्द और आरामतलब हो जायेंगे।' ८ फिर इसी व्यक्ति ने विस्तार से इंग्लैंड में पोष और राजसत्ता के संघर्ष का इतिहास भी बताया है।

कुल मिलाकर यह उपन्यास सुधारवादी चेतना का उपन्यास है। इसमें सामाजिक सुधार की आकांक्षा धर्म-सुधार के क्षेत्र से की गयी है। किसानों पर सीधे न लिखते हुए भी किसानों की महन्त से उत्पन्न धन से इनका सम्बन्ध जोड़ा गया है। इसमें तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलन का नहीं, बल्कि समाज सुधार आन्दोलन का प्रभाव है।

कांग्रेस, राष्ट्रीय राजनीति और प्रेमचन्द

कांग्रेस की स्थापना के बाद (1885 ई०) से सन् 1905 तक देश में कोई बड़ा राजनीतिक आन्दोलन नहीं हुआ था। समकालीन अधःपतन के कारण प्रक्रिया

की खोज उनीसवीं सदी के मध्य से ही शुरू हो गयी थी लेकिन अभी तक बुद्धि जीविता ने अग्रजा को इस अधःपतन का कारण नहीं बताया था। उन्होंने अपनी परम्परा की पुनः परीक्षा की धार्मिक रूढ़िवादी को दोष दिया मुस्लिम शासका की कथित बबरता पर आसू बह्ये—पर अग्रजों को अपना हितैषी मानकर। काग्रस में अथ तर्क गोखन आदि नरमन्त्र वाला का ही बहुमत था जा उच्चकुलीन वर्ग के लोग थे जिनका अधिक हित अग्रजों से सीधे जुड़ा हुआ था। काग्रस का काम सिर्फ अज्ञियाँ देना और प्रार्थना करना था। श्री पट्टाभिषीतारामय्या ने काग्रस की आरम्भिक कायवृद्धि के बारे में लिखा है कि काग्रस के प्रस्तावा के समर्थन में जो व्याप्तमान होते थे और काग्रस के अध्यक्ष जो भाषण दिया करते थे उनमें दो बातें हुआ करती थी—एक तो प्रभावकारी तथ्य और आकड़ दूसरे अकाट्य दलील। उनका उद्गारा में जिन बातों पर अवसर जोर दिया जाता था वे ये हैं—अग्रज लोग बड़ प्यायी हैं और अगर उन्हें ठीक तौर पर वाकफ रख जाय तो वे सत्य और हक के पक्ष में जुग न हाग हमारे सामने असली मसला अग्रजा का नहीं बल्कि अधःगोरा का है बुराई पद्धति में है न कि व्यक्ति में काग्रस बड़ी राजभक्त है ब्रिटिश ताज से नहीं बल्कि हिन्दुस्तानी नौकरशाही से उमका चगड़ा है ब्रिटिश विधान ऐसा है जो लोगों की स्वाधीनता का सब जगह रक्षण करता है और ब्रिटिश पार्लियामेंट प्रजातन्त्र पद्धति की माता है ब्रिटिश विधान सत्तार के सब विधाना से अच्छा है, काग्रस राजद्रोह करने वाली संस्था नहीं है भारतीय राजनीति पर सरकार का भाव साधा तक और लोगों का सरकार तक पहुँचाने का स्वाभाविक साधन है हिन्दुस्तानियों का सरकारी नौकरियाँ अधिकाधिक दी जानी चाहिए ऊँच पदा के योग्य बनाने के लिए उन्हें शिक्षा दी जानी चाहिए विश्वविद्यालय स्थानिक संस्थाय और सरकारी नौकरियाँ ये हिन्दुस्तान के लिए तानीमगाह होनी चाहिए धारा सभाभा में चुन हुए प्रतिनिधि हान चाहिए और उन्हें पूछन तथा बजट पर चर्चा करने का अधिकार भी देना चाहिए प्रस और जगल कानून की कड़ाई कम होनी चाहिए पुलिस लोगों की मित्र बनके रहे कर कम होने चाहिए फौजी खर्च घटाया जाय, कम से कम इंग्लैंड उमम कुछ हिस्सा से पाय और शासन विभाग अलहदा अलहदा हो प्रात और कन्द्र कायकारिणिता और भारत मन्त्री की कोसिल में हिन्दुस्तानियों को जगह दी जाय भारतत्रय को ब्रिटिश पार्लियामेंट में प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व मिले और प्रत्यक्ष प्रात में दो प्रतिनिधि लिए जाएँ नान रेग्युलेटड प्रात रेग्युलेटड प्रातों की पक्कि में लाये जाएँ निविल सविम वाला के बजाय इंग्लैंड के सावजनिक जीवन के नामी-नामी अधःप्रगवनर बनाकर भेज जाएँ नौकरियाँ के लिए भारत और इंग्लैंड में एक साथ परीणाय ली जाएँ इंग्लैंड की प्रतिवय भारत में जो रूपया जाता है वह राका जाय और देनी उद्योग धंधा को तरक्की दी जाय लगान कम किया जाय और बंदोबस्त दायमी कर दिया जाय। काग्रस यहाँ तक आगे बढ़ी कि उसने नमक कर को अयाय पूरा बनलाया सूती माल पर सगे उत्पत्ति कर को अनुचित बतलाया और सिविलियन सागों को दिये जाने वाले विनिमय दर मुआवजे को गैरकानूनी बतलाया और 1893

म मालवीयजी महाराज की दृष्टि यहाँ तक पहुँच गई थी कि उन्होंने ग्राम उद्योगों व पुनरुद्धार के लिए भी एक प्रस्ताव उपस्थित किया था । 9

कांग्रेस की लगान सवारी नीति की मुख्य माँग यह थी कि सारे भारतवर्ष में स्थायी बंदोबस्त लागू कर दिया जाय । यह माँग भारत के राजनीतिक आकाश में सबसे पहले 30 नवम्बर 1839 को उठी । बंगाल की जमींदारी एसोसिएशन (सन 1837) जिसने अप्रैल 1838 में अपना नाम भूस्वामी समाज कर दिया जब 1839 ई० में इंग्लैंड के ब्रिटिश इण्डिया समाज में विलीन हो गया तब उसके चार उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह भी था कि ब्रिटिश भारत में सभी भागों में स्थायी बंदोबस्त या उसी की प्रकृति का प्रबंध किया जाय । 10 इसी सस्यान जमींदारों और किसानों के समान हितों की चर्चा की और उनके बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया ।

राजनीतिक आंदोलनों के साथ-साथ कुछ धार्मिक और सामाजिक आंदोलन भी देश में चलने लगे थे । इन लोगों ने भी गाँवों में घूम घूमकर जनता में आत्म-बल साहस और स्वाधीनता के भाव जगान के प्रयास किये । स्वामी दयानन्द सरस्वती के आय समाज आंदोलन का व्यापक प्रसार हिंदी भाषी क्षेत्रों में हुआ है । इसके अलावा स्वामी विवेकानन्द ने एक पराजित जाति में आत्मगौरव पैदा करने का अथक प्रयास किया । 1893 में हुई विश्व धर्म कांग्रेस में उन्होंने भाग लिया । प्रिंस ओपारिक्न से मुलाकात की । उन्होंने बहुत पहले कहा था कि मैं एक समाजवादी हूँ इसलिए नहीं कि यह व्यवस्था पूर्णतः परिपूर्ण है बल्कि इसलिए कि एक भी रोटी न होने से आधी रोटी ही भली है । मजदूर वर्ग की अतर्निहित शक्ति को पहचानने से वह नहीं चुके । अगर मजदूर काम करना बंद कर दें तो आपको रोटी और कपड़ा मिलना भी बंद हो जायगा । और आप उन्हें नीच वर्ग के लोग समझते हैं और उनके सामने अपनी संस्कृति का ढोल पीटते हैं । अपने को जिंदा रखने के सघन प्रयत्न में उलझ रहने के कारण उन्हें ज्ञान के जागरण का अवसर नहीं मिला । अब तक उन्होंने मानव बुद्धि द्वारा संचालित मशीनों की तरह एकचित्त एकरस होकर काम किया है और चतुर चालाक शिक्षित लोगों ने उनके श्रम के फलों का अधिकांश भाग हड़पा है । हर देश में ठीक यही दशा रही है । किंतु अब जमाना बदल गया है इस सचार्द के प्रति निश्चय वर्ग जाग रहे हैं और अपने वर्ग अधिकारों को हासिल करने के लिए दृढ़ प्रतिन होकर वे अपना एक संयुक्त मोर्चा बना रहे हैं । उच्च वर्ग अब किनारा ही प्रयत्न क्यों न करे वह इस निचले वर्ग का कुचल नहीं सकता । उच्च वर्गों का कारण अब इसी में है कि वे निचले वर्गों के वर्ध अधिकारों को हासिल करने में उनकी सहायता कर । 11 विवेकानन्द ने देश के उद्धार के लिए शूद्रों और निम्न वर्ग के लोगों का ही सक्षम माना । इन दोनों विचारकों का व्यापक प्रभाव भारतीय बुद्धिजीवियों पर पड़ा है । स्वयं प्रमचंद पर इनका असर पड़ा है । आय समाज के तीनों में से ही थे । विवेकानन्द पर भी उन्होंने एक लख बच्चों के लिए लिखा है ।

राजनीतिक हल्का में नरम दल थे जो ने सरकार की लगान नीति और

कर नीति की आलोचना शुरू कर दी थी। रमेशचन्द्र दत्त, दादा भाई नौरोजी, महादेव गोविंद रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले ने सरकार की लगान नीति सुधारने के लिए दबाव डाला। गोखले ने कौंसिल में सरकारी बजट की आलोचना करते हुए किसानों को ब्रिटिश भारत की आर्थिक स्थिति का आधार कहा और किसानों को कम व्याज पर ऋण देने की व्यवस्था की मांग की।¹² तिलक ने इससे आगे बढ़कर किसानों को राजनीतिक शिक्षा देने की हिमायत की। 'केसरी' 12 जनवरी, 1897 में उन्होंने लिखा कि "पिछले बारह वर्षों से हम चिल्ला रहे हैं कि सरकार हमारी बातें सुने, लेकिन सरकार के कानों पर जूनही रेंगती। अब यह जरूरी हो गया है कि अपनी परेशानियों को दूर करने के लिए हम शक्तिशाली सर्वधार्मिक आन्दोलन चलायें। हमें भोले-भाले गांव वालों को राजनीतिक शिक्षा देनी चाहिए। हमें उनसे समानता के स्तर पर मिलना चाहिए, उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करना चाहिए और सर्वधार्मिक तरीके से सघर्ष करने की विधि समझानी चाहिए। तभी हम सरकार को यह विश्वास दिला सकते हैं कि कांग्रेस भारतीय जनता की संस्था है।"¹³ तिलक इस बात को जानते थे कि भारत गांधी में बसता है, उनको राजनीतिक शिक्षा देने का माध्यम समाचारपत्र आदि नहीं हो सकते। अतः जनसंपर्क के नये माध्यम बूढ़े जाने लगे। इस कार्य के लिए गणपति उत्सव का राजनीतिक रूपान्तरण किया गया, बंगाल में काली की पूजा शुरू की गई।

इन सब बातों और विचारों के बावजूद कांग्रेस ने किसानों को संगठित करने का प्रयास नहीं किया। गोखले और तिलक के राजनीतिक सघर्ष ने भारतीय बुद्धिजीवियों की जीवन दृष्टि के निर्माण में अहम भूमिका निभाई। दोनों का सामाजिक आधार ही अलग नहीं था, बल्कि दोनों की कार्यपद्धति और प्रभावित करने के साधन और माध्यम भी अलग थे। गोखले और दूसरे नरमदल वालों में बहुत कुछ उच्चवर्ग के प्रतिनिधि थे। वे सरकार की हानिकारक आर्थिक नीति से परिचित थे, पर आम जनता की शक्ति में उनका विश्वास नहीं था। अंग्रेजों की दयालुता में उनका विश्वास बना रहा। वे क्रांति के नहीं, बल्कि सुधार के हामी थे। उनके लिए सुधार क्रांति से बचाव का रास्ता था।¹⁴ इसके विपरीत तिलक और गरमदली नेताओं का सामाजिक आधार निम्न मध्यवर्गीय नौकरपेशा और बुद्धिजीवी लोग थे। इन लोगों ने भी महसूस किया कि जनता में राजनीतिक चेतना, राजनीतिक संगठन और आन्दोलन का अभाव है। इसलिए उन्होंने धर्म का सहारा लिया, धर्म का राजनीतिक उपयोग किया। इससे यद्यपि जन आन्दोलन एकाएक बढ़ गया, तो भी राजनीति में साम्प्रदायिक तत्त्वों की यह मिलावट अजे चलकर हानिकार सिद्ध हुई।

गोखले का आन्दोलन नरमवृत्ति होते हुए भी अपने मूल चरित्र में असाम्प्रदायिक था, जबकि तिलक का आन्दोलन क्रांतिकारी होते हुए भी मूलतः साम्प्रदायिक था। अतः उनके भाषणों के अंतर में भी फर्क था। नरमदल वालों को बुद्धि और तर्क की अद्भुत शक्ति में विश्वास था, इसलिए सबसे पहले उन्होंने राजनीतिक जीवन में आलोचना दृष्टि को सामान्य चेतना का अंग बनाना चाहा। तिलक ने 'धूम-फिर के इस आलोचनात्मक दृष्टि को कमजोर किया और भावना और आस्था

के नाम पर बलिदान हो जाने की प्रणयें दी। अतः अपने प्रभाव में यह बुद्धि विरोधी आन्दोलन था। इसके अलावा गोखले और नरम दल वाले साम्राज्यवाद के प्रशंसक होते हुए भी भारतीय सामतवाद के कट्टर आलोचक थे। उ होने पुराने रीति रिवाजों और धार्मिक रूढ़ियों पर चोट की। तिलक उग्र साम्राज्यवाद विरोधी होत हुए भी सामतवाद विरोध में उतने उग्र नहीं थे। उन्होंने प्राचीन परंपराओं धार्मिक रूढ़ियों को गौरवाचित किया और उनका ब्रिटिश विरोधी इस्तेमाल किया। साहिब कांरो पर दोनों का प्रभाव पड़ा स्वयं प्रमचन्द के रचनाकार मानस पर कभी तिलक कभी गोखले और कभी दोनों का साथ साथ प्रभाव पड़ा है। उनमें उग्र साम्राज्यवाद विरोध था बाद में उग्र सामतवाद विरोध भी पनपा।

इसी बीच पहला बड़ा राजनीतिक आन्दोलन हुआ। सन 1905 का वंग भंग विरोधी आन्दोलन शुरू हुआ जो सन 1911 तक चला। बीच में गरम और नरम दल सरत काग्रम (1907 ई०) में अलग हो गये। प्रमचन्द इस समय 25 वर्ष के नौजवान थे। उन्होंने साहिब मूजुन शुरू कर दिया था अध्यापक थे और अब उनका तबादला कानपुर हो गया था। मुंशी दयानारायण निगम (संपादक जमाना) से मित्रता मित्र हो ही गयी। देश में हो रही इन राजनीतिक हलचलों का प्रमचन्द पर भी प्रभाव पड़ा। उन्होंने जमाना में स्वदेशी के समर्थन में लेख लिखे। यहाँ यह मकत करना आवश्यक है कि अगस्त 1905 के दिन कलकत्ता के टाउन हाल में वायकाट और स्वदेशी का नारा खुलद किया गया। इसमें पहल ही प्रमचन्द ने जून 1905 के जमाना में लेख लिखा—देशी चीजा का प्रचार कैसे बढ़ सकता है। इसमें प्रमचन्द ने देश की वापारिक और औद्योगिक उन्नति के लिए माँगों की ओर मुखातिब होने की सलाह दी—और पढ़ लिखो की सहानुभूति और संरक्षण मात्र को उन्नति का पुख्ता उपाय नहीं माना। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि हमारी आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा देहाता में आबाद है जिसमें दिना किसी अतिरिजना के नियानवे फीसदी तो ऐसे हैं जो अलिफ बे का के नाम भी नहीं जानते और जिनको शहर में आन का बहुत कम इत्फाक होता है। लिहाजा शहरों में स्वदेशी दुफाना का खलना चाहे वह कस ही अच्छे उमूला पर क्यों न हो व्यापार को बहुत लाभ नहीं पहुँचा सकता। फिर उन्होंने विलायतियों को अपनी चीज बेचने के ढंग का परिचय दिया है कि कस उधार दन पर माल को खपत बढ़ती है। इसी तरह में देहातियों की आर्थिक विशेषतायें भी बताई हैं। देहाती आम तौर पर ईमानदार हाते हैं और सोदा ले लिया तो उसका अदा करन में गड़बड़ी नहीं करते। अगर खुदा न खास्ता उनका ईमान जरा भी ढगमगाया तो वह डरपोक ऐसे होते हैं कि दो चार धमकियाँ में सोध रास्ते पर आ जाते हैं।¹⁵ इसलिए उन्होंने व्यापारियों को देशी वस्तुओं के प्रचार के लिए देहात में जाने की अपील की। जब वाकायदा स्वदेशी आन्दोलन शुरू हो गया तो प्रमचन्द ने 16 नवम्बर 1905 के आवाजे खल्क में स्वदेशी आन्दोलन के समर्थन में लेख लिखा—दृष्टि वहीं देहात की ओर।

भारतीय बुद्धिजीवियों और राजनीतिक नेताओं ने जब यहाँ पर भी प्रजा तांत्रिक व्यवस्था और स्वाधीनता की माँग की तब साम्राज्यवादी शासकों ने इस

‘मिथक’ को जन्म दिया कि ‘आजादी का पौधा सिर्फ यूरोप की मरजमीन में ही फूल-फल सकता है।’ ‘तुर्की में वैज्ञानिक राज्य’ (‘जमाना’, अगस्त, 1908) लेख लिखकर प्रेमचन्द ने इस ‘मिथक’ को तोड़ा और प्रकारान्तर से एशिया और भारत में भी स्वाधीनता की माँग की। स्वाधीनता की चाह इस काल के बौद्धिक वातावरण में फैलने लगी थी।

‘जमाना’, अप्रैल 1904 में ‘आईने बेसरी’ की समीक्षा करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है कि ‘अक्सरनामा और दूसरी किताबों और ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शुरु की रिपोर्टों की देखने से मालूम होता है कि पहले जमीन का टैक्स पैदावार पर एक तिहाई से एक चौथाई तक था। अब अक्सर हिस्सों में पचास फीसदी है और कभी-कभी तो इससे भी कहीं ज्यादा। मिस्टर गोखले ने अपनी बजट स्पीच में एक नक्शा पेश किया था जिसमें उन्होंने प्रामाणिक आँकड़ा और निरन्तर कर देन वाली युक्तियाँ का आधार पर दिखाया है कि तमाम समय सप्ताह में कहीं कुल पैदावार पर आठ फीसदी से ज्यादा टैक्स नहीं। हिन्दुस्तान में पन्द्रह फीसदी से पचास फीसदी है। मोनवी साहब शायद दुआ करते हों कि बहुत जल्द बंगाल का इस्तमरारी बन्दोबस्त खत्म कर दिया जाय और हर सूबे में मद्रास का रयनदारी तरीका जारी हो जाय। सारा जमाना जानता है कि इस्तमरारी बन्दोबस्त रियाया के लिए अमून है और वह दिन शुभ होगा जबकि हिन्दोस्तान के दूसरे सूबों में भी उसका प्रचलन हो जायेगा।”¹⁶

इस बीच अंग्रेजों की लगान नीति की भी आलोचना शुरू हो गयी थी। अंग्रेजों ने यहाँ यह धारणा बना रखी थी कि जमीन की मालिक सरकार है। भारतीयों ने इसका विरोध किया। उन्होंने यह धारणा रखी कि जमीन की मानिक सरकार नहीं है, गवर्नमेंट जैसे प्रजा की और आमदनी पर एक निश्चित कर लेती है वैसे ही जमीन की आमदनी पर भी लेना चाहिए। जमीन पर किराया लेन का उन अधिकार नहीं है। हिन्दी के साहित्यकारों ने भी किसानों की समस्या का सामना रखा। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1907 में ‘संपत्तिशास्त्र’ नामक पुस्तक लिखी, जिसमें ‘मिद्धान्त और व्यवहार’—दोनों धरातलों पर किसानों की समस्याओं को केन्द्रीय महत्त्व दिया। किसानों की समस्या का कारण उन्होंने अतिरिक्त मालगुजारी को बताया। “यदि मालगुजारी ज्यादा नहीं तो फिर क्या कारण है जो हजारों लाखों कृषकों के वेल-बधिषे त्रिक जाते हैं और लाखों एकड़ जमीन नीलाम हो जाती है? आप देहात में जाकर देखिए, सौ पचास किसानों में कहीं एक-आध आपको ऐसा मिलेगा जिसे रोटी, कपड़े की तक्लीफ न हो। यह हम समय-सुकाल की बात कहते हैं। अकाल में तो जो दृश्य देहान में देख पड़ता है वह बहुत ही हृदयद्रावक होता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि लगान की अधिकता अकाल की भीषणता का कारण नहीं तो यह प्रश्न उठता है कि अंग्रेजी राज्य के पहले भी तो कभी-कभी अकाल पड़ता था। पर उस समय प्रजा में इतना ह्वाहाकार क्यों न मचता था? एक भी फसल मारी जाने या खराब होने से आजकल की तरह क्यों न उस समय लाखों आदमी दाने-दाने के लिए तड़पते फिरते थे? सरकार कहती है कि प्रजा की कगाली के कारणों में महाजनों को अधिक मूढ़ देना भी एक कारण है। पर वह यह नहीं सोचती कि यदि किसानों

को कृपि से काफी आमदनी हाती तो वे महाजनो से कज लेते क्यों ? और न कज लेत तो उन्हें अधिक सूँ क्या देना पड़ता ? यदि कृपका की दुदशा का कारण माल गुजारी की जियादती नहीं तो न सही उनकी दरिद्रता और दुख के जा कारण सरकार की समझ में ठीक जचते हा उहीको दूर करके उनको भूखों मरने स बचाव । 17 महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती में कृपि सबधी यत्रो विदेशी कृपि की हालत की यहाँ से तुलना दूसरे देशों की सती की तकनीक के परिचय सप्रधी बहुत सारे लेख छापे । उनके चिंतन की एक सीमा यह है कि व किसान और जमींदारों के परस्पर हित विरोध को पहचान नहीं पाये । दूसरे व जमींदारी व्यवस्था के भीतर जो औद्योगिक उन्नति के फायदे भी लेना चाहते थे । फिर भी कृपको की समस्याओं पर गंभीरता से विचार करना अपने आप में एक उपलब्धि है । कुछ छिटपुट कविताएँ भी उन पर लिखी जाने लग गयी थी । 18

‘हमखुर्मा व हमसबाव और अर्थ रचनाएँ’

प्रमचन का अगला उपन्यास छपा— हमखुर्मा व हमसबाव । 19 इस उपन्यास की मूल चेतना सुधारवादी है और परिवर्तन सम्म्य और कुलीन परिवार । यह उपन्यास प्रमचद का पहला राजनीतिक सामाजिक उपन्यास है इसका नायक एक समाज सुधारक है । बीसवीं शताब्दी में उठ रहे इस राजनीतिक व्यक्तित्व के प्रति प्रमचद की कलम न होश सभालते ही अपना आकषण दिखाया है । इस व्यक्ति की भीतरी-बाहरी कमजोरियों कमियों उसकी शक्ति परवशता को उन्होंने सहानुभूतिपूर्वक रेखांकित किया है । यह है श्री अमृतराय जो बकालत पास करके अच्छे खास अग्रज बन बैठ हैं । व अग्रजी शिक्षा ही नहीं अग्रजी तहजीब और तर्जें मुआमरत के दिलदादा भी थे । पट लिखकर बड़ होने का बाद उनका दिल में भी समाज सुधार की भावना आती है और वह जाश में आकर माना घोषणा करते हैं कि ए थककर बठी हुई कोम ! स तेरी हालत पर रोने वालों में एक और इजाफा हुआ । आया इससे तुझे कुछ फायदा होगा या नहीं इसका फसला वक्त करेगा । 20

उस युग में यह एक आम साहित्यिक रुढ़ि बन गयी थी जिसमें व्यक्तिगत जीवन में प्रेम शादी और आनन्द लाभ या देश प्रेम के लिए आत्मबलिदान में डूब दिखाया जाता था । जयशंकर प्रसाद की बहुत-सारी कहानियों में प्रेम और कतव्य के बीच इसी किस्म का तनाव है । इस तनाव को अमृतराय भी महसूस करते हैं । इसीलिए जब उन्होंने सामाजिक जीवन में प्रवेश किया तो निजी प्रेम (प्रमा नामक लड़की से) की बलि दे दी । अब कहने को तो उन्होंने प्रेम न करने की ठान ली पर दिल ही तो है । प्रमा नहीं कोई और सही—उसे कौन रोक सकता है और कितना रोक सकता है ? लिहाजा आगे चलकर व पूर्णा (विधवा ब्राह्मणी) से प्रेम कर बैठते हैं ।

जब अमृतराय ने समाज सुधार की ठानी तो सहायका की खोज में सबसे पहले शहर के रईसों से मिल जिनमें सबसे पहले मिस्टर हजारीनाथ बी. ए. एल बी दीनानाथ मिस्टर आर बी शर्मा एन बी अगरवाला व यहाँ गये । गरज कि सब जातियों के तरक्कीपसंद रईसों का यहाँ समाज सुधार का वायज

लेकर गये। सबने कार्यन्तम की खूब प्रशंसा की, अमृतराय की खूब पीठ ठोकी, जब तीन बजे सभा की पहली मीटिंग तय हुई तो कोई भी नहीं आया। इस प्रसंग से प्रेमचन्द ने दिखा दिया कि समाज-सुधार के लिए रईसों पर निर्भर रहना गलत है। ये उच्चवर्ग के लोग जवानी जमाखर्च से ही सुधार करते हैं, वास्तविक सुधार करने की सामर्थ्य इनमें नहीं है। विवेकानन्द की धारणा की यहाँ पुष्टि होती दिखाई देती है कि भारतीय उच्चवर्ग में अब नैतिक साहस नहीं बचा है। फिर भी अमृतराय ने हिम्मत नहीं हारी, और हफ्तेवार जल्से होने लगे, जिसमें दो-तीन से ज्यादा आदमी वभी नहीं आये। तब अमृतराय ने नये क्षेत्र की तलाश की। "जल्सों के अलावा उन्होंने देहातो में जा-ब-जा सलीस हिन्दी में तकरीर करना शुरू की और अखबारों में भी इसलाह तमह्म पर मजामीन खाना किये।" 21

इस बीच प्रेमा की सहेली पूर्णा विधवा हो जाती है। उससे सहानुभूति जताते-जताते अमृतराय प्रेम कर बैठते हैं और विवाह करने पर उतारू हो जाते हैं। इस अवसर पर शहर के पुराण-पथी उन पर टीका-टिप्पणी करते हैं, जिससे इस नये व्यक्तित्व के त्रिया कलापी का बोध होता है। श्री सम्मनलाल कहते हैं, "देखिए, इस अखबार में पाँच हफ्ते से बराबर उनके मजामीन शायी हो रहे हैं और उनके नयी रोशनी वाले छोकरे आसपास के देहातो में गुल मचाते फिरते हैं। ये मछली नहीं है कि देहकानी अमूमन बमफहम कूडमग्न होते हैं। क्या ताज्जुब है कि उनकी बातों पर अमल करने के लिए मुस्तेद हो जायें। बाबू अनृतराय में खाह किसी किस्म की लियाकत हो या न हो इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनकी वकालत अन्धाधुंध बढ़ रही है। मुबकिलों को तो वो शहर शीशे में उतार लेता है।" 22

और आखिरकार विधवा पूर्णा से अमृतराय की शादी हो जाती है। शहर के गोहदे-बदमाश, शरीफ-रईस, सब पुराणपथी इस शादी का विरोध करते हैं। यही पर अग्रजों की भूमिका पर भी प्रेमचन्द की दृष्टि गयी है और उनको सुधारकों का समर्थक बरार दिया है। शहर के पुराणपथियों के विरुद्ध मजिस्ट्रेट ने रोशन-खयाल अमृतराय का साथ दिया और शादी बरबादी। 23 निष्कर्ष यह कि पुलिस की देखरेख में शादी हो गयी।

अब अमृतराय पर मामाजिव दबाव डाला गया, जिसमें से घरेलू नौकर काम छोड़कर चले गये, वनियों ने सामान देना बंद कर दिया, मुखद्मे मिलने बंद हो गये। इन पठिनाइयों में भी जज ने उनकी मदद की। यही पर यह संकेत भी है कि बाबू अमृतराय मात्र वकील ही नहीं है, जमींदार भी हैं।

उपन्यास का अन्त होते-होते पूर्णा मर जाती है, दोनानाथ (जो कि प्रेमा का पति है) भी मर जाता है। अंत एक बार फिर विधवा प्रेमा और अमृतराय की शादी हो जाती है। इस उपन्यास में शहरी मध्यवर्ग की समस्या है, जिसकी पृष्ठभूमि में देहात को भी रखा गया है। देहात में किसान-जमींदार सम्बन्ध की जिज्ञासा अभी उठने नहीं आई है। अमृतराय का राजनीतिक बर्ग 'उपन्यास के अन्तर्गत म बमजोर हो जाता है और वह फिर निजी जीवन की ओर झुकता दिखाई देता है।

यही उप-यास जब हिन्दी में छपा तब उसके भाव और भाषा में काफी परिवर्तन कर दिया गया है। छिटपुट घटनाओं और विचारों के अलावा कुछ प्रसंगों का काफी बड़ा दिया गया है। इसमें अग्रज मजिस्ट्रेट की भूमिका का ज्यादा विस्तार से वर्णन किया गया है। उसके निमल स्वभाव प्रजा प्रेम की चर्चा है और अमृतराय से उनके दोस्ताना सम्बन्ध का जिक्र है। जब इनके पास मदद के लिए अमृतराय पहुँचते हैं तब वह न केवल आश्वसन देता है बल्कि साथ चलकर अनायालय के लिए चढ़ा वसूल करवाता है। उद्गम में अवेला अमृतराय ही चढ़ा ले जाता है। इसके अलावा कचहरी में अमृतराय की मदद करने वाला जज उद्गम में मुसलमान था हिन्दी में इस बंगाली सज्जन बना दिया था।

मृगधरवादी चेतना के होते हुए भी उप-यास में वास्तविक जीवन की घटनाओं और परिस्थितियों का यथेष्ट चित्रण है। इस उप-यास का सबसे बड़ा महत्व उमम आया हुआ राजनीतिक जीवन है राजनीतिक कार्यकर्ता हैं। इनकी गतिविधियाँ मइतनी गहरी रुचि प्रमच द की समामायिक चेतना व व्यापक बोध का पता देती हैं। इस उप-यास के बाद 1967 में लुठी रानी उप-यास छपा जिसमें ऐतिहासिक आधार पर सामंती शीय का गुणगान है।

प्रमच द का जमाना ज्ञान का भूखा था। लोग हर बात का जान लेना चाहते थे और पत्रकार भी जितना मुमकिन हा व सारी ज्ञानवद्धक बात पाठकों को बता देना चाहते थे। मरस्वती के अका में विज्ञान धर्म कृषि इतिहास संस्कृति और साहित्य विषयक लेखों की भरमार है। उद्गम पत्रा में जमाना की भी यही स्थिति है। एक लेखक कितने विविध विषयों का जानकार हो सकता है—प्रमच द इसके उदाहरण है। निम्न को लिख पत्रा में पत्र पत्रिकाओं किताबों के लेन देने के बारे में बहुत ज्यादा समाचार हैं। उद्गम जमाना में चित्रकला पर भारतीय इतिहास पर संस्कृत कविता पर उद्गम हिन्दी पायरी पर नये पुराने जमाने पर अनेक गवपणात्मक लेख लिखे जिसमें मुख्य प्रवृत्ति है—ज्ञान की पिपासा। सारी बात मोलिव ही हा जरूरी नहा बल्कि कई बार यह दखन में आता है कि कोई अग्रजी पुस्तक पढ़ी विचार अच्छे लगे और तजुमा करके छपवा दिया। साहित्यकारों का व्यापक सामाजिक दायित्व का यह बोध उस युग की आम विशयता है। ज्ञान अपने आपमें महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि ज्ञान का प्रकाश जनता में फैलाना ही महत्वपूर्ण है।

प्रमच द के सामने ज्यो ही कोई सामायिक समस्या आती है ता कसौटी के रूप में देहात भोजूद है। मई जून 1909 के जमाना में उद्गम सयुक्त प्रांत में आरम्भिक शिक्षा शीपक लेखक लिखा। अमेरिका में शिक्षा का हाल बताकर लिखा है कि अब एक तरफ तो हम देहाती मदरस को देखिए और दूसरी तरफ एक हिन्दुस्तानी देहाती मदरसे का खयाल कीजिए। एक पेड़ के नीचे, जिसके इधर उधर कूड़ा करकट पड़ा हुआ है और जहाँ शायद वर्षों से झाड़ू नहीं दी गयी एक फटे पुराने टाट पर बीस-पच्चीस लडके बैठ ऊप रह हैं। सामने एक टूटी हुई कुर्सी और पुरानी मेज है। उस पर जनाव मास्टर साहब बैठ हुए हैं। लडके झूमझूम कर पहाड़ रट रह हैं। शायद किसी के बदन पर साबित कुर्ता न होगा। घोड़ी जाय के ऊपर तक

बधी हुई, टोपी मैली-बुचैली, शकले भूखी, चेहरे वुझे हुए। यह आर्यावर्त का मरदया है जहाँ किसी जमाने में तक्षशिला और नालंदा विद्यापीठ थे। कितना पक्क है! हम सहजोब की दौड़ में दूसरी कौमो से कितना पीछे हैं कि शायद वहाँ तक पहुँचने का होसला भी नहीं कर सकते।”²¹

जब कोई जाति पतित हो जाती है, तब उसके उद्धार के लिए उस जाति में आत्मविश्वास पैदा करने के लिए अतीत का सहारा लिया जाता है। गौरवान्वित अतीत पतित वर्तमान को साहबना ही नहीं देता, सुखद भविष्य का स्वप्न भी देता है। तात्कालीन भारतीय बुद्धिजीवियों में समकालीन अधःपतन का कारण प्रक्रिया की खोज की वैचेनी मुख्य थी। इस अधःपतन को दूर करने के लिए आर्यसमाज ने नारा दिया—वर्द्धों की ओर चलो। वर्तमान अधःपतन की कारण है वैदिक आदर्शों का भ्रष्ट हो जाना या उनको भुला देना। अतः उन्नति का उपाय है वैदिक जीवन। इस लोकप्रिय नारे को व्यापक समर्थन मिला, लेकिन इससे सामाजिक जीवन में साम्प्रदायिकता बढ़ी। जब वैदिक जीवन ही आदर्श है तो मुस्लिम जनता का क्या होगा? निष्कर्ष निकला कि जब से मुसलमान इस देश में आये हैं तभी से हिन्दू जाति पतित होनी चली गयी। प्राच्य विद्याविद अग्रोजो ने इस धारणा की पुष्टि की। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में आर्यसमाज का बोलगाला हुआ और समाज सुधार के नारे बुलन्द हुए। प्रेमचन्द जोगीने युवक थे, चट आर्य समाज के समर्थक बन गये। 1910 में तो वे निश्चित रूप से इसके मेम्बर भी थे। इस आन्दोलन की प्रेरणा से ही उन्होंने अपनी दूसरी शादी बाल-विधवा शिवरानी देवी से की। यह शादी फागुन में सन् 1909 में हुई, परिवार और सम्बन्धियों ने शादी का बहिष्कार किया।

ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द ने आर्यसमाज से समाज सुधार की भावना ही ग्रहण की। उनके मुस्लिम विरोधी भावों के उवाच को मानवतावादी प्रेमचन्द अपना नहीं सके। यूँ भी आर्यसमाज से कई मामलों में उनका मतभेद भी था। 23 अप्रैल, 1923 को मुंशी दयानारायण निगम को खत में लिखा है कि “मलकाना शुद्धि पर एक मुद्दसस मजमून लिख रहा हूँ। मुझे इस तहरीक से सख्त इन्तिलाफ है। तीन-चार दिन में भेज सकूँगा। आर्यसमाज वाले भिन्नार्थों से लेकर मुझे उम्मीद है आप ‘जमाना’ में इस मजमून को जगह देंगे।” लेकिन यह कशमकश कुछ ब्राद की है। आरम्भ के कुछ वर्षों में इसका इतना गहरा असर नहीं है। सम्भव है कि इस आर्यसमाज के दबाव से ही प्रेमचन्द ने हिन्दी में लिखना शुरू किया है। वैसे तो हिन्दी लिखना-पढ़ना उनको 1904 से ही आ गया था, पर माहिश्य मेवा उन्होंने उर्दू से ही शुरू की। 1913 के लगभग से उन्होंने हिन्दी में भी लिखना शुरू किया, कारण चाहे जो हो, 1 सितम्बर 1915 के निगम को लिखे खत में उन्होंने बड़े दर्द-भरे सहजे में लिखा कि “अब हिन्दी लिखने की मशक भी कर रहा हूँ। उर्दू में अब गुजर नहीं है। यह मानूँ होता है कि बालमुकुन्द गुप्त मरहूम की तरह मैं भी हिन्दी लिखने में ज़िदगी सफ़र कर दूँगा। उर्दू नवीसी में किसी हिन्दू को फँज हुआ जो मुझे हो जायेगा।”²² जो भी हो, आर्यसमाज का प्रभाव प्रेमचन्द के रचनाकार मानस पर पड़ा

है। उसका प्रभाव साहित्य में ऐतिहासिक कहानियाँ हैं जिनमें मुस्लिम शासकों के विरुद्ध हिंदू सामंतों की वीरता का चित्रण है।

देश की राजनीति में कांग्रेस के नरम गरम दल के अतिरिक्त नातिकारियों का सघन भी चल रहा था जिनकी मांग पूर्ण स्वराज्य की थी। इन सघनों में भी धार्मिक आस्था काम कर रही थी। कई राजनीतिक हत्याएँ इन लोगों ने की थी जिनके बदले इन लोगों को फाँसी की सजा दे दी गयी थी। सन 1907 में लंदन की एक सभा में श्री मदनलाल धींगरा ने सर कजन वाइली को गोली मारी थी। इसके अपराध में श्री धींगरा को और अभियुक्त को बचाने की कोशिश करने वाले डा० लाल काका नामक पारसी वकील को भी फाँसी की सजा दे दी गयी। सन 1908 में कलकत्ता में अलीपुर पड़यन केस में कई लोगों को फाँसी दे दी गयी। इस केस की व्यापक चर्चा हुई। इस मुकदमे से सम्बंधित कई और राजनीतिक हत्याएँ भी हुई। कलकत्ता का पुलिस मजिस्ट्रेट जब तबदील होकर मुजफ्फरपुर आया तब 30 अप्रैल 1908 को 17 वर्षीय प्रफुल्ल चाकी और 15 वर्षीय बालक खुदीराम बोस ने उस पर बम फेंका जिससे मिस और मिसेज केनेडी नामक दो अग्रज औरतें मारी गयीं। चाकी ने तो वही अपने आपको गोली मार ली और खुदीराम को 11 अगस्त, 1908 को फाँसी दे दी गयी। देश में हुई इन घटनाओं का व्यापक प्रभाव पड़ा। इसी तरह सन 1912 को दिल्ली में एक बम फेंका गया जिसमें अपराधी का पता न लगने पर भी सदेह के कारण कुछ लोगों को फाँसी दे दी गई। अपराधी को पकड़वाने के लिए इनाम की घोषणा भी की गयी उसे द्विवेदी जी ने टिप्पणी सहित 'सरस्वती' में भी छपा था।

इस बीच प्रमचंद चुनार बनारस प्रतापगढ़ इलाहाबाद होते हुए सन 1905 में कानपुर पहुँचे। वहाँ साहित्य सप्ताह के केन्द्र में आये। फिर वहाँ से 10 जून 1909 को कानपुर छोड़कर हमीरपुर पहुँचे। पद मुदरिस की जगह सब डिप्टी इंसपेक्टर का मिला। यहाँ उनको घूम घूमकर स्कूलों की जाँच करनी थी। फलतः घूम घूम कर भारतीय जनता और विशेषतः किसानों को नज़दीक से प्रौढ़ पारखी आँखों से देखने का मौका मिला। विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न अवसरों पर विभिन्न स्थानों के किसानों को विभिन्न कोणों से देखा और उनके कई गुण हमेशा के लिए उनके दिमाग पर छा गये।

‘सोज वतन और उसके बाद

इस बीच उन्होंने कहानियाँ लिखनी भी शुरू की और पहली कहानी लिखी जमाना 1907 में दुनिया का सबसे अनमोल रत्न। 1909 को उनका पहला कहानी संग्रह छपा सोजे वतन — जिसमें इस कहानी के अलावा चार और कहानियाँ थीं— शेख मखमूर यही मेरा वतन है शोक का पुरस्कार साप्ताहिक प्रेम और देश प्रेम। इसे बाद में सरकार ने जफ्त कर लिया। अब तक प्रमचंद नवाबराय क नाम से लिखा करते थे वास्तविक नाम धनपतराय श्रीवास्तव था। इसी समय प्रमचंद ने जमाना में गैरीबाल्डो का भी जीवन परिचय लिखा। ये कहानियाँ देश प्रेम के भावुक

आधार पर खड़ी है। इन कहानियों में एक खास तरह का आह्वान है, भावात्मक आक्रोश है जो तर्क-बुद्धि पर आधारित नहीं है। उनकी पहली ही कहानी के अन्त में लिखा हुआ है कि 'खून का वह आखिरी कतरा जो बतन को हिफाजत में गिरे दुनिया की सबसे अनमोल चीज है।' इस सग्रह को सरकार ने जब्त कर लिया। कलेक्टर ने प्रेमचन्द को बुलाकर प्रत्येक कहानी का अर्थ पूछा और फिर बोले, 'तुम्हारी कहानियों में सिडोशन' भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अंग्रेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज्य होता तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिए जाते। तुम्हारी कहानियाँ एकांगी हैं, तुमने अंग्रेजी सरकार की तोहीन की है आदि।'²⁶ और भविष्य में बिना कलेक्टर को दिखाये कुछ भी न लिखने की आज्ञा दे दी।

प्रेमचन्द की जीवनी लिखते हुए श्री अमृतराय ने इस घटना पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'जाहिर है कि उस किस्से की कोई गहरी छाया उनके मन पर न थी। एक झोका या जो आया और निकल गया और उसके साथ ही कुछ खेल का-सा मजा, कुछ यह बात कि जो मैं खेल रहा हूँ उसमें यह सब तो होना ही है।' ²⁷

यह सही है कि प्रेमचन्द ने इस घटना को बहुत बहादुरी से लिया और हस-कर टालते रहे। लेकिन इस घटना का उनके रचनाकार मानस पर अमिट प्रभाव पड़ा है, जिसकी हल्की सी झलक निगम को लिखे खतों में भी मिलती है। जब प्रेमचन्द को प्रेमचन्द नाम दिया गया (जो कि निगम ने ही सुझाया था) तो उन्होंने लिखा, 'प्रेमचन्द अच्छा नाम है। मुझे भी पसंद है। अफसोस सिर्फ यह है कि पाँच-छ साल में 'नवाबराय' को किरोग देने में जो मेहनत की गयी, वह सब अकारण हो गयी। यह हजरत किस्मत के हमेशा लड्डू रहे और शायद रहेंगे।' ²⁸

"मेरे लिए कलेक्टर को हर एक मजमून दिखाने की ऐसी पख लगी है कि एक मजमून महीनो में लौटकर आता है। 'एजुकेशनल गजट में प्रेमचन्द का नाम देना नहीं चाहता। मालूम नहीं यह हजरत हाथ-पैर सभालने पर क्या लिख बैठें। इन्हे किस्सागो ही रहने दीजिए। बैठे बैठे प्रेम और वीर रस के किस्से लिखा करें।'" ²⁹

प्रेमचन्द के उन्मुक्त रचनाकार को इस घटना से धक्का लगा। 'सोजे-वतन' की कहानियों में कहानी के घटना प्रसंग पर लेखकीय व्यक्तित्व तैरता-सा लगता है। ऐसा लगता है कि लेखक अपने विचारों के प्रचार पर उतारू है, उसे कोई रोक नहीं सकता। नया नया साहित्य सृजन, युवा आकाशार्थ, राजनीति में उग्रवादियों की ओर स्वाभाविक झुकाव इस भावुक आतिशारी राष्ट्र प्रेम के साहित्य के प्रेरक बन थे। प्रेमचन्द न लिखने की इस शैली पर पुनर्विचार किया। उन्होंने एक ऐसी शैली विकसित करने का प्रयास किया जिसमें सीधे-सीधे देश-प्रेम का नारा न भी बुलन्द किया जाय, फिर भी कहानी या उपन्यास में पाठकों में देशोद्धार की भावनाएँ जागे। विचारों को गोपनीय रीति से अभिव्यक्त किया जाय, जिससे पढ़ने वाला समझ तो जाय, पर लिखने वाला पकड़ में न आए—कम से कम कलेक्टर के सामने फिर न जाना पड़े। इस शैली के परिवर्तन के साथ साथ कहानी के विषयों में भी परिवर्तन हुए। भावुक देश-प्रेम की कहानियों की जगह सामाजिक सुधार की कहानियाँ लिखी जायें। प्रेमचन्द के नाम से जो पहली कहानी छपी, वह 'बड़े घर की बेटी' है। अब

उनकी चेनना मे आर्यसमाज गहराने लगा। दूसरे, इस घटना से बोध हुआ कि कहानी से विशाल ब्रिटिश साम्राज्य को भी खतरा हो सकता है। अतः साहित्य भी असीम शक्ति रखता है। साहित्य देश सेवा का साधन है, यह धारणा उनके मन में पक्की हाती गयी।

इस सग्रह के जस्त होन के बाद प्रेमचन्द के साहित्य ने दो दिशाये ग्रहण की, जिनमे एक तो ऐतिहासिक कहानियो की ओर हिन्दू राष्ट्रवाद की ओर, धर्म-सुधार की ओर दृष्टि गयी। दूसरी तरफ सामाजिक जीवन, समकालीन परिवेश, सामाजिक राजनीतिक आन्दोलन की ओर दृष्टि गयी। इन दोनों प्रवृत्तियों का साथ-साथ विकास देखने में आता है।

पहले प्रकार की कहानियो में रानी सारधा, पाप का अग्निकुंड, विजयामृत्यु का तेंगा, राजा हरदोल, आल्हा, मर्यादा की चेदी आदि मुख्य हैं। इन कहानियो में पुराने राजपूत कालीन इतिहास का पुनः प्रस्तुत किया गया है। इनमें मुसलमानों की बर्बरता और राजपूतों के शौर्य का चित्रण है। 'तुम क्षत्रिय हा?' यह सवाल जैसे किसी भी राजपूत को पतित होन से बचा सकता है। इन कहानियो में आन इज्जत, मर्यादा, शौर्य और वलिदान आदि गुणों की प्रशंसा है। इसी काल में बकिमचन्द्र चटर्जी का भी प्रभाव पड़ा और वह हिन्दू राष्ट्रवाद के समर्थक बन बैठे। मुशी दयानारायण निगम को अनुमानतः 1911-12 में लिखा था कि "भगर अखबार का नमूना कामरेड ही हो। पालिसी हिन्दू। अब मेरा हिन्दुस्तानी कौम पर एतकाद नही रहा और उसकी कोशिश फिजूल है।" 28

अंग्रेजों के भारत में आने से भारत की राजनीति में ही परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि उसके सामाजिक जीवन में भी बुनियादी परिवर्तन हुए। राजनीतिक और सामाजिक जीवन में एक अलगाव भारत में अंग्रेजों के राज्य के ही कारण हुआ। भारत के राज्य और राजनीतिक असलो पर साम्राज्यवाद का और समाज और सामाजिक जीवन पर सामतवाद का प्रभुत्व बना। ये दो मोर्चे एक साथ खुले। हिन्दुस्तान के बुद्धिजीवियों में से अधिकांश ने साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा तो जल्दों ही अख्तियार कर लिया पर सामतवाद विरोधी मूल्य इतनी आसानी से न अपना सक। राजनीतिक और सामाजिक जीवन के इस अलगाव से सामाजिक ढाँच में भी परिवर्तन हुए। फलतः संयुक्त परिवार टूटा। संयुक्त परिवार के टूटने के पीछे नये और पुराने भारत का समय सन्निहित है। यह संघर्ष भिन्न-भिन्न रूपों में राजनीति और साहित्य में दिखाई पड़ता है। गाँव और शहर का संघर्ष भी इस पुराने और नये भारत के संघर्ष का ही एक रूप है। जब समकालीन जीवन में पतनशीलता दिखाई देती है तो सुदूर अतीत का मोहक रूप अपनी ओर खींचता ही है। अप्रैल 1906 की 'सरस्वती' में महावीर प्रसाद द्विवेदी की कविता 'शहर और गाँव' इस भावबोध का उत्कृष्ट उदाहरण है। आर्यसमाज के प्रभाव में प्रेमचन्द में भी यह भावबोध मिलता है। इसलिए 'बड़े घर की बटी' में उन गुणों को रेखांकित किया गया है जिनसे संयुक्त परिवार बना रह सके। पंचपरमेश्वर (1916 ई०) में पुरानी पचायतो को जो गौरवान्वित किया गया है, उसके पीछे भी यही दृष्टि है।

वरदान

आर्यममाज के प्रभाव का नमूना उनके 'जलवए ईसार' (1912 ई०) नामक उपन्यास में मिल जाना है। हिन्दी में यह 'वरदान' के नाम से छपा। यह उपन्यास सामाजिक राजनीतिक उपन्यास नहीं है बल्कि धार्मिक-सामाजिक उपन्यास है। उपन्यास की शुरुआत एक प्रौढ़ महिला द्वारा अष्टभुजादेवी से एक ऐसे पुत्र का वरदान माँगने में होती है, 'जो देश का उपकार करे'। प्रतापचन्द्र नामक व्यक्ति इस वरदान का फल है, जो इस उपन्यास का नायक भी है। उपन्यास के अन्त में यह व्यक्ति 'स्वामी बालाजी' के नाम से मशहूर होता है और गाँव गाँव घूमकर प्रजा की महायत्ना करता फिरता है। इसमें बालाजी की देशसत्ता एक राजनीतिक कर्म के रूप में न होकर धार्मिक कर्म के रूप में ही दिखाई गयी है। इस उपन्यास का मुख्य उपदेश यही है कि व्यक्तिगत जीवन के आराम को छोड़कर राष्ट्र की (मान हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू जाति) की सेवा करो।

इस उपन्यास के पात्र भी शहरी सभ्य मध्यवर्ग के ही हैं, जिनका एक इलाका है। विरजन, जिससे प्रताप प्रेम करता था लेकिन जिसकी शादी कमलाचरण से हो जाती है, एक बार गाँव जाती है। वह कमलाचरण को जो पत्र लिखती है उसमें देहात का वर्णन भी करती है। "टूटे-फूटे फूस के झोपड़े, मिट्टी की दीवारें, घरों के सामने कूड़े-करकट के बड़े-बड़े ढेर, कीचड़ में लिपटी हुई भैंस, दुबल गायें, ये सब दृश्य देखकर जी चाहता है कि कहीं चली जाऊँ। मनुष्यों को दखो तो उनकी शोचनीय दशा है। हड्डियाँ निकली हुई हैं। वे विपत्ति की मूर्तियाँ और दरिद्रता के जीवित चित्र हैं। किसी के शरीर पर एक वेफटा वस्त्र नहीं है और कैसे भाग्यहीन कि रात-दिन पसीना बहाने पर भी कभी भरपेट रोटियाँ नहीं मिलती।" 24

इस उपन्यास में चित्रित ग्रामीण जीवन के पीछे एक दर्शक का मस्तिष्क उभरता है, मूल स्वदेशी दर्शक की सहानुभूति की है, भोक्ता के दर्द की नहीं। ऐसा लगता है कि शहरी व्यक्ति जब पहली बार गाँव में जाता है तो उसकी नजर उन अद्भुत अपूर्व दृश्यों पर ही टिकती है, जो शहर में नहीं होते। इसलिए इसने भूतों की कल्पित-प्रचलित कहानियाँ, घोबियों के नाच, होली के हुडदग और गाली-गलौज का वर्णन है। इस उपन्यास में गाँव के आर्थिक पक्ष की चर्चा कम है, उसके सांस्कृतिक-धार्मिक पहलू पर ही ज्यादा विचार हुआ है। किसान और जमींदार के परस्पर हित-विरोध का भी संकेत नहीं है। उपन्यास में चित्रित गाँव को पढ़न से लगता है कि अधविश्वासों को दूर करना ही इस समय गाँव की भलाई के लिए प्रमुख काम है।

किसान और बुद्धिजीवी

प्रेमचन्द के इस ओर झुकाव होने का एक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य भी है। कांग्रेस के विभाजन (1907) के बाद उसका प्रभाव और कार्यक्षेत्र धीरे-धीरे घटा है। वह अभी तक शिक्षित उच्च-मध्य वर्ग की ही सत्ता थी। स्वयं जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि "1912 की बड़े दिनों की छुट्टियों में मैं डेलीगेट की हैसियत से

बाँकीपुर की कांग्रेस में शामिल हुआ। बहुत ही तक वह अंग्रेजी जानने वाले उच्च श्रेणी के लोगो का उत्सव था, जहाँ सुबह पहनने के कोट और सुन्दर इस्त्री किए हुए पतलून बहुत दिखाई देते थे। वस्तुतः वह एक सामाजिक उत्सव था, जिसमें किसी प्रकार की राजनैतिक गरमा-गरमी न थी।"३०

श्री पट्टाभिसीतारामय्या ने भी लिखा है कि "पुराने जमाने में कांग्रेसी लोगो को अपनी राजभक्ति की परेड दिखाने का शौक था। 1914 में जब लाई पेण्ट लीड (गवर्नर) मद्रास में आये तब सब लोग उठ खड़े हुए और तालियों द्वारा उनका स्वागत किया। यह तक कि श्री ए० पी० पेट्रो, जो कि उस समय एक प्रस्ताव पर बोल रहे थे, एकाएक रुक दिये गये और उनकी जगह सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को राजभक्ति का प्रस्ताव उपस्थित करने के लिए कहा गया जिसे कि उन्होंने समूह भाषा में पेश किया।"

"ऐसी ही घटना लखनऊ कांग्रेस (1916) के समय भी हुई थी, जबकि सर जेम्स मेस्सन कांग्रेस में आये थे और उपस्थित लोगो ने खड़े होकर उनका स्वागत किया था।"३१

प्रथम विश्वयुद्ध 1914 ई० में शुरू हुआ, जिसमें भारतीय फौजें भी गयीं। किसान कांग्रेस के करीब आने लगे। 1915 ई० में कांग्रेस ने चम्पारन जिले में किसानों की बठिनाइयों की जाँच करने के लिए कमिशन बँटाने की माँग का प्रस्ताव किया। अगले वर्ष इस माँग को जोरदार शब्दों में रखा गया, जिसके कारण ही किसानों के असन्तोष का पता लगाने के लिए गांधी जी बिहार गये। सन् 1917 में कांग्रेस के अब तक के कार्यक्रमों की समीक्षा करते हुए बंगाल प्रोविशियल कांग्रेस के अध्यक्षीय पद से भाषण करते हुए देशबन्धु चित्तरजनदास ने कहा कि

'हम शिक्षित लोग अपनी आत्मा की गहराइयों में अग्रजियत के शिकार हो गये हैं। हमारे ओढ़ी हुई अग्रजियत हमारे असंस्कृत देहाती भाइयों को हमसे घृणा करना सिखाती है। बदले में हम भी उन्हें अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं। क्या हम उन्हें अपनी सभाओं और सम्मेलनों में आमंत्रित करते हैं? शायद ऐसा हम नहीं करते हैं जब हम किसी दरखास्त पर उनके हस्ताक्षरों की जरूरत होती है। लेकिन क्या हम अपने किसी भी काम में उनके साथ हार्दिक सहयोग का रूप अपनाते हैं? क्या हम सचमुच उनके साथ ईमानदारीपूर्ण और सहयोगपूर्ण रवैया अपनाते हैं? क्या एक भी किसान हमारी समितियों और सम्मेलनों का सदस्य है? क्या हमारे किसी भी निर्णय में उनकी इच्छाएँ और उनकी आवाज शामिल होती है? क्या हम कभी इन क्षीण में क्षीणतर होती जा रही वीरान बस्तियों और उजाड़ गाँवों के बारे में सोचने का भी कष्ट करते हैं? क्या हम एक जून आध पेट खाकर जिन्दगी को घसीटने वाले भूखे और मलेरिया पीड़ित उन अस्थिपिण्डों की चिन्ता करते हैं, जो व्याधियों के गुनसान जंगल के भ्रुतही परिवेश में दम तोड़ देते हैं जिनके घर देखने पर विस्मृत, धुँधली आदिम गुफाओं का भ्रम होता है और जिनकी जिन्दगी निरन्तर लम्बी होती जजीरो में लिपट घिसट रही है? हमारा राजनीतिक आन्दोलन एक

गतिहीन, प्राणहीन शक्ति है—वास्तविकताओं से कौसो दूर...अतः हमारे राजनीतिक आन्दोलन का आधार ही गायब है, वह जनसामान्य की मुख्याधारा से कटा हुआ है।”³²

गांधीजी ने 1917 में चम्पारन में नीलहे गोरे जमींदारों के खिलाफ किसानों के आन्दोलन को संगठित किया, और 1918 में खेड़ा में लगानबंदी का आन्दोलन चलाया। इन दोनों आन्दोलनों में मुख्य बात यह है कि इनमें देशी जमींदारों और रजवाड़ों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा गया। ये दोनों ब्रिटिश साम्राज्य विरोधी आन्दोलन किसानों और राष्ट्रीय नेताओं के मिलनबिन्दु हैं। इनके आने से राष्ट्रीय नेताओं में राष्ट्रीय समस्या को नवीन परिप्रेक्ष्य में देखने की दृष्टि मिली। जवाहरलाल नेहरू ने किसानों की इस प्रभावशाली भूमिका को इस तरह रेखांकित किया है, “नई शक्तियों ने सिर उठाया और उन्होंने हमें गाँवों की जनता की तरफ ढकेला और पहली बार हमारे नीजवान पढ़े-लिखे के सामने एक नये और दूसरे ही हिन्दुस्तान की तस्वीर आई, जिसकी मौजूदगी को वे करीब-करीब भुला चुके थे या जिससे वे ज्यादा अहमियत नहीं देते थे। वह एक परेशान कर देने वाला नज़ारा था, न मजह इस खयाल से कि हमें हृद दर्जों की गरीबी और उसके मसलों का बहुत बड़े पैमाने पर सामना करना था, बल्कि इसलिए भी कि उसने हमारे मूल्यांकन को और उन नतीजों को, जिन पर हम अब तक पहुँचे थे, बिल्कुल पलट दिया था।”³³

चम्पारन आन्दोलन के बाद ही मालवीय जी और कुछ अन्य व्यक्तियों ने मिलकर इलाहाबाद में संयुक्त प्रांत की किसान सभा का संगठन किया। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य था—किसानों और जमींदारों में निरंतर बढ़ती हुई वैमनस्य भावना को कम करना, उनमें सद्भावपूर्ण सम्बन्ध बनाना, किसानों को उनके राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों के प्रति जागरूक करना, उनको गैरकानूनी सघर्षों से रोकना और सर्वेधानिक सघर्ष के लिए प्रेरित करना। इस संगठन की शाखाएँ अनेक गाँवों और तहसीलों में खोली गयीं और दूसरे प्रांतों में भी इसकी शाखा खोलने का प्रयास करके उसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जोड़ने का प्रयास किया गया। इसी कारण 1918 और 1919 की कांग्रेस में बहुत सारे किसान सम्मिलित हुए। 1919 के कांग्रेस अधिवेशन में इस किसान सभा ने एक आतिशारी प्रस्ताव पास किया और सरकार से कहा गया कि सारे भारत में किसान ही जमीन का असली मालिक हैं। कांग्रेस ने इस सदस्य में और कुछ न करके भारत में लगान व्यवस्था के विभिन्न तरीकों की जाँच करने और किसानों की हालतों का पता लगाने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को कहा।³⁴

1918 के कांग्रेस अधिवेशन में किसान नेता पीरू सिंह ने कहा कि यह कहा जा रहा है कि सिर्फ शिथिल जनता ही इकट्ठी होकर स्वराज्य की मांग करती है। ऐसा नहीं है। हम भी इसकी मांग करते हैं। “But you will never get swaraj till you carry the cultivators with you.”³⁵

वास्तव में भारत की राष्ट्रीय राजनीति में किसानों का प्रवेश गांधीजी के

साथ हुआ और राजनीतिक गतिरोध को दूर करके उन्होंने सघर्ष की नवीन मजिल तय की। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही लिखा है कि “गांधीजी ताजी हवा के उस प्रबल प्रवाह की तरह थे, जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना और गहरी सास लेना संभव बनाया। वह रोशनी की उस किरण की तरह थे, जो अंधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आँखों के सामने से परदे को हटा दिया। वह उस बवडर की तरह थे, जिसने बहुत सी चीजों को, खासतौर से मजदूरों के दिमाग को उलट पलट दिया।”³⁶ और इन सारी घटनाओं के साथ 1917 की रूसी क्रांति हुई, जिसने दुनिया-भर के बुद्धिजीवियों और राजनीतिक नेताओं को झकझोर दिया। आम जनता की संगठित शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण रूसी क्रांति था। साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों के सामने नयी दुनिया का स्वरूप स्पष्ट होने लगा। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने अपनी नीतियों में बोल्शेविक खनरे को महसूस किया। भारतीय बुद्धिजीवियों ने राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर उत्साहपूर्वक रूसी क्रांति का स्वागत किया और अपनी-अपनी दृष्टि से इस क्रांति की व्याख्या होन लगी। लेकिन सब व्याख्याओं में इस एक बात पर जोर था कि शोषण को खत्म करने के लिए जनशक्ति का उपयोग जरूरी है। 21 दिसम्बर, 1919 को प्रेमचंद न निगम को लिखा कि ‘मैं अब करीब बोल्शेविक उसूलों का कायल हो गया हूँ’³⁷

राजनीतिक प्रगति के समानान्तर साहित्यिक प्रगति की दिशा भी जनतात्रिक होती जा रही थी। मैथिलीशरण गुप्त ने ‘भारत-भारती’ में हिन्दुस्तान में कृषि और किसानों की हालत पर विस्तार से लिखा। फिर उन्होंने ‘किसान’ नामक काव्य लिखा। सियारामशरण गुप्त का ‘अनाथ’ और गया प्रसाद शुक्ल ‘सनेही’ का कृपक-त्रन्दन’ (सन् 1916) भी इसी समय निकला। इन कवियों की कविताओं में भी ‘उद्धार’ भावना की ही प्रमुखता है। देश का उद्धार, समाज का उद्धार, भारत का उद्धार, व्यापार का उद्धार वश्या का उद्धार के जब नारे लगने लगे तब भावुक हृदय कवियों की दृष्टि किसानों की ओर भी गयी और उसके उद्धार का भी नारा लगा। इन कविताओं में किसानों की वास्तविक पीड़ाओं का चित्रण है, उनके आर्थिक-सामाजिक शोषण का जिक्र है, पर सर्वत्र दया भाव से। इसीलिए सनेही की पुस्तक का समर्पण है—

हे भारत के जमींदारगण ! हे श्रीमानों !
 दया धर्म घर हृदय धर्म अपना पहचानो ।
 वे-सुध ऐसे रूढ़ो न अब यो लम्बी तानो ।
 निज कृपकों को निज उन्नति की जड़, बस जानो ।
 एक कृपक ने किया अश्रुजल से तर्पण है
 इसीलिए यह भेंट आप ही को अर्पण है ।

प्रेमचंद के रचनाकार मानस का यह सत्रमण काल है। यह समय उनकी जीवन दृष्टि और रचना शैली के निर्माण की दृष्टि से ही सत्रमण कालीन नहीं है, बल्कि उनके विषय क्षेत्र की दृष्टि से भी सत्रमण काल है। बाहरी रचनाकारों के

प्रभाव को आत्मसात करके नवीन रचनादृष्टि का निर्माण करता इस दौर के रचनाकार प्रेमचंद का मुख्य सधर्म रहा है। 4 मार्च, 1914 को एक पत्र में इस सधर्म को स्वयं उन्होंने रेखांकित किया है। "मुझे अभी तक यह इत्मीनान नहीं हुआ कि वीन सा तर्जें तहरीर अद्वितीय करूँ। कभी तो वकिम की तबल बरता हूँ। कभी आजाद के पीछे चलता हूँ। आजकल काउण्ट टालस्टाय के किस्से पढ़ चुका हूँ। तब से कुछ उसी रंग की तबोयत माइल है। यह अपनी कमजोरी है और क्या।"³⁸ प्रेमचंद के विषय क्षेत्र के निर्माण की दृष्टि से भी यह तथ्य कम महत्वपूर्ण नहीं है कि उन पर टालस्टाय का सीधा असर पड़ा है।

वास्तव में 1918 तक के प्रेमचंद के साहित्य में एक बड़ा भारी अलगाव है, उनकी रचनादृष्टि और जीवनदृष्टि में, यथार्थ और जीवन मूल्य में। इस अलगाव के बीज उनकी आरम्भिक रचनाओं में भी मिलते हैं, लेकिन दूसरे रूप में। प्रेमचंद की रचनादृष्टि में यथार्थबोध की प्रमुखता है लेकिन जीवनदृष्टि समाज-सुधार की ओर लगी है। सत्य और आकांक्षा में विरोध है। इसलिए इस दौर की कहानियाँ एक सशक्त यथार्थवादी आधार पर खड़ी होती हैं, लेकिन समाज-सुधार की आकांक्षा ही उनको भाववादी बना देती है। उनकी रचनादृष्टि यथार्थवादी और जीवनदृष्टि सुधारवादी है। 'नमक का दारोगा' (1914 से पूर्व) इस तरह की सर्वोत्तम कहानी है। वह जीवन को वांछित रूप में रखना चाहते हैं और जीवन अपने-आपको वैसा रखने नहीं देता। तथ्य सत्य, से प्रबल होता है अतः बावजूद सुधारवादी समाधान के उनकी कहानियाँ पाठकीय चेतना को झकझोरती हैं।

वास्तव में प्रेमचंद के जीवन और चिंतन में एक अन्तर्विरोध था। वे जिस समाज में जी रहे थे, वह परम्परागत नैतिकता और सामंती मूल्यों से परिचालित होता था या ज्यादा से ज्यादा सामंती मूल्यों में ही सम्भावित मानवीयता के परिवेश में उनका जीवन बीत रहा था। लेकिन उन्होंने जिन रचनाकारों को पढ़कर साहित्यिक प्रेरणाएँ ली व डिकेंस, टालस्टाय, वाल्टर स्कॉट, विक्टर ह्यूगो आदि प्रजातांत्रिक सत्कार के साहित्यकार थे। उनकी रचनाओं में उन्होंने जिस जीवन को देखा, उसे अपने यहाँ पाया नहीं। इस खाई को पाटने के लिए यहाँ के ही जीवन को फिर से देखने-परखने का उन्होंने प्रयास किया। आरम्भिक सुधारवादी चेतना इस अन्तर्विरोध से पैदा होती है कि हमारे यहाँ भी ऐसा ही हो क्यों नहीं जाता।

प्रेमचंद ने बचपन में कई तिलस्मी और जामूसी उपन्यास पढ़े थे। उन उपन्यासों की सरचना, भावभूमि और रचना शैली का गहरा असर प्रेमचंद के साहित्य पर दिखाई देता है। उनकी कहानियों की आरम्भिक 'समस्या' और आखिरी 'हल' निहायत जामूसी उपन्यासों की तरह का ही होता है। उन्होंने मानव जीवन को ही एक बड़े भारी तिलस्म के रूप में माना और उसी की चाबियाँ बनाने में लगे रहे। आखिर मानव जीवन में ऐसी वीन-सी शक्ति है जो उसे चलाये चलती है और जो विरोधी परिस्थितियों में भी जिन्दा रह सकती है। इसलिए 'अद्भुत' चरित्र योजना में उनकी रुचि रही है। चरित्र 'टिपिकल' ही नहीं होता, विशिष्ट भी होता है। 'बाबा जमींदार' (अक्टूबर 1913) और 'घमंड का पुतला' (अगस्त 1916)

‘कहानियाँ’ इसी सरचना की हैं। इसी सरचना का हल्का आभास तो बाद की कहानियों में और उपन्यासों में मिलता है। ‘बूढ़ी काकी’ में ही नहीं ‘कफन’ और ‘गोदान’ में भी यह मिलता है।

‘सोजे बतन’ के जख्त होने के बाद जब ‘प्रेमचंद’ का जन्म हुआ तब उनकी साहित्यिक समस्याएँ राष्ट्रीय की जगह सामाजिक होती चली गयीं। भावुकता की जगह वास्तविकता ने ली और अब हवाई देश प्रेम के लिए मर मिटने का आह्वान देने के बदले जिंदगी की छोटी छोटी समस्याओं के सदर्म में मानवीय भावनाओं को उभारने का प्रयास होने लगा। अब से उनके मन में कुछ धार्मिकता का रंग भी गहराता चला गया। इस धार्मिकता के साथ मानवीयता, सत्य, न्यायप्रियता, दया, सहानुभूति में भी उनकी आस्था जमने लगी, जो फिर कभी हटी नहीं। प्रेमचंद की आदमी की दुनियादी भलमनसाहत में गहरी आस्था थी। ‘नमक का दारोगा’ के पंडित अलोपीदीन—जिनको अपनी लक्ष्मी की शक्ति में असीम विश्वास था, न्याय विभाग जिनके इशारे से चला करता था, रिश्वतखोरी और चोर बाजारी में वे उस्ताद थे—भी अन्त में दारोगा वशीधर की धर्मनिष्ठता और ईमानदारी के कायल हो गये और उनको अपनी लाखों की सम्पत्ति का स्थायी मंजर बना दिया। अदालत में धर्म और धन का सघर्ष हुआ और धर्म पराजित हुआ, लेकिन दुनिया और मानवता अदालत के बाहर भी बची हुई है—अतः यहाँ आकर धन को धर्म के आगे हार माननी ही पड़ी। जब मानव ईश्वर का अंश है ही तो हमारा (लेखक का) काम सिर्फ उसकी कर्म बुद्धि को जाग्रत करना मात्र है। प्रेमचंद का यह भावबोध गांधीजी के राजनीति में आने से पहले का है।

प्रेमचंद का साहित्य स्वाधीनता आन्दोलन के साथ साथ विकसित हुआ है। उनमें देश भक्ति और देशोद्धार की लालसा है, देशोन्नति न हो पान से उत्पन्न खीश है और देशोद्धार में बाधक तत्वों के प्रति गहरा आक्रोश है। आरम्भ से ही प्रेमचंद ने सवाल उठाया कि सच्चा देशभक्त कौन है? और इसकी कसौटी रखी—कयनी और करनी की एकता। ‘उपदेश’ (मई 1917) के पंडित देवरत्न शर्मा इसीलिए सच्चे देशभक्त नहीं है, क्योंकि बातें तो वे किसानों की भलाई की करते हैं, समाचारपत्रों में लेखन आदि से उनकी जाति सेवा में ही समय बीतता है, लेकिन शहर में जब प्लेग का दौर होता है, तो वे भाग खड़े होते हैं और अपनी जमींदारी में रहन लगते हैं। लेख तो किसानों के उच्च मानवीय गुणों पर लिखते हैं, लेकिन उनसे बात करना अपनी हेठी समझते हैं। उपदेश तो हर किसी को देते हैं लेकिन जीवन व्यवहार में खुद उसका पालन नहीं करते। इन जड़हीन देशभक्तों की प्रेमचंद ने खूब आलोचना की है।

‘सिर्फ एक आवाज’ (1913) कहानी में गंगा के किनारे पड़े निम्ने लोगों की जमात में एक वक्ता भाषण दे रहे थे। भाषण के बाद वक्ता ने कहा कि हम प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि “अछूतों के साथ भाईचारे का सलूक करेंगे।” वक्ता ने बहुत जोश दिलाया, धूब फटवार मुनाई, लेकिन ‘देशभक्ता’ के दल में से कोई व्यक्ति खड़ा

नहीं हुआ। अपने जीवन में उन आदर्शों को ढालना पठन काम है, और हमारे शिक्षित यद्यु कितने समझदार बुजुर्ग हैं—यह इस कहानी से स्पष्ट होता है। इनका वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है "वहाँ कौम पर जान देने वालों की कमी नहीं, स्टेजों पर कौमी तमाशें खेलने वाले कालेजों के होनहार नौजवान, कौम के नाम पर मिटने वाले पत्रकार, कौमी समस्याओं के मेम्बर, सेक्रेटरी और प्रेसिडेंट, राम और कृष्ण के सामने सिर झुकाने वाले सेठ और साहूकार, कौमी बालिका के ऊँचे होसलों वाले प्रोफेसर और अखबारों में कौमी तरकियों की खबरें पढ़कर खुश होने वाले दफ्तरों के बर्मचारी हजारों की तादाद में मौजूद थे। आँखों पर मुनहरी ऐनकें लगाये, मोटे-मोटे चकली की एक पूरी फौज जमा थी मगर सन्यासी के उस गर्म भाषण से एक दिल भी नहीं घिबला क्योंकि वह पत्थर के दिल थे जिनमें दर्द और घुलावट नहीं थी, जिनमें सद्विश्वास भी मगर कार्यशक्ति नहीं थी, जिनमें बच्चों की-सी इच्छा भी मगर मर्दाना-सा इरादा नहीं था।" 39

इन देशभक्तों की मजलिस से आखिर "सिर्फ एक आवाज" ठाकुर दर्शनसिंह की ही निकली, जो कथित देशभक्ता की कतार में से नहीं था। सीधा-सादा गाँव का 'पुराने बक्ते का आदमी' था। यह कहानी प्रेमचन्द को देहाती दर्शनसिंह का और जानने की लालसा पैदा करती है। 'प्रेम' में अमृतराय भी रईसों से निराश होकर देहात में ही भाषण देता है।

इस तरह प्रेमचन्द ने सच्चे देशभक्तों की तलाश में झूठे देशभक्तों का पर्दा-फाश किया। प्रेमचन्द ने निष्कर्ष निकाला कि सच्चा देशभक्त तो किसान है। लेकिन चिन्तन के इस घरातल पर पहुँचने से पहले तत्कालीन सामाजिक कार्यकर्ताओं की पड़ताल जरूरी थी। इसके लिए प्रेमचन्द की नजर सबसे पहले वकीलों पर गयी। इस वर्ग के त्रियाकलापों को प्रेमचन्द ने बहुत गौर से देखा और इनके सवाल को राष्ट्रीय सवाल से जोड़ा। वकील वास्तव में ब्रिटिश न्याय व्यवस्था के अंग थे। जहाँ प्रजा के खून से सचित धन को हड़पने के हथकण्डे होते थे, रिश्वतखोरी आम थी, सच्चा न्याय मिलना मुश्किल बना असंभव था। यह वर्ग जब देशभक्ति का नेता बन जाये, तो इसे स्थिति की विडवना ही कहिए। लेकिन अच्छे घुरे के बावजूद यह तथ्य है कि राष्ट्रीय आन्दोलन का नतुख इसी पेशे के लोगों ने किया। प्रेमचन्द ने जगह-जगह बताया है कि यह वर्ग पुराने जमींदार वर्ग से पैदा हुआ है अब भी उनके पास इलाके की स्थायी आमदनी है, जिसकी ओर वे कभी ध्यान नहीं देते अतः मुह्तार, पटवारी और थानेदार बिमानों को स्वच्छदतापूर्वक लूटते हैं ('उपदेश' में)। इस नए वर्ग के पास ज्ञान है और वह अपनी भीतरी कमजोरियों को सिद्धान्तों की आड़ में छिपा लेते हैं माहिर् है। इनकी देशभक्ति अखबार पढ़ने और लेख लिखने तक ही सीमित है। लेकिन प्रेमचन्द ने इस वर्ग को तिरस्कार भोग्य नहीं समझा है। इसी में उनकी भावुकतापरक मानवतावादी दृष्टि के व्यक्ति भी मिले हैं। सच्चे जाति के सेवक भी हैं। इनकी अकर्मण्यता अगर हट जाये तो ये देश का बहुत कुछ भला कर सकते हैं। इनकी कामरता और अकर्मण्यता ही इनके दोष हैं।

कुछ घरे देशभक्त भी इनको यहाँ दिखाई दिये हैं। पटना के नौजवान वकील

पंडित श्यामस्वरूप (दोनों तरफ स, 1911) इहीं म से एक हैं। य 'जवान से कम और दिलो दिमाग हाथ और पैर से ज्यादा काम लते थे।⁴⁰ व अछूता के उन्धारे के लिए लेख नहीं लिखते थे बल्कि उनके बीच उठते बैठते थे उनकी परेशानिया के भागीदार थे। अब पंडित आदमी ठहरे और वह भी हिन्दुस्तान के। फलत उन पर टीका टिप्पणियाँ होने लगी। वे तो नहीं लेकिन उनकी बीबी कोलिसरी देवी एक दिन व्यंग्य बाणों से घायल हो गयी। सच्चे इंसान थे पत्नी से मुहब्बत करते थे। एक दिन पत्नी न उनको अछूतो स मिलने जुलने से मना कर दिया। फिर प्रम और कतव्य मे कुछ देर सघप चला और अंत म प्रम जीत गया। पति के इस प्रम न पत्नी के मन म भी देश सेवा की भावना पैदा की और वह भी तैयार हुई। अंत म दोनों तरफ स देश सेवायें होने लगी। देहातो म ऋण देने के लिए बैंक की स्थापना की योजनायें बनी। निष्कप यह कि प्रमचंद ने स्वाथ से ऊपर उठ हुए ईमानदार वकीलो को भी पहचाना था और यह भी पहचान लिया था कि कुछ वकीलो की देशभक्ति भुवकिल बढ़ाने का एक साधन थी।

प्रमचंद न किसानों की वास्तविक समस्याओं से जुड़ हुए लोगों की ओर ध्यान दिया है। शुरू म ही उनकी रुचि संपूर्ण समाज मे किसानों की स्थिति की तरफ थी। अंत कारिदा से लेकर नये पुराने जमींदारों तक को उन्होने जाचा है। अत्याचार और शोषण के वास्तविक आधार को पकड़ा कि जब 30 रुपये महावार की नौकरी छोड़कर 8 रुपये महावार मे लोग कारिदागिरी करते हैं या सिपाही बनते हैं तो लट खसोट के अलावा और होगा क्या। इसलिए प्रेमचंद इस निष्कप पर पहुंच कि तत्कालीन समाजव्यवस्था म ईमानदार और सज्जन व्यक्ति का निर्वाह नहीं हो सकता। उसे तो डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर सरदार शिवसिंह की तरह सज्जनता का दंड भुगतना ही पडगा। याय व्यवस्था और प्रशासन म व्याप्त इन बुराइयों को दूर करने के लिए प्रमचंद ने ग्रामीण पंचायत को उपयुक्त माध्यम माना। पंच परमेश्वर (1916) की पृष्ठभूमि मे प्रचलित यायव्यवस्था के विरुद्ध यही आक्रोश है। य कहानियाँ उनकी साम्राज्यवाद विरोधी देश प्रेम की कहानियों का अगला विकास है। विचारों के गोपन के बावजूद विचारों की कैसे सशक्त अभिव्यक्ति हो सकती है— नमक का दारोगा इसका उदाहरण है।

प्रमचंद की इन आरंभिक कहानियों म कुछ कहानिया पुराने जमींदारों पर भी हैं। जिनम घमंड का पुतला और बाका जमींदार महत्त्वपूर्ण हैं। प्रमचंद ने यह महसूस किया है कि पुराने जमींदारों म अव्यवस्था और उद्धता के साथ साथ रयत क साथ आ मीयता के भाव भी थे। व्यक्तिगत जीवन मे भी उनम वचन के लिए मर मिटने का माहस था। अंत एक स्तर पर प्रमचंद उनको आदर्श की दृष्टि से भी देखते हैं। लेकिन नये जमींदार ज्यादा शोषक और ज्यादा घातक है। इन कहानियों मे नये शिक्षित जमींदारों की सोई हुई मानवीयता और घम बुद्धि को जाग्रत करने का प्रयास है। यहाँ तक वे जमींदारी प्रथा के खिलाफ नहीं हो पाये थे बल्कि उस व्यवस्था म निहित अव्यवस्था को दूर करना चाहते थे। अभी उन्होने वकीलों और जमींदारों को किसानों का दंग शत्रु घोषित नहीं किया था।

ग्रामीण जीवन-सबधी कुछ कहानियाँ भी इस बीच लिखी गयी थी जिनमें गरीब की हाय (1911), अमावस की रात (1913), अघेर (1913), बेटी का घन (1915) मुख्य हैं। लेकिन उनके साहित्य का पहला किसान चरित्र 'पंच परमेश्वर' (जून 1916) में ही देखने को मिलता है। इससे पहले प्रेमचन्द ने देहात की सामान्य परिस्थितियों और सामान्य चरित्रों को ही प्रस्तुत किया है। यहाँ तक कि देहात स्वयं एक चरित्र है। उस चरित्र को पकड़ने-समझने का प्रयास यहाँ मिलता है। इस चरित्र की आम परेशानियों और शोषण के आम हथकड़ी की ही रचा है। इस अघेरगदी के खिलाफ किसान के मन में गुस्सा भी आता है। अंघेर (1913) का गोपाल पहली बार धर्म और समाज के नाम पर चल रहे शोषण के खिलाफ बोलता है। 'गोपाल ने जगड़ाई लेकर कहा—सत्यनारायण की महिमा नहीं, यह अघेर है।'⁴¹ प्रेमचन्द की रचि इस बीच गाँव के सांस्कृतिक जीवन की ओर ज्यादा रही है, अधिक कम। 'सेवासदन' के उमानाथ सुसन के लिए घर खोजने देहान में जाते हैं। देहात वालों की इस अवसर पर व्यवहृत होने वाली मानसिकता को प्रेमचन्द ने बड़ी बारीकी से पकड़ा है।⁴² इस वर्णन से प्रेमचन्द ने देहात का एक सामूहिक चरित्र खड़ा किया है। 'सेवासदन' उपन्यास में भी देहात की पृष्ठभूमि और परिवेश के साथ शहरी जीवन की समस्या—वेश्या जीवन—को ही स्थान मिला है। यह उपन्यास लिखा पहले उर्दू में गया, पर छपा हिन्दी में। इस उपन्यास की हिन्दी में व्यापक चर्चा हुई और कुछ आलोचकों ने तो इसे ही प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना है। उपन्यास में समस्या के वास्तविक कारणों और सुधारवादी आकांक्षा की अभिव्यक्ति हुई है।

प्रेमचन्द की जीवनदृष्टि में यह अगला विकास है। प्रथम विषयपुट समाप्त हुआ, रूस में क्रांति हुई और प्रेमचन्द की जीवनदृष्टि ज्यादा साफ हुई। किसानों के प्रति आरम्भ से ही उनके मन में सहानुभूति और जिज्ञासा का भाव था। शिवरानी देवी ने प्रेमचन्द के बस्ती प्रवास की एक घटना बयान की है

"4 साल की बात है। वहाँ पर वोटिंग का प्रश्न था। वे चाहते थे कि कांग्रेस वोट पाये। उन लोगों ने कहा कि हम एक कुएँ की जरूरत है। बोले, 'मैं कुआँ तुम्हारे लिए बनवा दूँगा। वोट उन्हीं को देना। उनके हाथों तुम्हारा भला होगा।' वहाँ पर ज्यादातर बस्ती काश्तकारों की है। इतिफाक से एक वोटर कुरमी था, जो मेम्बरी के लिए खड़ा था। इनके कहने पर भी वहाँ के सारे वोट उस कांग्रेसी को नहीं मिले। जब गाँव वालों को मालूम हुआ तो वायस्य लोग बोखला गये। आकर बोले—'इन आदमियों को आप जहाँ तक हो, यहाँ से निवाल सकें तो अच्छा हो। यह आपका अपमान हुआ।"

आप बोले—'तुम लोग क्या बकते हो? मेरे जीवन का यही ध्येय है, काश्तकारों को सुधारना। मेरी इस बात की कीमत ही क्या, जिसके पीछे मैं सबको तबाह कर दूँ। लोगों ने न माना तो अपनी हानि की, न कि मेरी। मैं उन्हें तबाह कर दूँ, यह शराफत नहीं है। फिर मैं तो चाहता हूँ वे अपने पैरों पर खड़े हो। आज मैं उनको भला बतला रहा हूँ। कल शायद उन्हें कोई धोखा दे। भेड़ों की तरह किसी के

इशारों पर पब्लिक का चलना कहाँ तक ठीक है ? मैं इसे मुनासिब नहीं समझता । उन्होंने खुद समझकर जो भी किया अच्छा किया । 43

इसी तरह निगम साहब ने प्रमचंद को सरकारी अखबारनवीस बनाने की सलाह दी इस पर प्रमचंद ने 6 जुलाई 1918 को लिखा कि अब मैं सरकारी अखबारनवीस क्या बनूँगा । अगर अखबारनवीस बनना तबदीर में है तो सरकारी आजाद अखबार नवीस होऊँगा । जग के मुताल्लिक मजामीन लिखने की भी इस वक्त मुझ फुमस नहीं है । बस इसी अपनी रफ्तार के दीम पर चलूँगा । वो० ए० करके किसी प्राइवेट स्कूल की हेडमास्टर की और एक अच्छे अखबार की एडिटर की कुछ पब्लिक काम । यही मेरा ज़िन्दगी है । अखबार मजदूरा किसानों का हामी और मुआबिन होगा । 44

1918 से प्रमचंद की जीवनदृष्टि और रचनादृष्टि में परिवर्तन दिखाई देता है । एक तरफ तो वे रूसी क्रांति के तरफदार होते हैं उनमें बग दृष्टि का विकास होता है वे किसान मजूरों के समर्थक बनते हैं और कांग्रेस के प्रति उनकी आलोचनात्मक दृष्टि बढ़ती है । दूसरी ओर गांधीजी का राजनीति में प्रवेश होता है और उनके प्रभाव से प्रमचंद भी अपनी सरकारी नौकरी छोड़कर असहयोग आंदोलन के हामी बन जाते हैं । प्रमचंद के साहित्यिक जीवन का अगला दौर (1918 से 1930) तक इन दो प्रवृत्तियों के संघर्ष सामंजस्य और तनाव का दौर है ।

कुल मिलाकर प्रमचंद और किसान—दोनों अब तक करीब आ चुके थे—पर पर्याप्त परिचय आपस में नहीं हो पाया था । प्रमचंद हालांकि किसान के दुनियादी खरेपे और दबदबा के प्रति आस्थावान थे फिर भी अब तक का किसान एक आदर्श सामंती ग्रामीण जीवन के ही किसान के रूप में सामने आया । अलगू चौधरी और जुम्न शेर—इस किसान के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं । इस सदन में गांव बनाम शहर की बहस को प्रमचंद ने उठाया और शहरी बावुओं के खिलाफ देहाती किसानों को खड़ा किया ।

गांव और शहर के आपसी संघर्ष का एक निश्चित भौतिक आधार है । नैनस ने लिखा है कि एक ओर बड़ा शहर बढ़त जा रहे हैं । विशाल गोदाम विशाल महल और घर बनते जा रहे हैं । रेल तयार हो रही हैं । कारखाना और खेती में सुधार हो रहा है । नयी मशीनों का उपयोग हो रहा है । दूसरी तरफ करोड़ों आदमी गरीबी के कारण धूल धुलकर मरते हैं । अपने बाल बच्चों की भूख भर मिटाने के लिए वे ज़िंदगी भर दिन रात एक करके काम करते हैं । इतना ही नहीं अधिकाधिक लोग बेकार हो जाते हैं । शहर और देहात दोनों में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ रही है जिन्हें काम बिल्कुल ही नहीं मिलता । गांवों में वे भूखे रहते हैं शहरों में वे आवारों में शामिल हो जाते हैं । 45 भारत में ब्रिटिश नीति के कारण खेती पर निर्भर आबादी बढ़ी और फलतः उनकी परेशानियाँ भी । गांवों की इस हालत की जिम्मेदारी को कुछ भावुक मानवतावादियों ने शहरों पर थोपा और शहर और गांव के संघर्ष का नारा दिया । इस नारे में एक ओर तो शहरी मजूरों और गांव के किसानों को दूर ही नहीं परम्पर विरोधी बताया गया दूसरी तरफ गांव में चल रहे किसी भी तरह

के वर्ग-संघर्ष पर परदा डाला गया। इस तरह यह धारणा निकली कि सारे देहाती चाहे वह जमींदार हो या किसान या खेतिहर मजदूर—शहरी उद्योगपति और मजदूरों से सरल हृदय, भोले-भाले और मानवीय हैं। शहर रोग की जड़ और कपट का गढ़ है। इसलिए देहात के किसानों, जमींदारों और खेत-मजदूर को एक ग्राम पंचायत का शक्तिशाली सामूहिक संगठन बनाना चाहिए, जिससे शहरी जीवन के चैलेंज का सामना किया जा सके। इसमें परस्पर भाईचारा, मानवीयता पर अतिरिक्त बल दिया गया है और किसानों और जमींदारों के वर्ग-संघर्ष को नजरअंदाज किया गया है। वास्तव में इस धारणा की पृष्ठभूमि में बड़े किसानों और जमींदारों के वर्ग-हित की ही अभिव्यक्ति होती है क्योंकि इन ग्राम संगठनों में उन्हीं का प्रभुत्व होता है। बहुत दिनों तक प्रेमचंद ने इस धारणा के भीतर निहित इस सामंती तत्त्व को नहीं पहचाना। 'पंच परमेश्वर' में इस धारणा की अभिव्यक्ति हुई है। 'गोदान' में इस धारणा का खंडन है। होरी के शोषण में इस पंचायत की भी एक भूमिका होती है।

किसानों के क्रांतिकारी स्वरूप से अब तक प्रेमचंद परिचित नहीं थे। हालांकि हमारे वर्गों की नपुंसकता का उन्हें एहसास हो गया था, पर किसान पर पक्की आस्था जम नहीं पाई थी। किसानों की संगठनशक्ति से भी वे अनभिज्ञ थे—अतः स्वाधीनता संघर्ष में किसान की भूमिका निर्णायक है, इस निष्कर्ष तक नहीं पहुँचे थे। कुल मिलाकर इस बीच का साहित्य किसानों के प्रति दया और ममता भाव से भरा हुआ है। इसमें शिक्षित भारतीयों, विशेषतः जमींदारों, कारिंदों और पानेदारों को किसानों के लिए सदैव होने की प्रेरणा और प्रोत्साहन है। यह सारा प्रयास व्यक्ति के निजी विवेक पर ही आधारित है। जमींदारों, पुलिस और महाजनों के अत्याचारों के वर्णन के बावजूद अभी तक उनकी अमानवीय जीवन दृष्टि को ही इसका कारण बताया गया है, जिसका उपचार उनमें मानवता और धर्म-बुद्धि के भाव जमाना मात्र है। जमींदारों के अत्याचार का कारण जमींदारी व्यवस्था के भीतर न बताकर जमींदारी व्यवस्था की अव्यवस्था को बताया गया है। किसान और जमींदारों के परस्पर हित-विरोध के बुनियादी आधार तक अभी वे नहीं पहुँच पाये थे—अतः यह साहित्य शिक्षित जमींदारों को सम्बोधित साहित्य है।

'प्रेमाश्रम' प्रेमचंद ने 1918 में लिखना शुरू किया। इस बीच उन्होंने एक लेख लिखा—'पुराना जमाना नया जमाना'। यह फरवरी 1919 के 'जमाना' में छपा। इसमें उन्होंने पुराने विचारों को खंडित करके नए चिंतन का स्वरूप स्पष्ट किया है। इस लेख में पुराने और नये जमाने की तुलना की गई। वही पुराने का गुणगान है तो वही नये का। पुराने के गुणगान में वर्तमान की विभीषिका बोलती है और नये के समर्थन में भविष्य के प्रति आस्था। उन्होंने लिखा है कि "इस नये जमाने में एक ऐसा रोशन पहलू भी है जो उन काले दागों को किसी हृद तक छूँ देता है और वह है 'वेजवानों की ताकत का जाहिर होना।' हाल के इस यूरोपीय युद्ध ने इस पहलू को और भी उजागर कर दिया है। स्वार्थपरता के तूफान ने बड़े-बड़े गराण्डील पेड़ों को ही नहीं, सोए हुए और लुटे हुए हरे-भरे मैदानों को भी जगा दिया है। अब एक पाषाणकाल मजदूर भी अपनी अहमियत समझने लगा है और

घन दोलत की डयोडी पर सिर झुकाना पसन्द नहीं करता । उसे अपने कर्तव्य चाहे न मालूम हो लेकिन अपने अधिकारों का पूरा पूरा ज्ञान है । वह जानता है कि इस सारे राष्ट्रीय वैभव और प्रभुत्व का कारण मैं हूँ । अब वह मूक सतोष और सिर झुकाकर सब कुछ स्वीकार कर लेने में विश्वास नहीं रखता ।

जनता की यह हलचल और मार्गें चाहे नाजुक कानों को कितनी ही नागवार मालूम हो लेकिन वह उस निस्तब्ध मौन की तुलना में कहीं अधिक जीवनदायक है जो पुराने युग की अपनी विशेषता थी और अभी तक कुछ एशियाई देशों में चल रही है जो आग में जलकर तलवार की चोट खाकर भी उफ नहीं करती सहना और सहफना जिसकी विशेषता है । नये जमाने के इस सबसे ताजा पहलू न यूरोप और अमेरिका वगैरह देशों में शूद्रों का खात्मा कर दिया है । अब वहाँ कोई ऐसा नहीं जो क्षत्रिया के अत्याचार की परियाद करे जो वैश्यों के स्वर्ण सिंहासन को ढोने वाला बन । इसके बाद प्रमचन्द ने रूसी शक्ति की सुनहरी आभा का जिक्र किया है लेकिन उसके प्रति उनके मन में एक बौद्धिक संदेह भी था । उन्होंने लिखा कि बहुत सम्भव है कि अराष्ट्रों पर इस जनतन्त्र (सोवियत रूस) का अत्याचार पूजीपतियों से कहीं अधिक घातक सिद्ध हो । जब कुछ थोड़े से पूजीपतियों की स्वायत्त परता दुनिया को उलट पलट कर रख दे सकती है तो एक पूरे राष्ट्र की सम्मिलित स्वायत्तता क्या कुछ न कर दिखायगी । वह भी जत्थेबंदी की एक सूरत है ज्यादा ठोस । वह अपने देश के व्यक्तिगत प्रभुत्व को मिटाकर उसके बदले जनता के प्रभुत्व का झंडा लहरायगी । मगर यह स्पष्ट है कि उसका आधार भी स्वायत्तता है और जब तक उसका पैरा स यह जमीन दूर न होगी वह इस इंसानी भाईचारे की मजिल से एक जो भी और करीब न होगी जो संस्कृति का लक्ष्य है । ५६

इसके बाद हिन्दुस्तान की परिस्थितियाँ का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि 'हमारे स्वराज्य के नेताओं में वकील और जमींदार ही सबसे ज्यादा हैं । हमारी कौमिलों में भी यही दो समुदाय आगे दिखाई पड़ते हैं । मगर कितने शम और अपसोस की बात है कि उन दोनों में से एक भी जनता का हमदंद नहीं । वे अपने ही स्वायत्त और प्रभुत्व की धुन में मस्त हैं । जो रयत अपने अत्याचारी और लालची जमींदार के मुंह में दबी हुई है जिन अधिकारसम्पन्न लोगों के अत्याचार और बेगार से उसका हृदय छलनी हो रहा है उसको हाकिम के रूप में दखने की कोई इच्छा उसे नहीं हो सकती । ५७

किसानों की स्थिति पर विचार करते हुए प्रमचन्द ने लिखा है कि क्या यह शम की बात नहीं कि जिस देश में मन्वे फीसदी आबादी किसानों की हो उस देश में कोई किसान सभा कोई किसानों की भलाई का आन्दोलन कोई खेती का विद्यालय किसानों की भलाई का कोई व्यक्तिगत प्रयत्न न हो । मगर नये जमाने में एक नया पन्ना पलटा है । आने वाला जमाना अब किसानों और मजदूरों का है । दुनिया की रफ्तार इसका साफ सबूत दे रही है । हिन्दुस्तान इस हवा से बेअसर नहीं रह सकता । हिमालय की चोटियाँ उसे इस हमले से नहीं बचा सकती । जल्दी या दूर से शायद जल्दी ही हम जनता को केवल मुखर ही नहीं अपने अधिकारों की माँग

करने वालों के रूप में देखेंगे और तब वह आपकी किस्मती की मालिक होगी ।
 हमारे कोसिलरों और राजनीतिक नेताओं का कर्तव्य है कि वे अपने प्रस्तावों की परिधि को फैलायें और जनता (यानी काश्तकारों) की हिदायत का एक प्रोग्राम तैयार करें और उसे अपनी कार्यप्रणाली बना लें । स्वराज्य की बेकार और बेमतलब सदाओं पर तकिया करके बैठने का वक्त अब नहीं क्योंकि आने वाला जमाना अब जनता का है और वह लोग पछतायेंगे जो जमाने के कदम से कदम मिलाकर न चलेंगे ।' 48

संदर्भ

1. ".... घनपतराय और उनके पिता किमान नहीं थे, लेकिन किमानों से दूर भी नहीं थे। वे किसानों के दुःख-दर्द, कठिनाइयों, विपत्तियों और छोटी-छोटी अभिलाषाओं से भली भाँति परिचित थे, बल्कि यह मक़दपोश वर्ग दियाये और रस्मो-रिवाज का किसानों से कुछ अधिक पावद होता है। इसी अनुपात में उसकी कठिनाइयाँ और दुःख-दर्द भी अधिक होते हैं और अतृप्त अभिलाषायें दरिद्रता के बीचों-बीच में कुलबुलाती रहती हैं।" प्रमचन्द जीवन, वत्सा और कृतित्व, पृ० 9, लेखक—हमराज रहबर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1962।
2. 'सप्तशताब्द', महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 138, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, 1908
3. " they were not addressed to the future of the nation state and thus were doomed to failure when they aimed at revolution These revolts were, however, politically progressive in that they sought a new state of peasant society which would combine freedom from alien rule together with some traditional virtues and modern technology and popular government, rather than merely reverting to pre-British social structures—"Economic and Political Weekly", August 1974, Vol. IX, Nos 32, 23 and 34 Special Number , p 1403.
(Indian Peasant Uprisings—by Kathleen Gough)
4. लार्ड कर्जन ने कहा कि "It is the Indian poor, the Indian peasant, the patient, humble, silent millions, the 80 percent who subsist by agriculture, who know very little of policies, but who profit or suffer by their results, and whom men's eyes even the eyes of their countrymen, too often forget He has been in the back-ground of every policy for which I have been responsible, of every surplus of which I have assisted in the disposition". सुखवीर चौधरी की पुस्तक "Peasant and Workers Movements in India—1905-1929" से उद्धृत, पृ० 6, Peoples Publishing House, Delhi, 1971.

- 5 यह लेख बनारस के 'आवाजे खल्क' नामक उर्दू अखबार में 9 मई, 1903 से 24 सितम्बर, 1903 तक क्रमशः प्रकाशित हुआ है। यह अपूर्ण ही उपलब्ध है।
- 6 विविध प्रसंग, भाग 1, पृ० 7, सकलन और रूपांतर, अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962
- 7 यह उपन्यास 8 अक्टूबर 1903 से 1 फरवरी, 1905 तक बनारस के उर्दू साप्ताहिक 'आवाज ए खल्क' में क्रमशः प्रकाशित हुआ है।
- 8 मंगलाचरण, पृ० 45, प्रस्तुतकर्ता—अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962
- 9 कांग्रेस का इतिहास, पृ० 57, लेखक—पट्टाभिषीतारामय्या, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।
- 10 'Indian Political Associations and Reform of Legislation (1818-1917),' pp 25-26 by Bimal Behari Majumdar, Kirma K.L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1965
- 11 विवेकानन्द ने यह भी लिखा कि "मानव समाज पर बारी बारी से चार जातियों का राज्य होता है—पुरोहितों, सैनिकों, व्यापारियों और मजदूरों का। सबसे आखिर में मजदूरों (शूद्रों) का राज्य आयेगा".....। पहली तीन जातियों के शासन के दिन अब लड़ चुके हैं। अब इस आखिरी वर्ग का समय आया है। उसे शासन मिलना ही चाहिए। कोई इस बात को रोक भी नहीं सकता।" 'भारतीय चिंतन परम्परा' से उद्धृत, पृ० 378-79, लेखक—के० दामोदरन, अनुवादक—जी० श्रीधरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1968।
- 12 "Unless the Government taken in honest some scheme for the better organization of rural credit—even with some risk of failure at the outset—the agrarian problem in this country will never be properly faced," 'Tilak and Gokhale Revolution and Reform in the making of Modern India,' pp 140-141 से उद्धृत, by—Stanley A. Wolpert, University of California Press, Berkeley, 1962
- 13 Indian National Liberation Movement and Russia (1905-1917) से उद्धृत, p 22, by—P.B Sinha, Sterling Publishers Pvt Ltd, New Delhi, 1974
- 14 1895 की पूना कांग्रेस में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा कि "We are advocates of reform and not of revolution, and of reform as a safeguard against revolution"
- 15 विविध प्रसंग, भाग 1, पृ० 20
- 16 वही, पृ० 36
- 17 संपत्तिशास्त्र, पृ० 146-147

18. श्री बालमुकुन्द गुप्त की कविता है—

“जिनके कारण सब सुख पावें, जिनका बोया सब जग खावें,
हाय ! हाय ! उनके बालक नित, भूखों के मारे चिल्लाएँ ।
काल सर्प की सी फुफ्फुारें, लुएँ भयानक चलती हैं,
धरती की सातो परतें जिसम तावा सी जलती हैं ।
तभी खुले मैदानों में, वे कठिन किसानी करते हैं ।

×

×

×

जब अनाज उत्पन्न होय, सब तब उठा ले जाय लगान ।

19 श्री अमृतराय ने इसका प्रकाशन सन् 1906 माना है । इस उपन्यास का हिन्दी रूपांतरण 'प्रेमा' शीर्षक से छपा । ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह उपन्यास 1905 से पहले ही लिखा जा चुका था, क्योंकि इस उपन्यास परवर्ग-भग आन्दोलन का बिलकुल असर नहीं है ।

20 मंगलाचरण, पृ० 106

21 वही, पृ० 129

22 वही, पृ० 156-157

23 'चुनावे वो उस वक्त कपड़े पहन बाइसिकल पर सवार हो चटपट मजिस्ट्रेट की खिदमत में हाजिर हुए और उससे तमामो-कमाल बक्या बयान किया । अग्रे जो में उनका अच्छा रसूख था । न इसलिए कि वो खुशामदी में बल्कि इसलिए कि वो रौशन खयाल और साफगो थ । मजिस्ट्रेट साहब उनके साथ बड़े अखलाक से पेश आये । उनसे हमदर्दी जतायी और उसी वक्त सुपरिण्टेंडेंट पुलिस को तहरीर किया किया कि आप बाबू अमृतराय का मुहार्फजत के लिए पुलिस का एक गारद रवाना कर दें और तावबते कि शादी न हो जाय खबर लेते रहे ताकि मारपीट और खून-खराबा न हो जाय ।" वही, पृ० 190

24 विविध प्रसंग, भाग 1, पृ० 113

25 चिट्ठी-पत्री, भाग 1, पृ० 46 सक्लन—लिप्यंतर—शब्दार्थ—मदन गोपाल और अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1952

26 कलम का सिपाही, पृ० 111, लेखक—अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

27 कलम का सिपाही, पृ० 112

28 चिट्ठी-पत्री, भाग 1, पृ० 13

29 वरदान, पृ० 68-69, हंस प्रकाशन, 1974

30 मेरी कहानी, पृ० 52, लेखक—पंडित जवाहरलाल नेहरू, संपादक—हरिभाऊ उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1971

31 कांग्रेस का इतिहास पृ० 59

- 32 'Down in the depths of our sound we, the educated people, have become Anglicised our borrowed Anglicism repels our unsophisticated countrymen Beside we seem to look upon them with contempt Do we invite them to our assemblies and our conferences ? Perhaps we do when we want their signatures to some petition to be submitted before the government , but do we associate with them heartily in any of our endeavours ¹ Do we co-operate with them indeed and truth ? Is the peasant a member of any of our committees or conferences ? Do we consult his voice in arriving at any of our decisions ? .. Do we think of our ravaged and depopulated villages ? Do we think of the hungry, half starved malaria—stricken skeletons who drag out the lingering chain of life in the dim and forgotten recesses of those dreary haunts of disease.. our political agitation is a lifeless and soulless force a thing without reality and truth Hence our political agitation is unsubstantial—divorced from all intimate touch with the soul of our people", 'Peasants and Workers Movement in India , p 1 से उद्धृत
- 33 हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० 63, लेखक पंडित जवाहरलाल नेहरू, संपादक—रामचन्द्र टण्डन, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977
- 34 Jawaharlal Nehru A Biography, Volume One, pp 42, by S Gopal, Jonathan Cape, 30 Bedford Square, London, 1975
- 35 Peasant and Workers Movements in India, p 40
- 36 हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० 489
- 37 चिट्ठी पत्री, भाग 1, पृ० 93
- 38 वही पृ० 29
- 39 गुप्तधन, भाग 1 पृ० 145, प्रस्तुतकर्ता—अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962
- 40 नया प्रतीक, वर्ष 3 अंक 10, अक्टूबर 1976, पृ० 16, संपादक—अज्ञेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
- 41 गुप्तधन, भाग 1, पृ० 140
- 42 सेवासदन, पृ० 15, सरस्वती प्रेम, इलाहाबाद, 1973
- 43 प्रेमचन्द घर में, पृ० 32, लेखिका—शिवरानी देवी प्रेमचन्द, आत्माराम एड सन्स, दिल्ली, 1956

44. षिट्ठी-पत्री, भाग 1, पृ० 70
45. गाँव के गरीबों से, पृ० 9, खेपड़ा—वेनिज, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली,
हिन्दी संस्करण, 1971
46. विविध प्रसंग, भाग 1, पृ० 266
47. वही, पृ० 267
48. वही, पृ० 268-269

सर्जनात्मक विकास और किसान के वर्गीय सम्बन्धों के उद्घाटन का प्रयास

(1919-1929 ई०)

प्रथम विश्वयुद्ध, रूसी क्रांति और प्रमचन्द

'सवासदन' की रचना तक प्रमचन्द के रचनाकार भावना का निर्माण हो रहा था। साहित्य का विषय स्वरूप, सायकता और उद्देश्य से संबंधित कई रचनात्मक सवाल उनके मानस में गुंज रहे थे। रचना प्रक्रिया के स्तर पर एक त्रैचैनी का एहसास प्रथम दौर की रचनाओं में मिलता है। हालांकि प्रमचन्द ने हमेशा अपने साहित्य को आलोचना की नजर से देखा और वह उसके परिष्कार और उसमें परिवर्तन के प्रयास करते रहे फिर भी विषय वस्तु के चुनाव संबंधी आंतरिक संकट लगभग खत्म हो गया। भारतीय किसान और स्वाधीनता आंदोलन के रूप में उनके पास विषयों का खजाना इकट्ठा हो गया था। समकालीन अधःपतन के कारणों की जा खोज भारतीय बुद्धिजीवियों ने उन्नीसवीं शताब्दी में शुरू की थी, 1920 में आकर उसके कुछ निष्पाद्य कारण मिल गये। असहयोग आंदोलन का भारत में सिर्फ राजनीतिक महत्त्व ही नहीं है बल्कि साहित्यिक और सांस्कृतिक महत्त्व भी है। इसके बाद राष्ट्रीय बुद्धिजीवी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि समकालीन अधःपतन का कारण अंग्रेजी राज है और इसमें उबरने के लिए राष्ट्रीय मुक्ति या स्वराज्य ही एकमात्र उपाय है। पुराना ढंगो-ढार का नारा यहाँ आकर दशमुक्ति के नारे में बदल गया और यह निष्कर्ष निकाला गया कि देश की मुक्ति के बिना देश का उद्धार असंभव है। प्रेमचन्द का अंग्रेजी साहित्य इन्हीं धारणाओं पर आधारित है।

दुनिया में इतिहास में इस बीच दो नयी घटनाएँ घटी थी—एक, प्रथम विश्वयुद्ध (1914-1918) और दूसरा रूसी क्रांति (1917 ई०)। इन दोनों घटनाओं ने दुनिया भर की राजनीति, आर्थिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक स्थितियों को क्रांतिकारी ढंग से बदल दिया। मजदूर साहित्यकार प्रमचन्द पर भी इनका प्रभाव पड़ा। इस युद्ध के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए प्रमचन्द ने स्वदेश में प्रवृत्तियों में लिखा है कि 'सबसे अधिक जनता का इतना गौरव इस युद्ध के पहले कभी नहीं था। सामान्य में इस युद्ध में अगर किसी की जीन हुई है तो वह है जनता की जीन। इस युद्ध ने जनता के लिए वह कर दिया है जो फ्रांस की राज्य क्रांति ने भी नहीं किया था।¹ और रूस की क्रांति ने तो उपजाऊँ की ताकत को जाहिर कर ही दिया और किसान मजदूरों का वहाँ राज्य कायम हो गया। इसीलिए प्रमचन्द ने घोषित किया कि 'हिन्दुस्तान का

उद्धार हिन्दुस्तान की जनता पर निभर है।² जनता से उनका तात्पर्य किसान-मजदूरों से है। जब किसान मजदूर (रूस में) राज्य करने की शक्ति रख सकते हैं तब साहित्य में उन्हें क्या न स्थान दिया जाए। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन भी इसी की शक्ति से विजयी हो सकता है। इन निष्कर्षों से प्रमचंद न किमान जीवन पर साहित्य लिखा और उह ही अपनी रचनाओं में नायक का गौरवशाली पद भी प्रदान किया।

प्रमचंद पर गांधीजी का प्रभाव अमहयोग आंदोलन के बाद ही पड़ा था। प्रेमचंद पर ही नहीं संपूर्ण हिंदी साहित्य पर असहयोग के बाद ही उनका प्रभाव पड़ा था क्योंकि राष्ट्र नरता के रूप में गांधीजी को इसी आन्दोलन में पहली बार देखा था। इसलिए जो लोग प्रमाथम पर गांधीवादी प्रभाव देखते हैं वे ऐतिहासिक रूप से गलती करते हैं। प्रमचंद ने 1918-20 तक प्रमाथम की रचना कर डाली थी उसका प्रकाशन अवश्य 1921 ई० में हुआ था।³ गांधी जी से पहली बार उन पर रूसी क्रांति का प्रभाव था। उन्होंने श्री दयानारायण निगम का 21 दिसम्बर 1919 को गारखपुर से लिखा कि मैं अब करीब करीब बोल्शेविक उमूला का कायल हो गया हूँ।⁴ असहयोग आन्दोलन के बाद प्रमचंद ने कहीं भी इस तरह के स्पष्ट विचार व्यक्त नहीं किए। रूस की सामाजिक आर्थिक सांस्कृतिक उन्नति के समाचार तो उन्होंने बहुत उत्साह से छाये हैं लेकिन अपने को समाजवादी घोषित नहीं किया है। कांग्रेस में मोहम्मद के काल में अंतिम दिनों में प्रमचंद फिर इस ओर झुके थे। बीच में उनकी समाजवादी भावधारा कुछ दबी सी रही। प्रमचंद ने अमहयोग पूर्व के राजनीतिक कार्यक्रमों पर कहानियाँ लिखी हैं। ब्रह्म का स्वाग और त्यागी का प्रेम इसी तरह की कहानियाँ हैं। स्वाधीनता आंदोलन पर बाद में जो कहानियाँ लिखी हैं उनसे यह अलग है। इनमें राजनीतिक कार्यक्रमों पर व्यंग्य किया गया है।

ब्रह्म का स्वाग कहानी में एक ब्राह्मण परिवार है। पति वकील हान के साथ साथ राष्ट्रीय नेता भी है। पत्नी पुराने विश्वासों की धार्मिक महिला है। पति पत्नी के आत्म चिंतन और चिंतन के रूप में कहानी चलती है। वे इस बात से खुदती रहती हैं कि उसके वकील पति स्नान ध्यान नहीं करते, वायस्यो बनिधा और यहां तक कि मुसलमानों के साथ बैठकर खाना खा लेते हैं। एक दिन वकील साहब उस समय जाते हैं कि यह सारी सृष्टि ब्रह्म की ही बनाई हुई है अतः सभी प्राणी समान हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अलग अलग घरों में जाकर भिन्न नहीं हो जाता, उसी प्रकार ईश्वर की महान आत्मा पृथक् पृथक् जीवों में प्रविष्ट होकर विभिन्न नहीं होती।⁵ अब नासमझ वृद्ध विद्वान पति की धारणा के अनुसार ही आचरण करने लग जाते हैं। महरी की मन्द करती है कगलों को भी पकवान खिला देती है चमारियों को भी घर के अंदर ब्राह्मणियों के साथ बिठा देती है—क्योंकि सभी ब्रह्म की ही सत्ता हैं। अतः वह वकील साहब फिर ब्रह्म का ही सहारा लेकर बहते हैं कि ब्रह्म ने ही सृष्टि निर्माण के साथ यह ऊँच नीच की स्थिति भी बनायी है। इस प्रसंग में वकील साहब अपनी राजनीति भी स्पष्ट करते हैं। मैं भी राष्ट्रीय एकता का

अनुरागी हूँ। समस्त शिक्षित समुदाय राष्ट्रीयता पर जान देता है। किन्तु कोई स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता कि हम मजदूरो या सेवाव्रतधारियों को समता का स्थान दोगे। हम उनमें शिक्षा का प्रचार करना चाहते हैं। उनको दीनावस्था से उठाना चाहते हैं। यह हवा ससार भर में फला हुई है पर इसका मम क्या है यह दिल में सभी समझते हैं चाहे कोई खोलकर न कहे। इसका अभिप्राय यही है कि हमारा राजनैतिक महत्त्व बढ़े हमारा प्रभुत्व उदय हो हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव अधिक हो हम यह कहने का अधिकार हो जाय कि हमारी ध्वनि केवल मुट्ठी भर शिक्षित वर्ग ही की नहीं वरन् समस्त जाति की समुक्त ध्वनि है पर व दा को यह रहस्य कौन समझाव।⁶ असहयोग का आंदोलन के बाद प्रमचंद ने राष्ट्रीय आंदोलन का गरीबा—विशेषकर मजूर किसानों का आंदोलन मानकर उसकी हिमायत की है और कार्यकर्त्ताओं की निजी कमजोरियाँ को उभार कर सामने रखा है।

त्यागी का प्रेम के लाला गोपीनाथ असहयोग से पहले के छुटभया नेता हैं। युवावस्था में इह दशन से प्रेम था धनो चिंतन में लीन रहते इसके साथ ही उनमें राष्ट्र प्रेम भी था। विद्या समाप्ति के बाद उनके सामने सवाल आया—देश सेवा या दार्शनिक चिंतन? अंत में दश सेवा की ठानी गयी। नगर के सांख्यिकीय क्षेत्र में कूज पड़। देखा तो मदान खाली था। जिधर आँख उठाते सनाटा दिखाई देता। ध्वजाधारियों की कमी न थी पर मच्चे हृदय कहीं तजर न आता था। चारों ओर से उनकी खींच होने लगी। किसी सस्या के मंत्री बन किसी के प्रधान किसान के कुछ किसी के कुछ।⁷ य घर के धनी थे अतः साख जमाने की समस्या नहीं आयी। जो जान से ज़ब्र वह इस काम में लगे तब उन्हें पता चला कि जाति सेवा बड़ अशा तक बसल चंदे माँगना है।⁸

इसके बाद उन्होंने विवाह न करने की ठानी और दश सेवा में अपने को पूरी तरह डबा दिया। कुछ दिनों बाद एक कन्या पाठशाला खोली गयी उसमें एक शिक्षित गुजराती महिला (विधवा) को बम्बई से अग्रजी पढ़ाने के लिए बुलाया गया। धीरे धीरे आन जी के मन में लाला के प्रति श्रद्धाभाव और गोपीनाथ के मन में प्रेम भाव का उदय होने लगता है। यह प्रेम कुछ दिनों तक तो गुप्त रहा फिर जब यह रहस्य खुला तो पता चला कि आन जी वहाँ को पुनः लाभ हुआ है। इस मौके पर गोपीनाथ का कायरता न सिद्धांत की अड़म बचाव लिया और दो महीने तक वह आन जी से मिल भी नहीं। बाद में आधी रात को नियमित रूप से मिलन जान लग। इन दोनों कहानियाँ से प्रमचंद की रचना दृष्टि का पता चलता है।

दश में स्वाधीनता आंदोलन के लिए नय नेता और नय कार्यक्रम की तलाश हो रही थी। गांधीजी का प्रवेश राजनीति में हो चुका था फिर भी अभी उनका सवमाय स्थिति नहीं मिल पायी थी। विश्वयुद्ध के निम्न में कायम न अग्रजी का साथ दिया था और बदल में वह भी कुछ पाना चाहती थी। 1918 के भारत की स्थिति पर विचार करते हुए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है महायुद्ध के बाद भारतवासी अनुभूति के साथ प्रतीक्षा करते रहे कि देखें अब हम क्या मिलता है। उनके मन में आश था वे सड़ने को उतारू दिखाई देते थे उन्हें कुछ आशा भी नहीं थी फिर भी

वे प्रतीक्षा में थे। कुछ ही महीनों में नयी ब्रिटिश नीति का पहला फूल जिसका कि इतनी उत्सुकता के साथ इंतजार किया जा रहा था एक ऐसे प्रस्ताव के रूप में दिखाई दिया जिसमें क्रांतिकारी आंदोलन को दबाने के लिए खास कानून पास करने की व्यवस्था की गयी थी। अधिक स्वतंत्रता के बदले अधिक दमन होने वाला था। इन कानूनों का प्रस्ताव एक कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर तैयार किया गया था और वे रोलट बिल कहलाते थे। कुछ ही दिनों में यह बिल देश के कोन कोन में काले बिल कहकर पुकारे जान लग और सब जगह सब वर्गों के भारतवासियों ने जिनमें नरम से नरम विचार वाले शामिल थे उनकी निंदा की। इन बिलों में सरकार को बड़ बड़ अधिकार दिये गये थे और पुलिस का लोगो को गिरफ्तार करने अदालत में पेश किया बिना ही जेल में रखने या जिस किसी का वह पसंद नहीं करती थी वह शक की नजर से देखती थी उस पर गुप्त अदालतों का कारवाई करने का हक दिया गया था। उन दिनों इन बिलों का वर्णन आमतौर पर इन शब्दों में किया जाता था 'न वकील न अपील न दलील'।⁹

रोलट बिल के बाद 13 अप्रैल 1919 को जलियाँ वाला बाग (अमृतसर) में पुलिस ने जनता पर गोलियाँ चलाइ जिनमें सरकारी आकड़ों के अनुसार 379 लोग मारे गये और 1200 लोग घायल हुए। इस हत्याकांड का उद्देश्य समस्त भारतीय जनता को आतंकित करना था। रजनीपामदत्त ने लिखा है कि भारत में उस समय दमन का कितना जबरदस्त सिलसिला चल रहा था इसका पता इसी से लगाया जा सकता है कि कांग्रेस कमेटी के नेताओं को भी इस हत्याकांड की जानकारी घटना के चार महीने बाद हुई और लगभग आठ महीनों तक इस हत्याकांड के किसी भी ममाचार को सरकार ने न तो अखबारों में छपने दिया और न उसे ब्रिटिश पार्लियामेंट तथा ब्रिटिश जनता के सामने आने दिया।¹⁰ साम्राज्यवादियों के इस दमन के बावजूद कांग्रेस सरकार से सहयोग के ही पक्ष में थी। यद्यपि 1918 की माटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट को कांग्रेस ने निराशाजनक और असंतोषजनक ही बताया था। फिर भी 31 दिसम्बर 1919 को गांधीजी ने यंग इंडिया में लिखा सरकारी घोषणा के साथ सुधारों से संबंधित जा कानून पारित हुआ है उसमें पता चलता है कि अंगरेज लोग भारत के साथ 'याय करना चाहते हैं और इस बारे में अब हमारे सहर्ष दूर हो जाने चाहिए। इसलिए हमारा मतव्य यह है कि सुधारों की अकारण आलोचना न करके चपचाप उनके अनुसार काम करना शुरू करें ताकि इन सुधारों को सफलता मिल सके।'¹¹ इस घोषणा से पता चलता है कि गांधीजी भी सरकार से निर्णायक लड़ाई छेड़ने में हिचक रहे थे साथ ही इससे जन आक्रोश का भी पता चलता है जो इन सुधारों के विरोध में प्रकट हो रहा था।

प्रमचंद इन दिनों गारखपुर के नामल स्कूल में अध्यापक थे। सेवासदन की तरह प्रमाथम की रचना भी उन्होंने यही रहकर की थी। यहाँ उनका परिचय हिंदी के दो प्रमुख साहित्यकारों से हुआ जिन्होंने प्रमचंद को हिंदी साहित्य में लाने और उन्हें प्रतिष्ठित करने के आरम्भिक प्रयास किये। इनमें एक दशरथप्रसाद द्विवेदी

और हमारे, महावीरप्रसाद पोद्दार थे। पोद्दार जो ने 'हिन्दी पुस्तक एजेंसी' से प्रेमचन्द का पहला हिन्दी गल्प संग्रह—'सप्त सरोज' (1917 ई०) प्रकाशित किया।

प्रेमचन्द का गोरखपुर वास उनके निजी जीवन के स्याधो और सुखद दिनों में से थे। प्रेमचन्द के इन दिनों के स्मरणों में से कुछ बहुत महत्वपूर्ण हैं। शिश्नक के रूप में प्रेमचन्द का व्यवहार छात्रों के साथ तो हमेशा ही स्नेहपूर्ण रहा है, पर वह अधिकारियों से कभी भी दवे नहीं। एक बार एक इन्स्पेक्टर स्कूल का मुआयना करने आया। दूसरे दिन छुट्टी के कारण प्रेमचन्द घर पर ही थे। "आराम कुर्सी पर लेटे दरवाजे पर आप अखबार पढ़ रहे थे। सामने से ही इन्स्पेक्टर अपनी मोटर पर जा रहा था। वह आशा करता था कि उठकर सलाम करेंगे। लेकिन आप उठे भी नहीं। इस पर कुछ दूर जाने के बाद इन्स्पेक्टर ने गाड़ी रोककर अपने अर्दली को भेजा।

अर्दली जब आया, तो आप गये।

'कहिए क्या है?'

इन्स्पेक्टर—'तुम बड़े मगरूर हो। तुम्हारा अफसर दरवाजे से निकल जाता है, उठकर सलाम भी नहीं करते।'

'मैं जब स्कूल में रहता हूँ, तब नौकर हूँ। बाद में मैं भी अपने घर का बादशाह हूँ।'¹²

इसी तरह एक दिन प्रेमचन्द की गाय कलेक्टर के हाते में घुस गई। उसने प्रेमचन्द को बुलाया। इस घटना का जिक्र भी शिवरानी देवी ने किया है।

साहब के पास आकर आप बोले—'आपने मुझे क्यों याद किया?'

'तुम्हारी गाय मेरे हाते में आई। मैं उसे गोली मार देता। हम अंग्रेज हैं।'

"साहब, आपको गोली मारनी थी तो मुझे क्या बुलाया? आप जो चाहे सो करते। या आप मेरे खड़े रहते गोली मारते?"

"हाँ, हम अंग्रेज हैं, कलेक्टर हैं। हमारे पास ताकत है। हम गोली मार सकता है।"

"आप अंग्रेज हैं। कलेक्टर हैं। सब कुछ हैं, पर पब्लिक भी तो कोई चीज है।"

'मैं आज छोड़ देना हूँ। आइन्दा आई तो हम गोली मार देगा।'

'आप गोली मार दीजिएगा। ठीक है, पर मुझे याद न कीजिएगा।'

"यह कहते हुए आप बाहर चले आये।"¹³

इसके अलावा युद्ध समाप्ति के बाद गोरखपुर में ही एक विजय के उपलक्ष्य में जलसा मनाया गया। जिलाधीश स्वयं उनमें मौजूद थे, पर प्रेमचन्द उसमें नहीं गये। इस पर प्रधानाध्यापक वैचनलाल से जवाब माँगा गया, प्रेमचन्द ने इसका लिखित उत्तर दिया, जिसे वैचनलाल ने ही अधिकारियों के पास नहीं भेजा। यह सारी घटनाएँ प्रेमचन्द के निर्भीक और देश प्रेमी व्यक्तित्व को स्पष्ट करती हैं। प्रथम महायुद्ध में अंग्रेजों की जीत हान पर कांग्रेस ने बघाई दी थी, युद्ध में हर तरह से मदद की थी, स्वयं गांधीजी ने गुजरात व किसानों में एगलुट भरती करवाये, पर साहित्यकार प्रेमचन्द ने इस विजय-उत्सव में भाग नहीं लिया।

कश्मकश के इस दौर में हिंदी साहित्य की स्थिति पर भी एक नजर डाल देना जरूरी है। हिंदी साहित्य में इस समय मुख्यतः दो पत्रिकाएँ धूमधाम से निकल रही थीं। एक तो सरस्वती और दूसरी मर्यादा थी। मर्यादा घोषित रूप से राजनीतिक पत्रिका थी। रूसी क्रांति के बाद मर्यादा ने खुलकर उसका ममथन किया और समाजवादी विचारधारा के प्रचार के लिए लेख छापे। किसान सभा ट्रेड यूनियन राजनीतिक आंदोलन सम्बंधी लेख उसमें ज्यादातर छपा करते थे। जून 1917 की मर्यादा में श्रीगुरु दलीलाल दीक्षित ने हमारा राजनीतिक जीवन शीपक लेख लिखा। इसमें उन्होंने साफ लिखा कि इससे यह भाव टपका पड़ता है कि रूपक वगैरह सभा का प्रधान अंग है राजे महाराज डूबूँ अक्स बाबू और अपनेको जेण्टलमेन कहलान वाले तो एक मिनट में बन और बिगड़ सकते हैं परंतु रूपका को सुधारने से देश की अवस्था सुधरती और उनके बिगड़ने से सब बिगड़ जाता है। आ समाज के प्रधान अंग है उनकी ही अवहेलना भारतवर्ष में अधिक होती है। इन्हीं के सुधार और शिक्षा के लिए हम लोगों को कटिबद्ध होना चाहिए।¹⁴ सन 1915 से 1918-19 तक की मर्यादा में होमरूल गाला लाजपतराय एनीबीमट मोतीलाल नेहरू तथा कांग्रेस की गतिविधियों से सम्बंधित विस्तृत सामग्री है। आगे चलकर उसमें रूसी क्रांति और असहयोग का भी समावेश हुआ जाता है। उस समय के प्रसिद्ध लेखक रमाशंकर अवस्थी के रूस सम्बंधी अधिकतर लेख इसी पत्रिका में छपे हैं। किसानों के कष्ट जमींदारों के अत्याचार सरकारी आतंक और धार्मिक अंधविश्वासों की जड़ का आत्मीय विवेचन उस युग की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में मिलता है। उस समय की प्रतिनिधि पत्रिका सरस्वती में भी ऐसे लेख प्रकाशित माना जा सकते हैं। इन लेखों में अनुभवपरक याददाश्त और विश्लेषण किया गया है। ये लेख शिक्षित और प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों को सम्बोधित हैं। किसानों की वास्तविक परेशानियों का इनमें वास्तविक वर्णन है। उनकी परेशानियों को दूर करने के व्यावहारिक और सुधारवादी सुझाव भी दिये गये हैं। इसमें शिक्षित जनता को किसानों के बीच मिशनरी कार्य करने की प्रेरणा दी गयी है। किसानों के जीवन पर लिखे गये इन आत्मीय लेखों की परम्परा बहुत बाद तक चलती है।¹⁵ प्रमाथम में किसानों के जीवन की जो समस्याएँ वर्णित हैं और उनके जो समाधान बताये गये हैं उनकी परम्परा इन्हीं लेखों में मिलती है। प्रमच की मौलिकता और साहस इस बात में है कि इस जीवन को उन्होंने लेखों का नहीं उपवासों और वहानियों का विषय बनाया। स्वयं प्रमच देने भी कुछ दिनों तक मर्यादा का सम्पादन किया था।

इस काल की दूसरी महत्वपूर्ण पत्रिका सरस्वती थी। यह राजनीतिक पत्रिका नहीं थी बल्कि जमा डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है सरस्वती ज्ञान की पत्रिका¹⁶ थी। सरस्वती ने हिंदी भाषा का और हिंदी लेखकों का निर्माण किया। यद्यपि सरस्वती का राजनीतिक स्वर हमेशा ही दबा दबा रहा फिर भी उसने हिंदी साहित्य की नींव मजबूत की। इस पत्रिका में काव्य भाषा के सम्बंध में बहुत चर्चा। उस युग तक गद्य तो खड़ी बोली में लिखा जान लगा था परंतु कविता पर अभी तक ब्रजभाषा का ही आधिपत्य था। सरस्वती ने खड़ी बोली को प्रतिष्ठित किया कविताएँ छापा

और खड़ी बोली के विरोधियों के तर्कों का जवाब दिया। इस सन्दर्भ में 'सरस्वती' का प्रमुख तर्क था नवीनता नये युग के अनुरूप नयी भाषा, नये छंद, नया साहित्य। साहित्य का नहीं 'नवीनता', का महत्त्व है—'सरस्वती' ने इसे प्रतिष्ठित किया। गद्य के क्षेत्र में 'परंपरा' में भी यही मूल्य सामने आया। अभी तक हिन्दी में उपन्यास और कहानियाँ अधिकतर अनुवादित ही थी—बंगला और अंग्रेजी के अनुवाद घड़ल्ले से निकल रहे थे—या फिर देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों की धूम थी। 'शिक्षित जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन करने वाले मौलिक गद्य-लेखकों की कमी का एहसास 'सरस्वती' को था। इसकी पूर्ति का प्रयास भी उसने किया और नये लेखकों को प्रोत्साहन भी दिया। प्रेमचन्द की मौलिकता का महत्त्व इस अभाव के बीच प्रकट होता है। अक्टूबर 1922 की 'सरस्वती' में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'उपन्यास रहस्य' शीर्षक निबंध लिखा। इसमें उन्होंने 'मौलिकता' का मूल्य घोषित करते हुए लिखा है कि "हिंदी के सौभाग्य से इन प्रांतों में एक ऐसे भी उपन्यास लेखक (प्रेमचन्द—ले०) प्रकाश में आ रहे हैं जिनके उपन्यास सुनते हैं उन्हींकी उपज है। 'सुगत है' इसलिए क्योंकि हमको उनकी उपज का स्वतः कुछ भी ज्ञान नहीं। उनके जिन दो उपन्यासों की आलोचनाओं और विज्ञापनों की धूम कुछ समय से है, वे हमारे देखने में नहीं आयें। उनका एक उपन्यास प्रकाशित हुए कुछ समय हुआ। दूसरा अभी हाल ही में निकला है।" 17 ये उपन्यास 'सेवामदन' और 'प्रेमाश्रम' थे।

इस मुखद आश्चर्य को प्रकट करने के बाद उपन्यास का जो आदर्श सामने रखा गया है, वह प्रेमचन्द के आदर्श से एकदम मिलता है—"उपन्यास जातीय जीवन का मुकुट होना चाहिए। उसकी सहायता से सामान्य नीति, राजनीति, सामाजिक समस्याएँ, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म, कर्म, विज्ञान आदि सभी विषयों के दृश्य दिखाये जा सकते हैं। उपन्यासों के द्वारा जितनी सरलता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सरलता से और किसी तरह नहीं दी जा सकती। काव्यों और नाटकों की भी पहुँच जहाँ नहीं, वहाँ भी उपन्यास बेधड़क पहुँच सकते हैं। स्त्रियों और बच्चों के भी वे शिक्षक बन सकते हैं। मिहनत-मजदूरी करने वालों को भी वे घण्टे-भर मनुष्य के दे सकते हैं। लोगों को कहानी पढ़ने का जितना चाव होता है उतना और किसी विषय की पुस्तकें पढ़ने का नहीं होता। अतएव अच्छे उपन्यासों का लिखा जाना समाज के लिए विशेष कल्याण कारक है।" 18

ऐसे साहित्यिक और राजनीतिक माहौल में प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' लिखा और बाजार में आते ही चर्चा का केन्द्र बन गया। पक्ष-विपक्ष के तर्क दिये जाने लगे और हजारों की तादाद में 'प्रेमाश्रम' पढ़ा जान लगा। यह विवाद और उसमें दिये गये तर्क भी तत्कालीन साहित्यिक माहौल को समझने में मददगार होंगे। डा० रामबिलास शर्मा ने 'प्रेमाश्रम' के इस ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "एक तो किमानो पर लिखना ही रसरस का अपमान करना था। उस पर किसी खास आदमी को नायक न बनाना और भी अनोखा प्रयोग था। प्रेमचन्द ने पाप और पुण्य के राक्षस और देवता नहीं रचे। उन्होंने उस घड़वन को सुना जो करोड़ों किसानों के दिल में हो रही थी। उन्होंने उस अछूते यथार्थ को

अपना क्या विषय बनाया जिसे भरपूर निगाह देखने का हियाव हो बड़ो बड़ो को न था। 'प्रेमाश्रम' लिखना एक अद्भुत साहस का काम था। साहित्य का झंडा लिए हुए प्रेमचन्द ऐसे मार्ग पर चल पड़े, जिस पहले किसी ने तय न किया था। उनकी प्रतिभा का यह प्रमाण है कि उन्होंने जो साहस किया, वह दुस्साहस साबित नहीं हुआ। प्रेमाश्रम एक अत्यंत लोकप्रिय उपन्यास के रूप में आज भी जीवित है।¹⁹

'प्रेमाश्रम' की शुरुआत लखनपुर गाँव की चौपाल से होती है। चार-पाँच किसान इतमीनान से बैठकर, खूले दिल से बातचीत कर रहे हैं, ऐसा लगता है मानो आपस में बड़ा भाईचारा है। सबने मिलकर अंग्रेज हाकिमों की कार्यकुशलता और न्यायपरायणता की दाद दी, देशी हाकिमों की बामचोर और घूसखोर प्रवृत्ति की भर्त्सना की, देश और अपने दुर्भाग्य का रोना रोया, पढ़ी लिखी जमात की स्वार्थ-परता पर आंसू बहाय, पुराने जमाने को याद करके आह भरी और नय जमाने का गालियाँ दी। यहाँ तक आपस में किसी प्रकार के मनमुटाव व ईर्ष्या द्वेष के दर्शन नहीं होते। इतने में बाहर से—जमींदार का चपरासी गिरधर महाराज आता है। चपरासी के साथ गाँव में विपत्ति और फूट साथ-साथ आती है। बड़े सरकार की बरसी के लिए जमींदार को धी चाहिए। बाजार भाव रुख का छटाक है पर जमींदार रुपये सेर के भाव से लेगा। सब लाग हैसियत के अनुसार रुपय पेशगी ले लेते हैं पर मनोहर साफ इन्कार कर देता है। उपन्यास की इस शुरुआत पर तत्कालीन आलोचक रघुपति सहाय ने बहुत मार्मिक टिप्पणी की है। "कितना रोचक परन्तु कितने सज्जन का उठान था। बात की बात में आखों के सामने हिन्दुस्तान के ग्राम्य जीवन की एक झलक फिर गई। इन किसानों की बातचीत में देहात की सैर का मजा भरा हुआ था। मालूम होता था कि हम स्वयं लखनपुर में अलाव के पास बैठे हुए दुधरन, सुखू और मनोहर की बातें सुन रहे हैं और ग्रामीण राजनीति में हिस्सा ले रहे हैं। हम उस तरों ताजगी का, उस विश्राम का और उस इतमीनान का जो इन कृषकों को दिन-भर की दौड़ धूप और वेगार के बाद नसीब हुआ था तथा उस विश्राम का जो दिन भर के थके मादे बैलों को शाम के बख्त नसीब हुआ था अनुभव होन लगा। उसके साथ साथ कृषकों की पददलित दशा उनकी व्यथा उनकी बेबसी, इस विश्राम में भी इस शांत दशा में भी किसी भूली हुई चिन्ता और किमी बीती हुई मुमीबत की याद की तरह दिल को तड़पा गई। लेखक ने अपनी तरफ से इस विश्राम, इस चिन्ता और दुख की कोई लम्बी चौड़ी व्याख्या नहीं की। उसने किसानों की बातचीत ज्यों की त्यों लखनीबद्ध कर दी और जिस तरह फूल से सुगन्ध अपने-आप निकलती है, उसी तरह हम यह चिन्तामय विश्राम और विश्राममय चिन्ता भी शाम की धीमी हवा के साथ साथ बहती हुई नजर आती है। शाम के सन्नाटे में लखनपुर में चन्द किसानों की अलाव के किनारे ये सोधी साधी बातें, यद्यपि स्वयं एक साधारण घटना मालूम होती है लेकिन एक अज्ञात रूप से वे हम यह कहती हुई मालूम होती हैं कि आगे आगे देखिये होता है क्या। जिस तरह किसी आघात के समय दम का रुक जाना फूट फूट कर रोने की भूमिका है उसी तरह शांत बातचीत, यह सन्नाटा किसी आने वाले तूफान का पता देता है।"²⁰ इस उठान

के बाद लखनपुर के किसान और जमींदार ज्ञानशकर के आपसी सम्बन्ध और सघर्ष की कहानी आ गई है। इस उपन्यास का मुख्य विषय है—किसान और जमींदार का सम्बन्ध, और प्रेमचन्द इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जमींदारी प्रथा के खत्म होने से ही किसान खुशहाल हो सकता है। किसान का अगर कोई सबसे बड़ा शत्रु है—तो वह है जमींदार और उसके कारिंदे।

प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम' में वह सब कुछ कह देना चाहते हैं जो वे मोचते समझते हैं, या जिसका उन्हें अनुभव है। वे समाज की बुनियादी और गैरबुनियादी समस्याओं पर अपनी राय देते हैं सभी वर्गों के आपसी सम्बन्धों उनके रहन सहन, आचार विचार की विस्तृत और सूक्ष्म जानकारी पाठक को देत चलते हैं। जिस समय प्रेमचन्द ने यह उपन्यास लिखना शुरू किया उस समय उनकी उम्र 38 वर्ष की थी, फिर भी एक युवकोचित उत्साह उपन्यास में दिखाई देता है। प्रेमचन्द लाला प्रभा-शकर की पाक कला का वर्णन करते हैं तो करते ही चले जाते हैं। एक बार ज्ञानशकर का रायसाहब के साथ नैनीताल भेज दिया—वहाँ बड़े विस्तार से प्रेमचन्द ने उच्च अधिकारियों की जीवन पद्धति का वर्णन कर डाला वहीं रायसाहब की योग साधना और महंफिल का वर्णन है, कहीं गायत्री और ज्ञानशकर के प्रेम का वर्णन है, तो वहीं बकीलों और डाक्टरों के कारनामों का वर्णन है। सर्वत्र वही उत्साह है। जिस लगन से बालक अपने हमजोनियों का नए खिलौने दिखाता है उसी उत्साह से प्रेमचन्द पात्रों और परिस्थितियों का वर्णन करते चल जाते हैं। कथा बीच में छूट जाती है प्रवाह खंडित हो जाता है, अप्रत्याशित घटनाएँ आती चली जाती हैं—पर प्रेमचन्द की युवा कलम ठहरने का नाम नहीं लेती। उसे ऐसा अच्छा खजाना मिल गया है जिसे निकालकर ही वह दम लेगी। प्रेमचन्द के उपन्यास बन्द मुट्ठी के खुलने के समान धीरे धीरे खुलते हैं और पूरी हथेली खुल जाने के बाद वे उस एकदम बन्द कर देते हैं। 'प्रेमाश्रम' का 'उठान' जितना जबरदस्त है अन्त में उतना ही कमजोर है क्योंकि शुरुआत में धीरे धीरे और खत्म करने में जल्दबाजी।

'प्रेमाश्रम' में किसानों के जीवन का वर्णन कम है और दूसरे वर्ग के लोगों के साथ उनके सम्बन्ध कैसे हैं? इसका वर्णन ज्यादा है। मनोहर अपने घर में कैसे रहता है दुश्चरन कैसे हन चलाता है, खाना कैसे बनाता है, किसान चलता कैसे है—किसान जीवन के इस बाध पक्ष का प्रस्तुतीकरण प्रेमचन्द ने प्रसंगात् यदा-कदा ही किया है। उनकी नजर इस बात पर रहती है कि डिप्टी ज्वालासिंह के दोरे के समय किसानों की क्या हालत होती है, गोम खाँ के सामन सुबलू चौधरी कैसे खड़ा है, पुलिस से वादिर मियाँ कैसे बात करता है, इजाफा लगान का दावा कैसे चलता है—जैसे विषय और समस्याएँ 'प्रेमाश्रम' में ज्यादा महत्वपूर्ण हैं।

वास्तव में 'प्रेमाश्रम' के केन्द्र में किसान के महत्त्व की प्रतिष्ठित करने की भावना है। प्रेमचन्द बलराज के मुँह से उपन्यास की मुख्य भावभूमि को इस तरह रखते हैं, 'तुम लोग तो एस हँसो उड़ात हो, मानो काश्तकार कुछ होता ही नहीं। वह जमींदार की बेगार ही भरने के लिए बनाया गया है, लेकिन मरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि रूस देश में काश्तकारों का राज है, वह जो चाहते हैं करते

है। उसी के पास कोई और देश बलगारो है। वहाँ अभी हाल की बात है काश्तकारो ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानो और मजदूरो की पचावत राज करती है।²¹ सारा उपयास इस वकन-व्य के इद गिन घूमता है और इसीको पुष्ट करता है कि किसान ही सब कुछ है उसमें बड़ी ताकत है।

किसान की इस वास्तविक शक्ति की स्थापना के साथ ही प्रेमचंद ने यह सवाल उठाया है कि किसानो के दोस्त कौन हैं और दुश्मन कौन हैं? इस सारे सवाल को प्रेमचंद ने अनुभवपरक धरातल से उठाया है। किसान के दुश्मन कौन हैं—यह किसान से ज्यादा सही और कौन बता सकता है। प्रेमचंद ने बौद्धिक ऊँचाई से यह मिथ नहीं किया है कि राजसत्ता ही शोषण कर रही है। उन्होंने शोषण की ऊँची मीनार से नहीं उसकी जड़ से देखा है। प्रमाथम में किसान का पहला शोषक चपरासी गिरधर महाराज है। चपरासी राज्य व्यवस्था का सबसे छोटा हिस्सा है परंतु उसके तवर देखिए। छिप्टी ज्वाला सिंह जैसे सज्जन पुरुष का चपरासी गाँव वालों से कहता है—भैंस हमारे सामने लाओ दूध तो हमारा चपरास निकालता है। हम पत्थर से दूध निकाल लें। चोरा के पेट तक की बात निकाल लें हैं भैंस तो फिर भैंसें हैं। इस चपरास में वह जादू है कि चाहे तो जंगल में मगल कर दें। लाओ भैंसें वहाँ खड़ी करो।²²

अधिकारियों के जब दोरे होते हैं तब यही चपरासी गाँव के एकमात्र भाग्य-विधाता बन जाते हैं। किसी की लकड़ियाँ उठा लाये किसी का चारा उठा लाये, दूध दही घी मुफ्त में ले आये दुकान से मुफ्त सामान खरीद लाये कोई पूछने वाला नहीं। प्रेमचंद ने अक्सर पाते ही इन चपरासियों के अत्याचारों का वर्णन किया है साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इनको तनख्वाह इतनी कम मिलती है जिसमें गुजारा ही नहीं होता। इसी कारण ये अत्याचार करने पर मजबूर हो जाते हैं।

चपरासियों से किसानों का सीधा सम्बन्ध है। इसी तरह दूसरा पक्ष है कारिदा। लखनपुर का कारिदा गोम खाँ ही वहाँ का जमींदार है। ज्ञानशंकर भी गोस खाँ की आँखों से ही गाँव का देखता है। चाहे जिसके जूते लगवा दे वेगार तो उसका अधिकार है ही। गोस खाँ चतुर है। वह गाँव के बड़े किसानों को मिलाकर अन्य किसानों पर अत्याचार करता है। वह लगान लेता है पर सभी किसानों को रसीद नहीं देता। किसी से डाँड किसी पर बेदखली तो किसी पर इजाफा लगान का दावा—यह सब महत्वपूर्ण निणय कारिदा ही करता है। किसान इसी की पूजा करके अपना मतलब निकालने की कोशिश करते हैं। गोस खाँ ने ही लखनपुर के सामूहिक चारागाह में पशुओं के चरने की मनाही कर दी थी और उसी के इशारे से फौजअल्लाह ने मनोहर की पत्नी विलासी को धक्का दिया था। स्वाभिमानों मनोहर इसका बदला लेता है और गोस खाँ की हत्या कर देता है। इस हत्या के आरोप में सारे लखनपुर का सजा दिलायी जाती है। स्वाधीनता आंदोलन के राजनीतिक नेताओं ने यूँ तो किसानों और जमींदारों के आपसी संघर्ष पर ही परदा डालने का प्रयास किया है—पर जमींदारों के कमचारियों के अत्याचारों की ओर तो

उनकी दृष्टि कभी गयी ही नहीं। यह रचनाकार प्रेमचंद की यथार्थवादी दृष्टि है जिसने शोषण के इस चक्र में सबसे छोटी कड़ी—कारिदा और चपरानी को भी देख लिया था।

प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' में जमींदारों की पारिवारिक स्थिति का चित्रण भी विस्तार से किया है। लाला जटाशंकर और प्रभाशंकर—दोनों भाई पुराने जमींदार थे। जटाशंकर की मृत्यु के बाद उपन्यास की शुरुआत होती है। जटाशंकर के प्रेमशंकर और ज्ञानशंकर दो पुत्र हुए। प्रेमशंकर अमेरिका गया था। ज्ञानशंकर बी० ए० पास करके जमींदारों के घरे में जुटता है। लखनपुर गाँव का मालिक यही ज्ञानशंकर बनता है, यही उपन्यास का मुख्य पात्र है।

प्रेमचंद ने एक धूँलित व्यक्ति के रूप में ज्ञानशंकर को चित्रित किया है। उन्होंने ज्ञानशंकर में सभी सम्भावित दुर्गुण दिखाये हैं। प्रेमचंद साहित्य के अध्येताओं ने भी इसे इसी रूप में ग्रहण किया है। वास्तव में उसके जीवन में एक बड़ा भारी अन्तर्विरोध है। वह प्रवृत्तियों से पूँजीवादी व्यक्ति है, लेकिन उसे सामंती (जमींदारी) जीवन जीना पड़ता है। वह जायदाद को शान की दृष्टि से नहीं देखता बल्कि लाभ की दृष्टि से देखता है। वह अपनी जमीन को बीघों के रूप में नहीं गिनता, बल्कि आमदनी की रूप्यों के रूप में गिनता है। रायसाहब (उसके ससुर) और गायत्री (साली) की जायदाद को भी वह रूप्यों के रूप में ही गिनता है। प्रेमचंद ने दिखाया है कि अपनी स्वार्थी मनोवृत्तियों के कारण उसमें पारिवारिक प्रेम भी नहीं बचा है। वास्तव में इसका कारण उसकी सीमित आमदनी भी था। वह नये जमाने का जमींदार था और इस कारण प्रभाशंकर के समान 'उदारता' बरत ही नहीं सकता था, क्योंकि यह 'उदारता' अपने अस्तित्व की कीमत पर होती। प्रेमचंद किसानों की तरह ही सोचते थे कि पुराना जमींदार नया जमींदार में अच्छा होता है क्योंकि शोषण के बावजूद पुराने जमींदार में किसानों के लिए आरक्षितता की भावना भी होती है। वह किसान का शोषण तो करता है, लेकिन उन्हें तबाह नहीं करता। इसी दृष्टि से प्रेरित होकर उन्होंने प्रभाशंकर को तुलनात्मक रूप में उपस्थित किया है। ज्ञानशंकर अपने एकांत क्षणों में मोचता है कि 'इस जमींदारी का घुरा हो। इसने मुझे कहीं का नहीं रखा।'²³ वह उद्यागपति तो नहीं बन पाता लेकिन वह जमींदारी को ही 'उद्योग' बना देने का प्रयास करता है और इजाफा लगान का दावा भी करता है। प्रेमचंद अनुभव से इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि ऐसे लोग जमींदारी ही करते हैं। भारत में औद्योगीकरण का प्रग्रेज विरोध कर रहे थे अतः मानसिक परिवर्तन के बावजूद ज्ञानशंकर में वास्तविक परिवर्तन नहीं हो पाता।

'प्रेमाश्रम' का सबसे कमजोर हिस्सा वह है, जहाँ प्रेमचंद ने ज्ञानशंकर और गायत्री की प्रेम-कहानी लिखी है। यह प्रसंग ज्ञानशंकर के चरित्र की मूल प्रवृत्तियों से अलग है। ज्ञानशंकर का नैतिक पतन दिखाने के लिए ही इस प्रसंग को इतना खींचा गया है। यह प्रसंग उपन्यास की मूल कथा से भटका हुआ है। पूरी प्रेम-कहानी सामान्य मनोवैज्ञानिक जानकारी के आधार पर गड़ी हुई और कृत्रिम जान पड़ती है।

इस अरमान का बदल। लेने के लिए कारिदा गोस खाँ की हत्या कर देते हैं। इस नाटक में भी हलधर की पत्नी राजेश्वरी को सबलसिंह अपने यहाँ रखता है और हलधर भी उसी शीघ्र भाव से बदला लेना चाहता है। यह नैतिक समस्या दोनों कृतियों में मौजूद है जो कृति को कमजोर बनाती है। यह सवाल सामतवाद का परिणाम है, कारण नहीं।

नाटक के अंत में दिखाया गया है कि जमींदारी खत्म कर दी गई है—किसी सपर्प से नहीं बल्कि जमींदार के आत्मज्ञान में। निष्कर्ष यह कि जमींदारी व रहते हुए—चाहे वह जमींदार कितने ही भते और न्यायप्रिय क्यों न हो—कितानो की दशा में सुधार नहीं हो सकता। प्रेमचन्द ने इस ऐतिहासिक सत्य को देख लिया कि जमींदार अतिरिक्त घोस हैं और उनको किसी न किसी तरह से नष्ट होना ही है। 'प्रेमाश्रम' में मायाशंकर का भाषण प्रेमचन्द के इन विचारों का स्पष्ट रूप से सामने रखता है।

'प्रेमाश्रम' के प्रकाशन के बाद तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में खूब बहस चली। मार्च 1923 की 'प्रभा' में श्री हेमचन्द्र जोशी ने 'साहित्य' कला और प्रमाश्रम शीर्षक लेख लिखा, जिसमें उन्होंने कला की दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' का कमजोर रचना साबित किया। रघुपति सहाय ने विश्व के महान उपन्यासकारों से प्रेमचन्द की तुलना की थी, जोशी ने प्रेमचन्द को सबसे कमजोर बताया। 'प्रेमाश्रम' की प्रस्तावना में बाबू रामदास गोड ने लिख दिया था कि 'शरत बाबू प्रेमचन्द जी की तुलना दबी जवान से रवीन्द्रनाथ ठाकुर से कर गए'। अब मामला इस वाक्य के सत्यासय पर आ टिका। रामदास गोड ने जोशी का जवाब लिखा, फिर 'माधुरी' में जनार्दन प्रसाद झा ने प्रेमचन्द के पक्ष में लिखा जोशी ने फिर इसका खंडन किया। यह पूरी बहस बहुत महत्वपूर्ण है और हिंदी आलोचना के विकास की दृष्टि से अब भी इसका महत्त्व है। अंत में जुलाई 1923 की 'प्रभा' में एक लेख छपा 'साहित्य कला और प्रमाश्रम'—लेखक साहित्य। इस लेख की भाषा और उसमें दिय गये तर्कों से लगता है कि यह टिप्पणी स्वयं प्रेमचन्द ने ही लिखी होगी।

प्रेमचन्द ने इस काल में कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं। इनमें बूढ़ी काकी (अक्टूबर 1921), आत्माराम (जनवरी 1920), त्यागी का प्रेम (नवम्बर 1921), ब्रह्म का स्वाग (1921) दपनरी (जनवरी 1920), विषम समस्या (मार्च 1921), पुत्र प्रेम (जून 1920) और मनुष्य का परम धर्म (मार्च 1920) आदि मुख्य हैं। ये सारी कहानियाँ वर्तमान स्थितियों पर व्यंग्य हैं। किसी स्पष्ट राजनीतिक प्रतिबद्धता के अभाव में सारी कहानियाँ एक हल्की-सी चुटकी लेकर रह जाती हैं। 'जीवन में क्या ही बिडबना है' का भाव उनको पककर पैदा होता है। 'मनुष्य या परम धर्म' में ब्राह्मण के पेटपन की हास्य का आलवन बनाया गया है। 'विषम समस्या' में एक ऐसे चपरासी के चारित्रिक परिवर्तन को दिखाया गया है जो अपना स्वाभाविक ग्रामीण भोलापन छोड़कर शहरी वाइयापन ग्रहण करता है। आत्माराम का महादेव सोनार भी भाग्य परिवर्तन से बदल गया और बूढ़ी काकी तो वर्तमान वास्तविकता का ट्रेजिक उदाहरण है ही। इनमें चरित्र की दृष्टि से सबसे खरा और ठोस चरित्र

चूड़ी बाकी और महादेव सोनार (आत्माराम) का है। दपतरी और पुन प्रम' पारिवारिक जीवन की कहानियाँ हैं। चली आ रही पारिवारिक परंपरा में पूजीवादी मूल्यों में जो टाजिक तनाव पैदा किया है—यह इन दोनों कहानियाँ हैं। इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि इस दौर तक गांधीजी और स्वाधीनता आंदोलन का प्रभाव प्रमचंद की रचना-दृष्टि पर नहीं पड़ा था। उनमें देश-दशा का सुधार की स्वाभाविक आकांक्षा थी और उन्होंने उसी के अनुसार साहित्य लिखा।

असहयोग आंदोलन और रंगभूमि

स्वदेशी आंदोलन की समाप्ति के करीब दम चपों का बाद काग्रम न फिर एक निष्पाद्य लड़ाई छड़ी। इसका नतीजा महात्मा गांधी ने किया। सितम्बर 1920 में काग्रम में बलवत्ता का विशेष अधिवेशन में अहिंसात्मक असहयोग का नया कार्यक्रम मंजूर किया। अधिवेशन में मो० आर० दास एनीबोमेट लाला लाजपत राय जैसे नेताओं ने इस कार्यक्रम का विरोध किया। नवम्बर 1920 में नागपुर अधिवेशन में इसका समर्थन इन लोगों ने भी किया। गांधीजी ने कहा कि सरकार का राज्य हमारा सहायक पर निर्भर है अतः किसी भी सरकार से सहायक बन कर दो तो बारह महीने के अंदर ही स्वराज्य मिल जाएगा। सरकार को नोकरियाँ बरहोरी व स्कूल का बहिर्वास इसका मुख्य अंग था। इस कार्यक्रम का भारतीय जनता पर प्रतिकारी प्रभाव पड़ा। इसी आन्दोलन में गांधीजी बुद्धिजीवियों साहित्यकारों और राजनेताओं के निर्विवाद नेता बन गए। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने राजनीति में गांधीजी का प्रवेश पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि गांधीजी ताजी हवा का उस प्रबल प्रवाह की तरह थे, जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना और गहरी मांस लेना संभव बनाया। वह रोशनी की उम्र चरणों की तरह थे जो अधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आत्मा के सामने संप्रद को हटा दिया। वह उस बवंडर की तरह थे जो जिम्मे बहुत सी चीजों को खासतौर से मजदूरों के दिमाग को उलट पुलट दिया। गांधीजी ऊपर से आए हुए नहीं थे बल्कि हिंदुस्तान के करोड़ों आदिमियों की आवाजों में से ही उपज थे। उनकी भाषा वही थी जो आम लोगों की थी और वह बराबर उस जनता की ओर और उसकी डरावनी हालत की ओर ध्यान आकर्षित करते थे। उन्होंने कहा कि तुम लोग जो किसानों और मजदूरों के शोषण पर गुजर करते हो उनके ऊपर सहायता जाओ उस व्यवस्था को जो गरीबी और तकलीफ का जड़ है दूर करो। तब राजनैतिक आजादी की एक नई शकल सामने आई और उसमें एक नया अर्थ पैदा हुआ। उनकी ज्यादातर बातों को हमने आंशिक रूप में माना और कभी कभी तो बिल्कुल ही नहीं माना। लेकिन यह सब एक गौण बात थी। लेकिन ब्रिटिश राज्य के अंदर हिंदुस्तान में जो सबसे अहम लहर थी उसमें डर—कुचलन वाला दम घोटने वाला मिटा देने वाला—डर था—पौज का पुलिस का चारा तरफ फैल गए खुफिया विभाग का डर था अफमरो की जमात का डर था कुचलन वाला कानूनों और जेल का डर था जमींदारों के बार्निंग का डर था साहूकार का डर था बेकारी और भूखे मरने का डर था जो हमेशा ही नजदीक बने रहते थे। चारों तरफ समाये हुए इस डर के ही खिलाफ गांधी की शांत किंतु दृढ़ आवाज

उठी— डरो मत ! क्या यह ऐसी आसान बात थी ? नहीं । फिर भी डर के अपने कल्पना चित्र होते हैं और व असलियत से भी ज्यादा डरावने रहते हैं और अगर ठंड दिमाग से असलियत का विश्लेषण किया जाय और उसका नतीजा का खुशी से भुगतने को तैयार रहा जाय तो उसका बहुत सा आनन्द अपने आप खत्म हो जाता है । ²⁷

यह बचडर गोरखपुर भी पहुँचा और प्रमचन्द ने अपनी 25 वष पुरानी नौकरी छोड़ दी । नौकरी के साथ उनका तीस साल पुराना रोग—पचिश भी खत्म हो गया । इस अनुभव में प्रमचन्द भाग्यवादी बने ।²⁸ वह नौकरी छोड़कर कुछ दिन गोरखपुर में ही रहे वहाँ पोद्दार जी के साथ उन्होंने चर्खा सघ चलाया और बाद में वह लमही चले आये । 21 जून, 1922 को प्रमचन्द मारवाड़ी स्कूल कानपुर चले आये । साल भर यहाँ काम किया पर यहाँ प्रमचन्द की निभी नहीं । अतः बनारस से निकलने वाली पत्रिका मर्यादा में काम किया । वहाँ से काशी विद्यापीठ में नियुक्त हुए । थोड़े दिनों बाद इन नौकरी का भी छोड़ दिया । 1923 में सरस्वती प्रस की स्थापना की । प्रस की परेशानियों और आमदनी के अभाव के कारण गंगा पुस्तक माला लखनऊ में लिटरेरी असिस्टेंट का पद संभाला । कुछ दिनों यहाँ रहकर फिर बनारस आ गए । इस तरह प्रमचन्द के जीवन का यह काल अस्थायी रहा है । पर इस दौर में प्रमचन्द ने अपने श्रेष्ठ साहित्य का एक बड़ा भाग लिखा है । प्रमचन्द की 16 फरवरी 1921 को सरकारी नौकरी खत्म हो गयी । कई वष बाद प्रमचन्द ने एक प्रशस्तिक को बताया— मैं भली भाँति समझ गया था कि सरकारी नौकरी में जी हजुरी और पोषेपन के सिवा कुछ नहीं है । आत्मसम्मान आत्मज्ञान आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास का तो यहाँ चूहे इल्ली का सबध है । परिस्थिति से लाचार होकर पहने तो मैं इस विषय को पीकर इसी की ज्वाला दबाता रहा पर असहयोग आन्दोलन की हवा लगत ही वह हठातः भभक उठी । मैंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया और असहयोग का सनिक बना । ²⁹

रगभूमि बचला के अलावा उन्होंने डरो कहानियाँ लिखी— जिनमें शतरंज के खिलाड़ी मुक्तिमाग सवा सर गेहूँ आदि बहुत प्रसिद्ध हैं । इस युग के साहित्य की सबसे बड़ी शक्ति है आशावाद । असहयोग आन्दोलन की पुष्टभूमि में लिखी हुई कहानियाँ और उपन्यास इस आशावाद से ओत प्रोत हैं । इस दौर के साहित्य का केन्द्रीय भाव है—स्वाधीनता छायावाद और प्रमचन्द का साहित्य इस जमीन पर एक जगह मिलता है । परिमल की भूमिका में निराला ने घोषित किया था कि

मनुष्या की मुक्ति की तरह कविता का भी मुक्ति होती है । मनुष्या की मुक्ति कर्मों के बधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छटा के शासन से अलग हो जाना । जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह भी दूसरे के प्रतिकूल आचरण नहीं करता उसके समान कार्य औरा के प्रसन्न करने के लिए होता है—फिर भी स्वतंत्र इसी तरह कविता का भी हाल है । मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनधिकारी नहीं होता प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है । ³⁰ यहाँ आकर साहित्यकार बुद्धिजीवियों और राजनीतिक नेताओं ने निष्कर्ष निकाला कि हम मात्र दश का उद्धार करना नहीं

चाहते—मात्र उसकी उन्नति नहीं चाहते, बल्कि देश को आजाद कराना चाहते हैं, क्योंकि 'स्वराज्य' के बिना देश की उन्नति नहीं हो सकती। पराधीनता में देशों या न की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः हमारा मुख्य शत्रु अंग्रेजी साम्राज्यवाद है। अब तक यह साम्राज्यवाद राजाशा, जमींदारों अधिकारियों की ओट में था, असहयोग आन्दोलन ने इस परदे को हटा दिया। प्रेमचन्द के सदर्भ में दूसरी जो महत्वपूर्ण चीज आई—वह थी साहित्यिकता। 'सोजेवतन' जन्म हो जान के बाद रचनाकार प्रेमचन्द को एक धक्का लगा और इसके साथ 'साहस-हीनता' भी आई। इस कारण उन्होंने अपन साहित्य की धारा को मोड़ दिया और राजनीतिक भावनाओं की जगह सामाजिक समस्याएँ प्रमुख रूप से उनके साहित्य में आने लगीं। असहयोग ने उस पुगने 'साहस' को वापस लौटाया और उन्होंने मीधे-सीधे राजनीतिक साहित्य लिखा। 'रणभूमि' में मि० कर्नाक की उपस्थिति उसी साहस का प्रतिफलन है। उनकी कई कहानियाँ में यह साहस देखने को मिलता है। 'राज्य भक्त', 'अधिकार-चिन्ता', 'चक्रमा' और 'सत्याग्रह' जैसी कहानियाँ में साम्राज्यवाद को नग्न रूप में चित्रित किया गया है। इसके साथ ही उनके आदर्श चरित्रों में भी पुन शक्ति आई। लाला गोपीनाथ की जगह 'बोडम' और 'मूरदास' सशक्त चरित्र आने लगे।

इस आन्दोलन की लहर गांव में भी पहुँची और चौपाल की गप शप में राजनीतिक चर्चाएँ शामिल होने लगीं। गांव के परम्परागत सघणों और मनमुटावा पर राष्ट्रीय आन्दोलन ने प्रभाव डाला। इस प्रसंग पर प्रेमचन्द ने 'लाग-डार्ट' (जुलाई 1921) कहानी लिखी।

प्रेमचन्द की कहानियों में अधिकांश पात्रों की एक चिन्ता सताती रहती है—कुल मर्यादा की रक्षा। 'लाग डार्ट' के भगत जब राज्यभक्त हुए तब योगा ने उनकी बड़ी भर्त्सना की। इस प्रसंग में उनके दिमाग में जो पहली बात आयी वह यह थी कि "धिरवाला से जिस कुल-मर्यादा की रक्षा करते आये थे और जिस पर अपना सर्वस्व अर्पण कर चुके थे, वह घूल में मिल गई।" 31 यह कुलमर्यादा की चिन्ता अपठ ग्रामीणों में ही नहीं, 'हार की जीत' के शिक्षित समुदाय की भी है, 'ग्रह का स्वाग' के वकील साहय की भी है। इस नष्ट होती हुई कुल-मर्यादा का गहरा एहसास और इसकी पीड़ा इन कहानियों में व्यक्त हुई है। जाति-प्रथा के टूटते आधार और नये सामाजिक संघर्षों के रूप से यह समस्या सामने आई। प्रेमचन्द ने बड़ी आत्मिक पीड़ा से दिखाया है कि इस युग में कुल-मर्यादा की रक्षा करना कितना कठिन काम था। उसकी बहाना तो बहुत दूर की बात है। कुल-मर्यादा की चिन्ता पुरतन्त्री, जमींदारों, ब्राह्मणों और पामापथी संघों में ही नहीं यह चिन्ता आधुनिक शिक्षा प्राप्त नवयुवकों, वकीलों, अध्यापकों और छात्रों तक में है। सेवा और राष्ट्रीय कार्यों के बावजूद कुल की निंदा गूँगना कितना असह्य है, यह 'आदर्श विरोध' के बालकृष्ण मेहता की आत्मपीडा में देखा जा सकता है।

इस दौर में प्रेमचन्द ने एक कहानी लिखी—'अधिकार चिन्ता' (अगस्त 1922)। इसमें उन्होंने टामी नामक एक कुत्ते की कहानी लिखने के बहाने अंग्रेजों के भारत-प्रवेश, भारत पर अधिकार करने और अंत में उसी अधिकार की रक्षा

की चिंता में मरते हुए दिखाया गया है। कहानी अंग्रेजी साम्राज्यवाद के पतन की घोषणा करती है। असहयोग आन्दोलन के दौरान व्यापारियों की भूमिका पर उन्होंने 'चकमे' (नवम्बर 1922) नामक मार्मिक कहानी लिखी। विदेशी माल बेचने वाली दुकानों पर धरना दिया जा रहा है, मठ चन्दमूल पिछले तीन महीने से परेशान है। "कठिन समस्या थी। इस सफट से निबलने का कोई उपाय न था। व देखते थे कि जिन लोगों ने प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर कर दिये हैं, वे चोरी छिप कुछ न कुछ विदेशी माल बेच ही लेते हैं। उनकी दुकानों पर पहरा नहीं बैठता।" 32 तब सठजी की वणिक् बुद्धि ने एक ऐसी योजना बनाई कि कांग्रेस के प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर भी न करना पड़े और पहरा भी उठा दिया जाय। एक दिन उन्होंने कांग्रेस के वालटियरों को डाटा पुलिस वालों ने सेठ की शह पाकर धक्के दना शुरू किया। शोर-गुल मचा तो सठ कांग्रेस के पक्ष में बोलने लगे। पुलिस उन वालटियरों को पकड़कर ले गयी और सेठ जी से गवाह दान को कहा। सठ ने इन्कार किया इससे कांग्रेस वाल 'चकमे' में आ गये और पहरा उठा दिया। दूसरे दिन स उन्होंने विदेशी माल बेचना शुरू कर दिया। इसी तरह उन्होंने 'स्वतन्त्रता' नामक असहयोगी घाड़े की कहानी लिखी, जिसमें रविवार को काम करने से इन्कार कर दिया था। कैसे वह अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अड गया और उसके मालिक को हार माननी पड़ी।

असहयोग आन्दोलन जब जन चेतना का अंग बनने लगा, तब एक तो सरकारी अत्याचार बढ़ा, साथ ही एक ऐसे नये नेतृत्वकारी वर्ग का उदय हुआ जिसको सरकारी अत्याचार के साथ आम जनता के उपहास और व्यंग्य का भी सामना करना पड़ रहा था। ये ईमानदार कार्यकर्ता स्वार्थी दुनियादारा के बीच बोर्डम के रूप में जान लगे। 'बोर्डम' (अप्रैल 1923) का नायक मुहम्मद खलील अपना दर्द कहता है, 'लागा की बारबार के सिवा न दीन में गरज है न दुनिया में। न मुल्क में, न कीम में। मैं अखबार मगाता हूँ, स्मर्ता फंड में कुछ खर्च भेजना चाहता हूँ। खिलाफत फंड को मदद करना भी अपना फर्ज समझता हूँ। सबसे बड़ा सितम है कि खिलाफत का राजाकार भी हूँ। इसीलिए घर और बाहर मुझे बोर्डम का लकब दिया गया है।' 33 वह सबके साथ बराबरी का बर्ताव करता है, भजदूरा से सहानुभूति रखता है अपने चाचा के चमारिन में पैदा हुए लडका को अपने साथ खिलाता है कुर्बानी का विरोध करता है और सबसे बड़ी बात सत्य और न्याय के लिए लड़ता है। कहानी का मार यह है कि आज के युग में 'जो स्वार्थ पर आत्मा को भेंट कर देता है, वह चतुर है, बुद्धिमान है। जो आत्मा के सामने सच्चे सिद्धान्त के सामने सत्य के सामने स्वार्थ की, निन्दा की परवाह नहीं करता वह बोर्डम है, निर्बुद्धि है।' 34

अभी असहयोग आन्दोलन चल ही रहा था कि प्रेमचन्द ने एक लख लिखा— 'वर्तमान आन्दोलन के रास्ते में रुकावट' (दिसम्बर 1921)। इस लेख में उन्होंने असहयोग आन्दोलन के सामूहिक और नैतिक प्रभाव को रेखांकित किया उसकी शक्ति को स्पष्ट किया साथ ही आगे आने वाली उन कठनाइयों का भी जिक्र किया, जिससे असहयोग आन्दोलन बन्द करना पड़ा। इस दृष्टि से पहली रुकावट उन्होंने

बलायी शांति-भग होने की आशका, क्योंकि इससे अतत राज्यसत्ता को ही कायदा होने वाला था। दूसरी रकावट 'बुद्धि और अतरात्मा का वैर' बताई। इसमें नये जमाने और पुराने जमाने का संघर्ष निहित है। गांधी जी और स्वयं प्रेमचन्द का चिंतन इस संदर्भ में प्रतिबिंबित होना है। बुद्धिवादियों के कारण जीवन-संग्राम इतना भीषण हो गया है, औद्योगीकरण से गरीबी बढ़ी है, अमानवीयता बढ़ी है, सरलता की जगह काश्चापन आया है, "सरल जीवन के समर्थक फिर उसी प्राचीन प्राकृतिक जीवन का दृश्य देखना चाहते हैं जब मनुष्य को अपनी वृत्तियों के संस्कार और अपने आचार को परिष्कृत करने के अस्तर मिलते थे और वन ईर्ष्या द्वेष में न जाता था, जब वह प्राकृतिक भोजन करता था, प्राकृतिक पानी पीता था, प्राकृतिक बपट पहनता था, जब धन एश्वर्य का विभाजन इतना विषम न था, जब ध्वापार का नशा इतना जानलेवा न था, जब मनुष्य इतना स्वार्थी न था।" 36 तीसरी आशका प्रेमचन्द ने यह प्रकट की थी कि उमा उमा आन्दोलन आगे बढ़गा जमींदार और पूँजीपति काप्रेस से दूर ही नहीं हटेंगे—उसके विरोधी भी बनते चले जायेंगे। यह आशका काप्रेस के सामने भी थी—अतः बार-बार गांधीजी ने जमींदारों के पक्ष में श्रयान दिया और जब आन्दोलन बन्द किया तब अलग से जमींदारों को आश्वासन दिया गया कि वह जमींदारों का अहित नहीं हाने देंगे, 36 इसके अलावा प्रेमचन्द ने एक नाजुक मामले के रूप में हिन्दू-मुस्लिम एकता का रखा। उन्होंने चलावनी दी कि 'हिन्दू मुस्लिम एकता का मतलब निहायन नाजुक है और अगर पूरी एहतियात और धीरज और जल्द और रवादारी से काम न लिया गया तो यह स्वराज्य के आन्दोलन के रास्ते में बड़ी रकावट माजित होगा।' 37 प्रेमचन्द की चेतावनी के दो महीने बाद चोराचोरी में हिंसक घटना घटती है। वहाँ किसानों की उत्तेजना भीड़ ने धान में आग लगा दी। इस घटना के तुरंत बाद 12 फरवरी, 1922 को गांधीजी ने आन्दोलन रोक दिया।

इस राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्द ने 1 अक्तूबर, 1922 से 'रंगभूमि' लिखना शुरू किया, 12 अगस्त, 1924 तक पूरा लिख दिया। पुस्तक जनवरी 1925 में प्रकाशित हो गयी। यह उपन्यास भी पहले उर्दू में लिखा गया, लेकिन छपा हिंदी में पहले। इस दृष्टि से यह उनका अन्तिम उपन्यास है जो पहले उर्दू में लिखा गया है। इस उपन्यास के बीज प्रेमचन्द को एक अंधे भिखारी में मिले। "वाराणसी में इस समय एक और विवाद भी चल रहा था। इसकी पृष्ठभूमि थी सरकार द्वारा शिवपुर के पास खेती की जमीन को टका के दाम लेकर उद्योगपतियों को देना। जिन लोगों की जमीन हथियाई गई थी उन्हें बड़ा शोक आया था। इसका प्रभाव जनता पर भी पड़ा। कुछ समालोचकों का विचार है कि इस वाद विवाद की लेकर ही प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' लिखा।" 38

जा भी हो, प्रमाथम के बाद प्रेमचन्द ने साहित्य के नये धरातल की खोज और नये चरित्रों की जांच का साहस दिखाया। देश में पहला संगठित राजनीतिक आंदोलन हुआ, संघर्ष हुआ। लोग जल गये, जुलूस निकले लाठी चार्ज हुई, पिटाई हुई। कुल मिलाकर प्रजापक्ष एक तरफ, राजसत्ता दूसरी तरफ हुई। जीवन खेल का (युद्ध का)

मैदान बना। ऐसी हालत में प्रमाथ्रम में जब तक बैठा जा सकता है। मायाशक्ति विलय बनकर आया। इस तरह उप्यास का नामकरण हुआ—रगभूमि। प्रमाथ्रम में युवकोचित उत्साह था यह उत्साह कम हुआ। अब समझदारी के साथ कलात्मक समय आया। भाषण और चिंतन की जगह चरित्र और स्थिति का केन्द्र में आयी। नैतिक आग्रह छटा और पूजीवाद का साक्षात्कार किया गया। इस उप्यास के केंद्र में मि० जानसेवक का सिगरेट का कारखाना है। वही वायदे से इस उप्यास का नायक भी है। प्रमाथ्रम में किसान और जमींदार का सम्बन्ध मुख्य है जबकि रगभूमि में देहात और शहर का सम्बन्ध मुख्य है। यहाँ पर मुख्य शत्रु बदन गया है। मि० कलाक के सामन चतारी के राजा साहब खिलोना मात्र हैं। रगभूमि की शुरुआत हाती है

शहर अमीरों के रहने और क्रय विषय का स्थान है। उसके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनाश की जगह है। उसके मध्य भाग में उनके लड़का की पाठशालाएँ और उनके मुकम्म बाजी के अछाड़ होते हैं जहाँ गाय के बहान गरीबों का गला घोंटा जाता है। शहर के आसपास गरीबों की बस्तियाँ हाती हैं। बनारस में पाटपुर ऐसी ही बस्ती है। 39

यह शुरुआत बताती है कि आगे आने वाली कथा में शहर और गाँव के आपसी रिश्ते की पहचान होगी औद्योगिकरण और शहरी जीवन के दुष्प्रभावों की भर्त्सना की जायेगी और इसके बावजूद देहात को उजड़ते मिटते दिखाया जायगा। कुल मिलाकर सरल भाषा में एक मानसिक चिंता पाठक के मन पर पढ़ने ही बावय से डाल दी गई है जो इस उप्यास के दुःखान्त होने की पूर्व सूचना है।

रगभूमि की शुरुआत के बाद मि० जानसेवक का परिवार का दृश्य सामने आता है। इस परिवार का जीवन उप्यास में बहुत महत्वपूर्ण है। ये ईसाई हैं इसमें यह ध्वनित होता है कि ब्रिटिश अधिकारियों से मेलजोल और भारतीय सम्प्रदाय सस्कृति के प्रति घणाभाव इनमें सहज रूप से है। जानसेवक की पत्नी इसका साक्षात् रूप है। जानसेवक उद्योगपति है—यह महाशय सिगरेट का कारखाना खोलना चाहते हैं। इससे एक तो लखक का औद्योगिकरण के प्रति विरोध भाव प्रकट होता है दूसरे इस बात की ओर भी ध्यान जाता है कि भारत में औद्योगिकरण की शुरुआत प्राथमिक महत्त्व के आधारभूत उद्योगों से नहीं हुई बल्कि उपभोग और विलास सामग्री उत्पन्न करने वाले कारखाने खुल। जानसेवक की पुत्री है—सोफिया—यह भावुक और विचारशील है। उसका चरित्र हिंदू आदर्शों का अनुरूप है। वह सामाजिक जीवन में व्यक्तिवाद के प्रवेश की घोषणा है। उसके जीवन का आधारभूत सिद्धांत है—विचार स्वातंत्र्य। सामंती प्रथाओं और सामाजिकता के विरुद्ध यह विचार स्वातंत्र्य आधुनिक मानव की उद्घोषणा है। इसमें महत्वपूर्ण बात यह है कि वह उद्योगपति जानसेवक की पुत्री है किसी राजा या जमींदार की नहीं। मि० जानसेवक का एक पुत्र है—प्रभुसेवक। यह कुल मिलाकर भावुक कवि है। कम शक्ति का इसमें अभाव है ललित छटा में अपनी भावुक कल्पनाएँ लिखा करता है। जानसेवक का पिता ईश्वर सेवक है वह जितने स्वार्थी हैं उतने ही धार्मिक भी हैं।

मिसेज सेवक में धार्मिक कट्टरता सबसे ज्यादा है। सोफिया का उनसे नित्य झगडा रहता है। यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि सोफिया ने अपना घर इसलिए छोड़ दिया क्योंकि यहाँ उसकी विचार-म्वतंत्रता में बाधा पहुँचती थी। सोफिया को हिन्दू-घरानों की उदारता आकृष्ट करती है। यह आकर्षण मात्र सोफिया का नहीं है बल्कि पश्चिमी सभ्यता के विरुद्ध भारतीयता के हमी युगोन बुद्धिजीवी का भी है।⁴⁰

सोफिया विनय से प्रेम करती है। वह भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेती है। मि० क्लार्क के साथ भी वह कुछ दिन रहती है—पर वह उससे धृष्टा करती है। उससे शादी होने वाली है, पर होती नहीं। उपन्यास के अंत में वह आत्महत्या कर लेती है। उसका चरित्र अपने में बहुत कमजोर है, पर दूसरे चरित्रों की खूबियाँ और खामियाँ सोफिया की उपस्थिति से प्रकट होती रहती है।

लेकिन मारा उपन्यास मि० जानसेवक के इशारा पर चलता है। वह धुन का पक्का है। उसे मूरदास की जमीन लेनी है। क्लार्क से उसकी मित्रता है, कुवर भरतसिंह को हिस्सेदार बना लिया है, राजा महेन्द्रप्रताप का भी दोस्त है। उसका एक एक वक्तव्य उसके व्यक्तित्व की शक्ति को प्रकट करता है। पाडेपुर के निवासियों को वह मूरदास से अलग कर देता है। म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन राजा महेन्द्र प्रताप क्लार्क का रुख देखकर मूरदास की जमीन जानसेवक को दे देते हैं। सोफिया क्लार्क से इस आज्ञा को निरस्त करवा देती है। इस नवीन परिस्थिति पर मि० जानसेवक के घर में विचार विमर्श हो रहा है। प्रभुमेवक का बहि-हृदय जमीन लेने के पक्ष में नहीं है, पर जानसेवक की बातों में उसका जीबट ओर भारतीय पूजीवाद की आवाज गूँजती है।

“हाँ, बहुत अच्छी बात है, हम सब मिलकर उस अग्ने के पास चलें और उसके पैरों पर सिर झुका दें। आज उसके डर से जमीन छोड़ दूँ, कल चमड़े की आदत तोड़ दूँ, परसा यह बगला छोड़ दूँ, और इसके बाद मुँह छिपाकर यहाँ से लड़ाई न बही चला जाऊँ। क्यों, यही सलाह है न ? फिर शांति ही शांति है, न किसी से झगडा। यह सलाह तुम्हें मुबारक रहे। ससार शांति भूमि नहीं, समर भूमि है। यहाँ वीरों और पुरुषाधियों की विजय होती है, निर्बल और कायर मारे जाते हैं। मि० क्लार्क और राजा महेन्द्रकुमार की हस्ती ही क्या है, सारी दुनिया भी इस जमीन को मेरे हाथों से नहीं छीन सकती। मैं सारे शहर में हलचल मचा दूँगा, सारे हिन्दुस्तान को हिला डालूँगा। अधिकांशियों की स्वेच्छाचारिता की यह मिसाल देश के सभी पक्षों में उद्घृत की जाएगी, कॉमिलो और सभाओं में एक नहीं, सहस्र-सहस्र कठों से घोषित की जायगी और उसकी प्रतिध्वनि अंग्रेजी पार्लियामेंट तक में पहुँचेंगी। यह स्वजातीय उद्योग और ध्ववसाध का प्रश्न है। इस विषय में सभस्त भारत के रोजगारी, क्या हिन्दुस्तानी क्या अंग्रेज, मेरे सहायक होंगे, और गवर्नमेंट कोई इतनी निर्वुद्धि नहीं है कि वह ध्ववसाधियों की मर्मिलित ध्वनि पर कान बन्द कर ले। यह व्यापार-राज्य का युग है। योरोप में बड़े-बड़े शक्तिशाली साम्राज्य पूँजीपतियों के इशारों पर बनते बिगड़ते हैं, किसी गवर्नमेंट का साहस नहीं कि उनकी इच्छा का

विरोध करे। तुमने मुझे समझा क्या है, वह नरम चारा नहीं है, जिसे ब्लाक और महेन्द्र खा जाएंगे।”⁴¹

सयत भाषा में जानसेवक की यह दृढ़ आवाज रंगभूमि में गूँजती रहती है। इसके बाद जानसेवक नयी ब्यूह रचना करता है जिसके अनुभार राजा महेन्द्र को ब्लाक के खिलाफ खड़ा करता है और ‘स्वदेशी’ पत्रों से ब्लाक की आलोचना करवाता है। अधिकारियों की शिकायतें होती हैं, शिष्ट-मंडल भेजे जाते हैं, डा० गांगुली व्यवस्थापिका में सवाल उठाते हैं—जिसका परिणाम यह होता है कि जमीन मि० जानसेवक को फिर मिल जाती है और मि० ब्लाक को उदयपुर रियासत का पोलिटिकल एजेंट बनाकर भेज दिया जाता है। घर्म के मामले में भी उसकी समझ एकदम साफ है वह उसे केवल ‘स्वार्थ संगठन’ मानता है। ठाठ से सिगरेट का कारखाना खुलना है और सूरदास की एक् नहीं चलती। जानसेवक अपने रण-कौशल से शत्रु को अलग-अलग करके मारता है। वह सरकार के पक्ष में रहना थ्येस्कर समझता है, चुनाव में खड़ा होना चाहता है, स्वदेशी का प्रचार करता है। वह पाण्डपुर बस्ती को भी अतः में खाली करवा देता है, गोलियाँ चलती हैं, आन्दोलन होता है, पर मि० जानसेवक अपनी धुन के पक्के साबित होते हैं। उपन्यास के ट्रेजिक अन्त में अगर कोई व्यक्ति उसी साहस और शक्ति के साथ जिन्दा है तो वह है मि० जानसेवक।⁴²

‘रंगभूमि’ में सूरदास के चरित्र की विशिष्टता की आलोचकों ने खूब दाद दी है। अमृतराय ने उसे गांधी का प्रतीक बताया है। वास्तव में जिस तरह ‘प्रेमाश्रम’ के केन्द्र में प्रेमाश्रम नहीं बल्कि ज्ञानश्रम है उसी तरह ‘रंगभूमि’ के केन्द्र में सूरदास न होकर मि० जानसेवक है। सूरदास की उपस्थिति उपन्यास की शक्ति है क्योंकि वह रचनात्मक और सार्थक मूल्यों की प्रतिभा है पर पात्र की दृष्टि से वह कमजोर पात्र है। वह सक्रिय पात्र नहीं है। प्रेमचंद ने मन लगाकर सूरदास की प्रतिभा को खड़ा किया है। कितनी भी बड़ी हस्ती से बिना डर के भिड़ जाना सूरदास की शक्ति है। श्री हसराम रहबर ने लिखा है कि ‘लेकिन प्रेमचंद ने, जाने या अनजाने, गांधीवादी के इस प्रतीक को अन्धा दिखाया है, जो वस्तुस्थिति से आखिरी मूर्ख और अपन आप में डूबकर लड़ता रहता है। मगर प्रेमचंद तो यथार्थवादी थे, उनकी आँखें बन्द नहीं थी। इसलिए आदर्शों के मुकाबले में उन्होंने अतः में यथार्थ ही की जीत दिखायी है। बहुत हुए पूँजीवाद के सामने सामन्तयुग की पुरानी व्यवस्था और उसकी मान्यताएँ ठहर नहीं सकती। सत्याग्रह आन्दोलन के बावजूद पाण्डेपुर उजड़ जाता है और वहाँ जानसेवक का कारखाना लगता है। स्वयं सूरदास अपनी हार स्वीकार करता है—‘तुम जीते मैं हारा।’ इसके विपरीत गांधीवादी सत्याग्रही की हार को हार नहीं मानता। सूरदास के चरित्र की यह असंगति प्रेमचंद की अपनी असंगति है।’⁴³

सूरदास के पास करीब दस बीघे जमीन थी, जिस पर मुहल्ले की गाय भैसे चरती थी। इस जमीन से उसे कोई आमदनी नहीं होती थी। वह उस जमीन का मान इसीलिए बचाए रखना चाहता है क्योंकि वह बाप-दादों की निशानी है। इस

‘निशानी’ को बचाने के लिए वह प्रयास ही नहीं करता, बल्कि मर-मिटता है। यह जिद सामंती है। मि० जानसेवक इसको छीनना चाहते हैं। इसका मनमाना दाम भी देना चाहते हैं। वैसे तो शहर में कितने ही बड़े-बड़े बगले हैं, और भी जमीन है—पर जानसेवक उसी जमीन को लेना चाहते हैं जो सामन्ती सम्पत्ति का प्रतीक बन गयी है। जानसेवक और सूरदास का यह सघर्ष वैयक्तिक नहीं रह जाना बल्कि वह पूँजीवाद और सामंतवाद का मघर्ष बन जाता है। इससे उपन्यास में ‘प्रातिनिधिकता’ तो आ गई है पर उपन्यास के रचना कौशल में जानसेवक का यह हठ कई बार ‘कनविशिस’ नहीं लगता।

पाडेपुर के निधासी किसान नहीं है। भँरो ताड़ी बेचता है, जगधर खोमचा लगाता है, बजरंगी दूध बेचता है। सूरदास भीख मागता है। नायकराम श्रद्धालु भक्तों पर आश्रित है। ये सब लोग देहाती हैं। वास्तव में सूरदास को मात्र अपनी जमीन चली जाने से विरोध नहीं है बल्कि कारखाने के लिए जमीन बेचन से विरोध है। बेचने से उतना विरोध नहीं जितना कारखाने से है। उसे गाँव के नष्ट हो जाने का भय है। सूरदास राजा महेन्द्र को कहता है —“सरकार बहुत ठीक कहते हैं, मुहल्ले की रोक जरूर बढ जायेगी, रोजगारी लोग को फायदा भी खूब हागा। लेकिन जहाँ यह रोक बढेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो परचार बढ जायगा, कमबियाँ भी तो आकर बस जायेंगी, परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों का घूरेंगे, कितना अघरम हाँगा। देहात के किसान अपना काम छोडकर मजूरी की लालच में दौडेंगे, यहाँ बुरी बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरण अपन गाँव में फैलायेंगे। दिहातो की लडकियाँ, बहूएँ मजूरी करने आयेंगी और यहाँ पैस के लोभ से अपना घरम बिगाडेंगी। यही रोक शहरों में हैं। वही रोक यहाँ हो जायेगी। भगवान न करे, यहाँ वह रोक हो। सरकार, मुझे इस कुचरम और अघरम में बचाएँ। यह पाप मेरे निर पडेगा।” सूरदास की चिंता, विरोध और सारे सघर्ष का आधारभूत दर्शन यह जीवन दृष्टि है। प्रेमचन्द की सारी सहानुभूति और चेतना सूरदास के साथ है।

सूरदास जीवन को खेल का मैदान समझता है, उसके नियमों और कायदों का पालन करता है। अन में इसी भावना के साथ मर भी जाना है। बलाकं सूरदास को मौनी मार देता है। मरते मरते सूरदास के मुख में भावी सघर्ष का सकल्प निखलता है। अमहयोग आन्दोलन की हार के बावजूद जो आशावाद प्रेमचन्द जैसे बुद्धिजीवियों और जनता में बच गया था उसकी अभिव्यक्ति इस तरह की गयी है

“बग-याग, अब मुझे बगो मारते हो। तुम जीते, मैं हारा। वह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझमें गैलते नहीं बना। तुम मगे हुए खिलाडी हो, दम नहीं उछडता, खिलाडिया को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उल्हाह भी छू है। हमारा दम उछड जाता है, हाँपने लगते हैं और खिलाडियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मार-पीट करत हैं, कोई किसी को नहीं मानता। तुम खेलते में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। बग, दलना ही फरक है। तालियाँ बगो बजाते हो, यह

तो जीतने वालों का धरम नहीं। तुम्हारा धरम तो है हमारी गीठ ठोकना। हम हारे तो क्या, मँदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाधलो तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार हारकर तुम्हीं से खेलना सोखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी। 45

सूरदास की यह ऐतिहासिक भविष्यवाणी मृत्यु सिद्ध हुई और इसके छ वर्ष बाद फिर अंग्रेजी साम्राज्यवाद स जवदस्त सघर्ष हुआ और अंत में भारतीय जनता की जीत हुई, देश आजाद हुआ।

इसके अलावा उन्ग्याम में कुंवर भरत सिंह का परिवार है। सोफिया घर से निकलकर उन्ही के यहाँ पहुँचती है। यहाँ पर भी कुछ प्रतिनिधि चरित्रों का दर्शन हाते हैं। रानी आहू नदी क्षत्राणी है। वह प्राचीन सामंती शौर्य का प्रतिमा है। उसकी जीवनदर्ष्टि पुनरुत्थानवादी है। अपने पुत्र विनय को वह आदर्श राष्ट्र सेवक बनाना चाहती है। वह अपनी पुत्री इन्दु की आदर्श हिंदू पत्नी बनने का उपदेश देता रहती है। अंग्रेजों से मेल जोल रखना वह जातीय अपमान समझती है। विनय का एक घास तरह की शिक्षा दी जाता है। वह सेवा समिति बनाता है और जनता की भलाई करता है पर अंततः या तो अकस्मिक मारित होता है या राज्यसत्ता का (उदयपुर में) दाहिना हाथ बन जाता है। दश सवक होते हुए भी उसमें धर्म और सहनशीलता का अभाव है। वह सोफिया से प्रेम करता है पर उसमें इतना नैतिक माहम नहीं है कि वह अपनी माँ के सामने खड़ा हो सके। डा० गांगुली व्यवस्था-पिका में जाते हैं। कई वर्ष तक काम करने के बाद अंत में वह भी निराश हो जाते हैं। विनय आत्महत्या कर लेता है (किस अंदाज में बलिदान कर रहा है) और गांगुली का मोहभंग होता है। पाडेपुर का सघर्ष आग कैसे बढे—इसका बोध किसी को नहीं है।

इस उपवास में इन्दु के पति राजा महेन्द्र कुमार का चरित्र बहुत महत्वपूर्ण है। वे साम्राज्यवाद के भीतर काम कर रहे राजाओं की वास्तविक दशा का नमूना हैं। प्रेमचन्द ने बताया है कि यद्यपि वे सिद्धान्त प्रिय हैं वह सम्मान लोलुप भी हैं। यही उनके पतन का कारण भी है। क्षत्रिय हैं पर कायर हैं। उनके पास अपनी कोई शक्ति नहीं—वे मर्यादा के शून्य हैं। कलाक राजा साहब के चरित्र पर बहुत उपयुक्त टिप्पणी करता है—

युह ! उनमें इतना नैतिक साहस नहीं है। वह जो कुछ करते हैं हमारा मुख देखकर करते हैं। इस वजह से उन्हें कभी असफलता नहीं होती। हाँ उनमें यह विशेष गुण है कि वह हमारे प्रस्तावों का रूपान्तर करके अपना काम बना लेते हैं और उन्हें जनता के सामने ऐसी चतुरता से उपस्थित करते हैं कि लोगों की दृष्टि में उनका सम्मान बढ़ जाता है। हिंदुस्तानी रईसों और राजनीतिज्ञों में आत्मविश्वास का बड़ा अभाव होता है। वे हमारी सहायता से वह कर सकते हैं जो हम नहीं कर सकते पर हमारी सहायता बिना कुछ भी नहीं कर सकते। 46

इन राजा साहब का पतन सबसे ज्यादा कारुणिक होता है क्योंकि वे जो

चाहते हैं वह होता नहीं और जो नहीं चाहत है—वही होता है। उपन्यास के अंत में सूरदास की प्रतिमा के नीचे दबकर मर जाते हैं।

जिलाधीश मि० क्लार्क का चित्रण भी इस उपन्यास में उत्तम हुआ है। उसकी कार्यक्षमता, राजनीतिक दृष्टि, सूझबूझ, अंग्रेजी की स्थिति का यथावत वर्णन किया गया है। देशी रियासतों का वर्णन भी इस उपन्यास में यथास्थान है। प्रेमचन्द क्लार्क से साम्राज्यवादी ब्रिटेन की नीति की घापणा या करवाते हैं—

‘अंग्रेज जाति भारत को अनंत काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाए रखना चाहती है। कजरबटिख हो या लिबरल रडिकल हो या लेबर, नेशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट इस विषय में सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं।’ 47

इसके अलावा ताहिर अली के संयुक्त परिवार की कठिनाइयाँ का वर्णन है और सुभाषी का वर्णन है, नायकराम की करतूतों का जिक्र है आतंकवादी बीरपाल सिंह की गतिविधियाँ हैं तथा और भी अनक छोटे माटे प्रसंग हैं। इस सब में जगधर और भैरो का चरित्र बहुत स्पष्टता से उभरकर सामने आया। विनय और सोफिया की प्रेम कहानी अत्यंत कमजोर और कृत्रिम है।

इस उपन्यास में असहयोग आन्दोलन की एक झलक भी है। सूरदास को ज़ापड़ा गिराने के मामले का लेकर जनता में उत्साह है गोली चलती है जनता में आत्मबलिदान का उत्साह है और पुलिस के सिपाही अनुचित आज्ञा मानने से इन्कार करते हैं। प्रेमचन्द ने धोराचित गरिमा से इस प्रसंग का वर्णन किया है। 48

कुल मिलाकर उपन्यास का अंत ट्रेजिक रहा और सचप में जानसेवक की, अंग्रेजी साम्राज्यवादी क्लार्क की, यानी की शहर की यानी साम्राज्यवाद की जीत हुई। सूरदास विनय अर्थात् देहात (भारत) पराजित हुआ। सूरदास को गोली मार दी गई, विनय और सोफिया ने आत्महत्या कर ली, राजा महेन्द्र मूरदास की प्रतिमा के नीचे दब मरे ईश्वर सेवक मर ही गये थे। बचे खुषा में मिसेज़ सेवक की बुद्धि-भ्रष्ट हो गई, इन्दु माँ के पास चली आयी, प्रभु सेवक अमेरिका चला गया, गांगुली ने त्यागपत्र दे दिया, कुवर भरत सिंह फिर भोग विलास में लिप्त रहने लगे। इस सारे क्षण-फसाद में अगर कोई व्यक्ति बचा है तो वह भूतनाथ की तरह अकला जानसेवक।

प्रेमचन्द ने इस बीच विशाल कहानी साहित्य भी लिखा। सम्भवतः प्रेमचन्द ने सबसे अधिक कहानियाँ 1924 में लिखीं। इन कहानियों में विषय की विविधता और मज़ेदगी है। इस साल प्रेमचन्द ने अपनी पिछली रचनात्मक परम्परा, कहानियाँ की विषय वस्तु और रचना के उद्देश्य पर पुनर्विचार किया। उनके आदर्शवाद का दबाव इस वर्ष की कहानियाँ में नहीं बरबराता है। इस वर्ष उन्होंने जीवन की वास्तविकता के विविध रूप दिखाए। नये विषय ही नहीं आए बल्कि ‘पुराने’ विषयों पर भी नवीन दृष्टि डाली।

किसान जीवन पर तीन महत्वपूर्ण कहानियाँ इसी साल लिखी गयीं— मुक्तिमार्ग (अप्रैल 1924), मुक्तिघन (मई 1924) और सदा सर गेहूँ (नवम्बर 1924)। अब तक की किसान सम्बन्धी कहानियों से ये कहानियाँ आगे बढ़ी हुई हैं। ‘प्रमाश्रम’ में किसान और जमींदार का सम्बन्ध मुख्य है ‘रंगभूमि’ में देहात और

शहर का सघर्ष है, 'पंच परमेश्वर' में नय जीवन मूल्यों के स्थान पर परम्परागत मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा है, 'लाग डाट' में असहयोग आन्दोलन का प्रभाव है। इन सब रचनाओं में गाँव जीवन के प्रति बाहरी—शिक्षित दृष्टि डाली गयी है। शिक्षित जनो को सदुपदेश और किसानों की दीन-दशा का वर्णन उनमें मुख्य स्थान पाता था। 'मुक्तिमार्ग' में न तो उपदेश है और न मुधार की कामना है। यहाँ प्रेमचन्द ने किसान का साधारण और वास्तविक जीवन चित्रित किया है। इस कहानी में किसान और किसान का सम्बन्ध है। झीगुर किसान और बुद्धू गड़रिय के आपसी सम्बन्ध और मनमुटाव इस कहानी के केन्द्र में हैं। खेत के पकने के साथ किसान में गर्व का उदय होता है और फसल नष्ट होने के साथ ही वह भी मुरझा जाता है। एक छोटी-सी बात पर दोनों में झगडा होता है। बुद्धू झीगुर व खेत में ऊँच लगा देता है और झीगुर उस पर गऊ हत्या का आरोप लगवा देता है। दोनों तबाह होकर मजूर हो गये। प्रेमचन्द ने कहानी के अन्त में दाना उसी के पुराने भाई-भारे का दृश्य दिखाया है। दोनों साथ खाना खाते हैं और अपना-अपना अपराध स्वीकार करके हुक्का पीकर सो जाते हैं।

प्रेमचन्द ने 'मुक्तिधन' में दिखाया है कि किसान के लिए सती करना कितना मुश्किल होता जा रहा है। उनमें यह नैतिक चिंता बराबर विद्यमान थी कि किसानों को किस तरह बचाया जाय। इसके लिए बदहाली का कारण को जानना जरूरी है। 'मुक्तिधन' और 'मया सेर गेहूँ' इस कारण प्रक्रिया के खोज की कहानियाँ हैं। दोनों कहानियाँ के किसान अंत में मजूर बन जाते हैं। 'सवा सर गहूँ' में इसका कारण बताया है—महाजन को—जो धर्म की आड में शोषण करता है। 'मुक्तिधन' में प्रेमचन्द आदर्शवादी हो गये पर 'सवा सर गेहूँ' का कज लेकर आजन्म गुलामी लिखाने वाले शकर की कहानी एकदम यथार्थवादी है। आगे चलकर इसी भावभूमि पर प्रेमचन्द ने 'गोदान' उपन्यास लिखा।

इसके अलावा प्रेमचन्द ने करीब 10-15 वर्षों बाद कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ लिखीं। इन कहानियों में देश प्रेम की भावुक ललकार नहीं थी, न बलिदान हो जाने की शौर्य-गाथाएँ ही—बल्कि अब एक नया इतिहास था और नयी दृष्टि भी। इन कहानियों में मुस्लिम साम्राज्य की विलासप्रियता और अकर्मण्यता में डूबे हुए मानवचरित्रों की दास्तान है। इन कहानियों में न तो दुख है और न पछतावा न दया, न ममता, बल्कि एक निर्मम काल परीक्षक की हैसियत से कहानियाँ उस युग के पात्रों को जिंदा करती हैं। इन कहानियों के पीछे यह सवाल खूँजता है कि आखिर अंग्रेज भारत पर कैसे अधिकार कर गये? परीक्षा (जनवरी 1923), राज्य भक्त (फरवरी 1923) वज्रपात (मार्च 1924), शतरज के खिलाड़ी (अक्टूबर 1924) आदि कहानियाँ मुख्य हैं। 'परीक्षा' में नादिरशाह कहता है—'जब किसी कोम की औरतों में गर्त नहीं रहती, तो वह कोम मुर्दा हो जाती है।'—अब यह सलतनत जिंदा नहीं रह सकती। इसकी हस्ती के दिन गिने हुए हैं। इसका निशान बहुत जल्द दुनिया से मिट जायेगा।'⁴⁹ 'शतरज के खिलाड़ी' इस दृष्टि से सर्वोत्तम कहानी है। इसका नापकरण विलासप्रिय भारतीय नवाबों और राजाओं की शान के उपयुक्त

ही है। देश दुनिया से बेखबर शतरंज के खिलाड़ी—मीर और मिरजा के प्रति पाठक सहानुभूति से भर उठता है। लेखक ने अपार करुणा भाव से प्रेरित होकर ही इन मरणासन्न चरित्रों को जीवित किया है।

जब असहयोग आन्दोलन खत्म हुआ, नव चौपाल और बैठक में हो रही राजनीतिक और सरप्राग्रह की चर्चाएँ भी बन्द हो गयी। उनके स्थान पर फिर घर गाँव के छोटे-मोटे झगड़े चर्चा के केन्द्र में आये। आभूषणों की चिन्ता सतान लगी। घर में चूल्हा—चक्की के साथ सास बहू की गालियों की भीठी झकार भी सुनायी पड़ने लगी। भोजन-पानी की चिन्ता से, घर के झगड़े बढ़ने लगे, तब हमारा कथाकार भी अपने उन पुराने विषयों पर फिर से लौट आया, जिसे उसने पिछले सात-आठ वर्षों से छोड़ दिया था। 'कौशल' (अगस्त 1923) और आभूषण (अगस्त 1923) में नारियों की स्वाभाविक आभूषण-प्रियता का वर्णन और उसके परिणामों की भयकरता है। गृहदाह (जून 1923), नैराश्य (जुलाई 1923), भूत (अगस्त 1924), उद्धार (सितम्बर 1924), निर्वासन (जून 1924) आदि कहानियों में हिन्दू-परिवारों में चल रही अत्यन्त प्रतिश्रियावादी रुढ़ियों और संस्कारों की भर्त्सना की गयी है। हिन्दू-समाज में नारी की स्थिति की भयानकता 'निर्वासन' और 'उद्धार' में है। बितनी ही मान्यताएँ इस समाज को नरक बनाए हुए हैं, उसका पर्दाफाश इसमें किया गया है। इन कहानियों से यद्यपि समाज-सुधार की भावना प्रकट होती है—पर अत्यन्त गौण रूप में, कहानी में मुख्य स्थान उन परिस्थितियों का ही है जिनसे हिन्दू परिवार में नारकीय जीवन बिताना पड़ रहा है।

साम्प्रदायिकता और प्रेमचन्द

असहयोग आन्दोलन जब खत्म हो गया, तब देश के राजनीतिक जीवन में फिर निराशा का प्रथम होने लगा। असहयोग ने जिन वर्गों और नताओं का मुलम्मा उतार दिया था, उन्होंने अपनी खोयी हुई प्रगति को फिर से पाने के प्रयास शुरू किये। कांग्रेस-खिलाफत गठबन्धन टूटा और हिन्दू महासभा ने 'शुद्ध आन्दोलन' चलाया। देश में पहली बार भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए। मुसलमान कुरबानी करने लगे, हिन्दुओं ने 'शुद्धि' करना शुरू किया। उस माहौल में साम्प्रदायिकता का ज्वर जनता और नेताओं में खूब फैला। रईसों, नवाबों, पुरोहिता और मुन्लाओं ने इसको बढ़ाया। कांग्रेस ने भी इन दंगों में दिलचस्पी लेनी शुरू की। कांग्रेस के नेताओं ने अवसरवादी रुख अपनाया। ऐसे काल में हिन्दू मुस्लिम एकता का झंडा लेकर प्रमचन्द उठे। उन्होंने 'जमाना' में 'मनुष्यता का अकाल' (फरवरी 1924) शीर्षक टिप्पणी लिखी और हिन्दुओं की राजनीतिक अनुदारता और संकीर्णता की भर्त्सना की। यही नहीं, कांग्रेस नेताओं को भी फटकारा

"मगर अपमोक्ष के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस ने भी समग्र रूप से इन आन्दोलनों से अलग-अलग रहने के बावजूद व्यक्तिगत रूप से उसमें शामिल होने में कुछ भी उठा नहीं रखा। इतना ही नहीं, एक भी जिम्मेदार कांग्रेस नेता ने ऐलान करके इन आन्दोलनों के खिलाफ आवाज बुलन्द करने का साहस नहीं किया। पंडित

मोतीलाल नेहरू प०, जवाहरलाल नेहरू लाला, भगवानदाम, लाला श्रीप्रकाश इन आदमियों में थे, जिनसे ज्यादा नैतिक साहस से काम लेने की आशा की जा सकती थी, मगर इन सभी लोगों ने एक रोज अपने विरोध और अपनी आशका को व्यक्त करके दूसरे रोज उसका खण्डन कर दिया और डके की चोट पर यह कहा कि शुद्धि और मगठन के बारे में हमने जो खयाल जाहिर किया था वह गलतफहमियाँ पर आधारित था ।' 50

प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में भी इस समस्या को स्थान दिया । उनके दिमाग में अब एक नैतिक चिन्ता यह भी रहने लगी कि किसी पात्र का धर्म क्या है । जीवन में अगर आपसी कटुता है तो क्या, प्रेमचन्द अपनी कहानियों के लिए ऐसे चरित्र खोज ही लाते हैं जिनमें आपसी प्रेम और सहृदयता ज्यों की त्यों मौजूद है । 'मुक्तिधन' और 'डिग्री के रुपये' (जनवरी 1925) में यह चिन्ता स्पष्ट देखी जा सकती है । 'डिग्री के रुपये' कहानी में कर्त्तव्य और प्रेम का द्वन्द्व है । शिक्षित युवकों के विरोधी विकास-क्रम को रेखांकित करने के लिए उन्होंने एक को सरकारी नौकर बना दिया और दूसरे को देश सेवक । एक हिन्दू और दूसरा मुसलमान बना । फिर भी नईम और कैलाश में मित्रता चलती रही । अन्त में कर्त्तव्य और प्रेम में संघर्ष हुआ, जिसमें प्रेम ने पराजित होकर भी अपनी विशालता में कर्त्तव्य को मगेट लिया । इसके अलावा प्रेमचन्द ने इस्लाम के इतिहास पर भी कुछ कहानियाँ लिखी, जिसमें मुसलमानों की न्यायप्रियता, देशभक्ति और दयालुता का चित्रण किया । 'क्षमा' और 'नबी का नीति निर्वाह' इसी ढंग की कहानियाँ हैं । इन कहानियों के अलावा प्रेमचन्द ने कर्बला की लड़ाई पर 'कर्बला' शीर्षक एक नाटक भी लिखा । इसमें उन्होंने कुछ हिन्दू पात्रों को भी सहयोगी के रूप में शामिल किया । ऐतिहासिक तथ्यों से प्रेमचन्द ने कर्बला संग्राम में हिन्दुओं की उपस्थिति को प्रमाणित किया । इस नाटक की बहुत आलोचना प्रत्यालोचना हुई । साम्प्रदायिक हिन्दुओं और मुसलमानों—दोनों ने इसका विरोध किया । प्रेमचन्द ने अपने विरोधियों को जवाब भी दिया ।

मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओं ने कुर्बानी के अपने अधिकार को इस्तेमाल करना शुरू किया । हिन्दूवादियों ने शुद्धि आन्दोलन चलाया और हिन्दू मगठन बनाने पर बल दिया । प्रेमचन्द ने दोनों प्रवृत्तियों में संघर्ष किया क्योंकि इनसे राष्ट्रीय एकता खण्डित होती है और स्वराज्य का दोलन कमजोर होता है । मन्त्र में उन्होंने शुद्धि आन्दोलन की निरर्थकता दिखायी । मन्दिर और मसजिद' (1925 ई०) में प्रेमचन्द ने चौधरी इतरतअली जैसे सद्भावनापूर्ण धार्मिक मुसलमान का चरित्र सामने रखा । वास्तव में हिमा परमाधर्म (दिसम्बर 1926) कहकर प्रेमचन्द ने दोनों सम्प्रदायों के इस झगड़े को उचित नाम दे दिया था । जीवन भर प्रेमचन्द इसमें संघर्ष करते रहे । उस युग में साम्प्रदायिकता की भावना कितनी प्रबल थी, इसका अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि निराला और रामचन्द्र शुक्ल जैसे समर्थ विद्वत् माहि-यकार भी इससे नहीं बच पाय थे । जो लोग इससे अप्रभावित थे, उनमें से अधिकांश ने मौन

रहने में ही अपनी कुशल समझी। अकेले प्रेमचन्द ने साहस पूर्वक इस धृष्टित मनोवृत्ति से सघर्ष का झंडा उठाया।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस साम्प्रदायिक विद्वेष का कारण असहयोग की अचानक समाप्ति का माना है। उन्होंने लिखा है 'यह भी संभव है कि इतने बड़े आन्दोलन को अचानक रोक देने से देश में एक के बाद एक दुःखद घटनाओं का क्रम शुरू हुआ। राजनीतिक सघर्ष में छिटपुट और निरर्थक हिंसा की प्रवृत्ति तो रुक गई किन्तु इस दबी हुई हिंसा को कोई रास्ता तो ढूँढना ही था और बाद के वर्षों में शायद इसने ही साम्प्रदायिक दंगा को बड़ावा दिया।' 51

असहयोग आन्दोलन की समाप्ति और प्रेमचन्द का रचनात्मक शैथिल्य

चौराचोरी की घटना के बाद गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन वापिस ले लिया। तब से लगाकर सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930 ई०) तक दश में राजनीतिक शक्तियाँ विघटन सगठन के दौर में थी। आन्दोलन समाप्ति के बाद देश में भीषण साम्प्रदायिक दंग हुए और इसी कारण अनेक साम्प्रदायिक सगठन बने। राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ की स्थापना भी इसी समय (1925 ई०) हुई। 'माधुरी' जैसी पत्रिकाओं ने पृथक हिन्दू सगठनों के लिए आवाज उठाई। इसके साथ ही आयसमाज ने 'शुद्धि आन्दोलन' भी चलाया। मुसलमानों में भी कुर्बानी का जोश नये सिरे से भड़का। इसके अलावा कांग्रेस से अलग मोतीलाल नेहरू जैसे दक्षिण पंथी नेताओं ने 'स्वराज्य पार्टी' का निर्माण किया। इन्होंने वैधानिक सघर्ष का रास्ता अपनाया। इन बीच मजदूर और किसानों के आन्दोलन भी हुए। रायबरेली और प्रतापगढ़ के किसानों ने आन्दोलन चलाये। जगह-जगह मजदूर सगठन भी बने। इसके अलावा 1925 में 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी' का भी जन्म हुआ और इन लोगों ने गांधीजी की नरम नीति की आलोचना की और अंग्रेजी राज्य से सघर्ष चलाया। कांग्रेस इस बीच पेशेपेश की स्थिति में थी। 1926 के बाद धीरे-धीरे राजनीतिक असंतोष फिर उभरने लगा और पंडित जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस के रूप में कांग्रेस को नया नेतृत्व मिला। धीरे-धीरे राष्ट्रवादी लोग कांग्रेस के आसपास फिर इकट्ठा होने लगे और नये सिरे से स्वाधीनता आन्दोलन छेड़ने की ठनी। सविनय अवज्ञा आन्दोलन इसी की अभिव्यक्ति था।

इस बीच प्रेमचन्द साहित्य में प्रतिष्ठित हो गये। उन्हें हिन्दी भाषी जनता ने 'उपन्यास-महाराज' की उपाधि दी। इस कारण उनमें अपनी कलम के प्रति अनिरिक्त आत्मविश्वास बढ़ा। यह आत्मविश्वास अपन साथ अमावस्यानी भी लाया, जिससे रचनात्मक शैथिल्य की मात्रा बढ़ी। उपन्यास-कहानियों में अवांछित घटना-प्रसंगों की मात्रा बढ़ने लगी। स्वाधीनता आन्दोलन में निराशा और असमर्थता आई, तो साहित्य में भी मयरता और स्थिरता का पदार्पण हुआ। नरमाह के स्थान पर टहरा हुआ व्यंग्य 1924 के बाद की कहानियों में मुख्य रूप से है। स्वाधीनता-आन्दोलन का जोश जब आत्मलोचना की आग में गलने लगा तब पता चला कि यह जोश बहुत कुछ खाली डोल पीटने का है—वास्तविक कार्य कम हुआ है, राजनीतिक चेतना कम बढ़ी है, पत्रों में उसकी चर्चा ज्यादा हुई है, चरित्तान कम हुए हैं, त्यागियों की मात्रा

वशक बढ़ गयी है। उससे बड़ी चीज तो यह हुई कि असहयोग आन्दोलन न जो मित्रता और मूल्य दिये थे—मनुष्य की स्वाध बुद्धि न उनको वयक्वित्व हित साधन व अस्त्र बना दिये है। प्रमचंद व मन म यह समयदारी विकसित हुई। फलतः अत्याचारी शासका और शोषकों पर व्यग्र करन उनके खिलाफ जोशीली आवाज बुलंद करन के बल रागनीतिक कायकर्त्ताओं को फिर से समन्वय का प्रयास होन लगा। दुश्मन को दोष देने के बदले अपन भीतर झांकन का प्रयास होन लगा। शत्रु को गाली दन व बदले अपनी सना का पुगटन ज्यादा श्रयस्कर नगन लगा। अतः प्रमचंद ने फिर स घर परिवार पति पनी के सबध पड़ित मोलकी क करतूत नेताओं म छुपे छुपैया चरित्रा को दखना शुरू किया। इस सारी प्रानया म तप कर आय हुए भारतीय नवयुवका को पहचानन का प्रयास भी उन्होंने किया। उन्होंने भारतीय सामाजिक परंपरा को देखा और पश्चिम के प्रभाव को महसूस किया तथा उनकी भ सना की। इस सारी बहम म जो छूट गया वह था—भारतीय किसान। प्रमचंद न सवा सर गेहूँ के बाद तीन चार वर्षों तक किसाना पर एक भी कहानी नहीं लिखी। इसक बाद एक कहानी आई—सुजान भगत (1927)।

किसानों के न आन स प्रमचंद व साहित्य म आंतरिक कमजोरी आयी—अतः रगभूमि के बाद प्रमचंद की कला म ह्रास हुआ है। रगभूमि की तुलना म कायाकल्प उनकी कमजोर रचना है। रचनाकार प्रमचंद को नई शक्ति सविनय अवज्ञा आन्दोलन स मिली। गबन (1931) इसकी मिसाल है।

प्रमचंद जब लखनऊ म ही था तब अलवर के राजा साहय ने उनको अपन पास रखन के लिए बुलाया। 400/ रुपये महीना मोटर और बगना दन को लिखा था। प्रमचंद न इकार कर दिया। उनके साहित्य सबधी दृष्टि म भी इस बीच विकास हुआ और उन्होंने उद्देश्यपरक रचना के महत्व पर प्रकाश डाला। उन्होंने उद्देश्य परक रचनाओं की अनिवार्यता पर बल देत हुए 1925 म लिखा

लकिन आगकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति स चल रही हैं इतन नये नये विचार पदा हो रहे हैं कि शायद अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान म रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि आधार पर इन परिस्थितिया का असर न पड वह उनसे आ दोलित न हो। यही कारण है कि आगकल भारत म ही नहीं योरोप के बहुत बड विद्वान भी अपनी रचनाओं द्वारा किसी न किसी बाद का प्रचर कर रह है।⁵⁹

प्रमचंद ने इस बीच बहुत कमजोर कहानियाँ लिखी हैं। पुराने विषय पुरानी शली और पुराने द्वन्द्व को बार बार प्रस्तुत करते रहने से उनम वह जान नहीं बची जा पहली बार प्रस्तुत करते समय मौजद थी। 1925-26 का कहानियों म यन् कम जोरिया मिलती है। ऐसा लगना है कि अभ्यस्त लेखक पुरानी कथा को दुहरा रहा है। इनम कुछ कहानिया राज्य अधिकारिया की अमानवीयता को प्रकट करती हैं। उन्हें प्रमचंद न भाड का टटट कहकर पुकारा। राजनीतिक कहानियों म सरलता और सच्चाई के व्यापक प्रभाव को संकेतित किया गया है। (मसलन—विश्वास अप्रल 1925)। प्रमचंद न इस बीच कुछ अनुभवपरक कहानिया लिखी—जिनम अपने

वचन को फिर से जिंदा करने का आत्मीय प्रयास है। वचन की घटनाओं पर लिखी गयी कहानियों की तरल आत्मीयता पाठकों के छू जाती है। चोरी (सितम्बर 1925), कजाकी (अप्रैल 1926), रामलीला (अक्तूबर 1926) आदि कहानियाँ इसी श्रेणी की हैं।

इसके अलावा प्रेमचन्द ने कुछ पारिवारिक जीवन की कहानियाँ भी लिखी हैं, जिनमें नारी की वास्तविक स्थिति को रेखांकित किया गया है। हिन्दू-समाज की रुढ़िया का विरोध किया गया है तथा 'सुखी परिवार' को समाज के आदर्श के रूप में सामने रखा है। 'नरक का मार्ग' (मार्च 1925) कहानी में वेमेल विवाह का परिणाम बताया है। 'लाछन' (अगस्त 1926) में पारिवारिक जीवन में सदह के दुष्परिणाम को बताया गया है। 'प्रेम-मूक' (अप्रैल 1926) में पुरुष के छेलापन पर व्यंग्य है। इसके बावजूद नारी के आदर्श रूप की प्रतिष्ठा की गयी है।

निर्मला

समाज में नारियों की स्थिति में प्रेमचन्द बहुत चिंतित रहे थे—अतः उन्होंने एक 'निर्मला'⁵³ नामक उपन्यास भी लिखा। इसमें वेमेल विवाह से उत्पन्न पारिवारिक परिस्थितियों का चित्रण है। पूरी पुस्तक हिन्दू-परिवार और उसमें नारी की विडंबना से ओतप्रोत है। आरंभ में निर्मला के बाल्य-जीवन, उसके परिवार की स्थिति, पिता की मृत्यु और इसी के परिणामस्वरूप मुंशी तोताराम जैसे अधेड़ वकील से शादी की घटनाओं का वर्णन है। गरीब व घर लड़की कैसे भार बन जाती है, दहेज में कैसे रकमें मारी जाती हैं—इसका यथावत् वर्णन है। प्रेमचन्द न दिखाया है कि दहेज का यह लोभ पुराणपथी पुराने लोगों में ही नहीं, शिक्षित नवयुवकों में भी है और यहाँ तक कि शिक्षित नवयुवकों में अधिक मात्रा में है। 'निर्मला' में भ्रूवन कहता है:

"कही ऐसी जगह शादी करवाइये कि दूब रुपये मिले। और न सही, एक लाख का डोल हो, वहाँ अब क्या खर्चा है। वकील साहब रहे ही नहीं, बुटिया के पास अब क्या होगा।" ⁵⁴

जिन वकील तोताराम से निर्मला की शादी होती है, उनके पहले ही तीन लड़के हैं—ममराम, जियाराम और सियाराम। वैसे बूढ़े मुंशीजी के मन में सन्देह उत्पन्न होता है, जिससे ममराम अकाल मौत मरता है, जियाराम चोरी करता है और घर में भाग जाता है, सियाराम को साधु भगा कर ले जाते हैं—इसका विस्तार में वर्णन किया गया है। तोताराम लड़के को खोजने जाते हैं, निर्मला मर जाती है। उपन्यास दृष्टान्त है। तोताराम इस निष्कर्ष पर पहुँच कि—'वास्तव में विवाह के बन्धन में पड़ना ही अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारना था। हाँ, यही है सारे उपद्रवों की जड़' ⁵⁵ वास्तव में उपद्रव की जड़ विवाह नहीं, बल्कि अनमेल विवाह है।

निर्मला मरते-मरते स्वर्ग की अपनी लड़की माँपते हुए कहती है:

"बच्ची को आपकी गोद में छोटे जाती हूँ। अगर जीती-जागती रहे, तो किसी अच्छे कुम में विवाह कर दीजिएगा। मैं तो इसके लिए अपने जीवन में कुछ न कर

सकी, केवल जन्म देने भर की अपराधिनी हूँ। चाहे कवारी रचिएगा, चाहे विपदवार मार डालिएगा, पर कुपात्र के गले न मढ़िएगा, इतनी ही आपसे विनय है। ' 58

कायाकल्प 57

'कायाकल्प' प्रेमचन्द का अत्यंत कमजोर उपन्यास है। स्वाधीनता आन्दोलन जब कमजोर पड़ गया, तब हिन्दुस्तान के बौद्धिक वातावरण में निराशा छान लगी। 'कायाकल्प' में इस निराशा का एकछत्र राज्य है। 'रगभूमि' के सूरदाम की पराजय में भी एक जबर्दस्त आशावाद था, 'कायाकल्प' का अंत अत्यंत निराशाजनक है। असहयोग के बाद राज्यमत्ता का दमन बढ़ा, जिमसे यह निराशा गहरी होनी चली गयी। इसके अलावा उपन्यास को कमजोर करने वाला तत्त्व आध्यात्मिकता है। यद्यपि प्रेमचन्द ने हमेशा साम्प्रदायिक गण्यों की आलोचना की थी, फिर भी इस धार्मिक माहौल में उनके भीतर भी आध्यात्मिकता ने जड़ें जमा ली थी। 'रगभूमि' में विनय को जड़ी छूटिया में विश्वास हो जाता है। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में दो कहानियाँ कही हैं—एक अलौकिक, धार्मिक और दूसरी समसामयिक, राजनीतिक। दोनों कथाओं को चन्द्रधर के पुत्र शत्रुधर के माध्यम से मिलाने का प्रयास किया गया है। लेखक ने चन्द्रधर जैसे राजनीतिक व्यक्ति को भी अन्त होते होते एक दम धार्मिक साधु बना दिया है। 'रगभूमि' में उनकी चिन्ता थी कि सेवा समिति को कुवर भरतसिंह दवाइयाँ बाँटने वाली समिति बनाने पर क्यों तुने हुए हैं। यहाँ लेखक ने चन्द्रधर को धार्मिक कार्यकर्ता बना दिया है।

उपन्यास की धार्मिक कथा के केन्द्र में रानी देवप्रिया का भोग विलास है। वह इस कथा के माध्यम से पूर्व और पश्चिम को—धर्म और विज्ञान को मिलाना चाहते हैं। इसमें भोग और विज्ञान को मिलाकर चिर यौवन की कल्पना की गयी है। इसमें एक पहुँचे हुए साधु है जो पिछले जन्म में डारविन थे। अब उन्होंने हवाई जहाज बनाया है और वह चाँद पर जाना चाहते हैं। उन्होंने महेन्द्र को चिर यौवन की साधना सिखाई है। अलौकिक और पुनर्जन्म की कहानी—कायाकल्प को अत्यन्त कमजोर रचना बना देती है।

राजनीतिक कहानी के केन्द्र में चन्द्रधर है। उपन्यास के आरम्भ में आगरा में दंगे का वर्णन है। मुसलमान कुर्बानी करना चाहते हैं, हिन्दू विरोध करते हैं। इस तनातनी में चन्द्रधर वहाँ पहुँच जाता है और कुर्बानी रूकवाता है। चन्द्रधर किसानों के बीच काम करता है और अपने जीवन को सेवा कार्यों के लिए ही अर्पित करना चाहता है। यशोदानन्दन की पालित लड़की अहिंसा से उसकी शादी होती है। ये महाशय आगरा की हिन्दू महामभा के मंत्री हैं। दंगे में उनकी मृत्यु हो जाती है। यूँ तो चन्द्रधर अपने को बहुत उदार और प्रजा सेवक समझता है लेकिन जीवन-व्यवहार में वह अधिकतर प्रतिक्रियावादी और दक्षिणानुस साबित होता है। जैसे, यशोदानन्दन चन्द्रधर को आगरा ल जाना चाहते हैं ताकि अहिंसा और चन्द्रधर एक दूसरे को पसन्द कर लें तभी शादी हो। चन्द्रधर बड़े सकट में पड़ें। सिद्धान्त रूप से

वह विवाह के विषय में स्त्रियों को पूरी स्वाधीनता देने के पक्ष में थे, पर इस समय आगरे जाते हुए बड़ा सकोच हो रहा था। कहीं उसकी इच्छा न हुई तो ? "58

चक्रधर और अहिल्या की शादी हो गयी। दोनों इलाहाबाद में रहने लगे। अधिक तंगी थी, अतः अहिल्या ने लेख लिखा, उसका पारिश्रमिक उसे मिला, जिससे अहिल्या ने एक कम्बल खरीदा। चक्रधर ने लेख पढ़ा और पढ़कर "उनके अहंकार को धक्का-सा लगा। उनके मन में गृहस्थामी होने का जो गर्व अलक्षित रूप से बैठा हुआ था, वह चूर-चूर हो गया। वह अज्ञात भाव से बुद्धि में, विद्या में एवं व्यावहारिक ज्ञान में अपने को अहिल्या से ऊँचा समझते थे। रुपये कमाना उनका काम था। यह अधिकार उनके हाथ से छिन गया।"59

चक्रधर राजा विशालसिंह के यहाँ रहने लगे थे। एक दिन वे मोटर पर घूमने निकले कि रास्ते में एक साड़ आया। वह खुद तो मोटर छोड़कर पेड़ पर चढ़ गये लेकिन साड़ ने मोटर को उलट दिया। रात हो गयी थी, चक्रधर पास के गाँव में कुछ आदमियों को बुलाने गये। वहाँ के किसान ने सुबह चलन के लिए कहा। इस पर "चक्रधर को ऐसा क्रोध आया कि उसका हाथ पकड़ कर घसीट लूँ और ठोकर मारते हुए ले चलूँ," फिर भी उन्होंने धक्के मारकर दो लातें जमा दीं इससे उस व्यक्ति को काफी चोटें आईं और वह उसी मार से मर गया। बाद में उन्हें इसका पश्चात्ताप भी खूब होता है।

रानी देवप्रिया के चले जाने के बाद जगदीशपुर का राज्य ठाकुर विशालसिंह को मिलता है। उनके राजतिलक का उत्सव किया गया, जिसमें करीब पाँच लाख रुपये खर्च किये गये। ये रुपये किसानों से वसूल हुए। बेगारों को पकड़ा गया और यहाँ तक कि उन्हें भोजन भी नहीं दिया गया। इसी कारण कुछ लोग मर भी गये। अतः हम चमारों ने काम न करने की ठानी। वे घर जाने लगे, कर्मचारियों ने रोका। इसी मसले पर सघर्ष हुआ। अंग्रेजों ने करीब 100-125 आदमियों को मार डाला। भोधि तभी जब अंग्रेजों को मारने ही वाली थी कि चक्रधर बीच में आ गये और वह-मुनकर अंग्रेजों को छुड़ा दिया। उन्हीं अंग्रेजों ने चक्रधर को दो वर्ष की कठोर कारावास की सजा दिलायी।

इसी तरह जेल में दारोगा कैदियों को परेशान किया करता था। घन्ना सिंह और अन्य कैदी उगे सबक सिखाने को उतारू हो गये। यहाँ भी जब कैदी मार खाते रहे—चक्रधर इसको देखते रहे लेकिन ज्योंही कैदियों ने दारोगा को मारना शुरू किया—चक्रधर की अहिंसा जाग उठी। उमने दारोगा को बचा लिया। इस तरह चक्रधर के मिष्टान्त और व्यवहार में अंतर मिलता है और प्रेमचन्द ने निर्मम होकर इस अंतर को स्पष्ट किया है। हालांकि प्रेमचन्द की महानुभूति चक्रधर के साथ है, फिर भी उन्होंने इतनी तटस्थता बरती है। उपन्यास के अन्त में वह साधु हो जाते हैं और रानी मनोरमा के लिए चिड़ियाँ पकड़कर लाते हैं।

उपन्यास में विस्तार से राजा विशालसिंह के अत्याचारी शासन का वर्णन है। उनका विरोध करने वाली शक्तियाँ उपन्यास में एवदम नहीं हैं। कहीं आशा की किरण भी नजर नहीं आ रही है। लेखक की नज़र भी राजा विशालसिंह के राज-

पर अपनी जवान खोलने का साहस नहीं रखते, क्योंकि वे वास्तव में लीडर नहीं बल्कि जनता की रुचि के अनुगामी हैं। उनका अस्तित्व जनता की अधभक्ति दुर्बलता और भ्रष्टता पर निर्भर है, और वे कोई ऐसी बात नहीं कह सकते जिससे जनता उन्हें अपने से भिन्न समझने लगे। मनुष्य के देवता भी मनुष्य ही होते हैं चाहे उनके चार हाथ, पाँच सिर और तीन आँखें ही क्यों न हों। हमारे महामना शर्माजी दिल में चाहे विधवा विवाह को वर्तमान सामाजिक परिस्थिति में आवश्यक समझें, पर जुवान से नहीं कह सकते क्योंकि उनपर से जनता का विश्वास उठ जायेगा। जनता उन्हें अपने में पृथक् समझने लगेगी। बदकिस्मती से हमारे अधिकांश नेताओं में यह दुर्बलता बढमूल हो गई है। ऐसे नेताओं से किसी कठिन अवसर पर भलाई की आशा नहीं की जा सकती। 63

प्रेमचंद ने साहित्यकारों को सलाह दी थी कि वे जन रुचि के प्रवाह में न बहकर नई जन रुचि का निर्माण करें। राजनीतिज्ञों के समान साहित्यकार भी जन रुचि का वाहक नहीं, निर्माता होता है। लेखक को कभी यह न भूलना चाहिए कि वह जनता का पथगाभी नहीं बल्कि पथदर्शक है। वह हसाता है मनोरंजन करता है चुटकियाँ लेता है पर ये उसके लिए गौण बातें हैं उसका मुख्य उद्देश्य और ही कुछ है। 64

इसके अलावा एक टिप्पणी लिखी 'राष्ट्रीयता और धर्म'। इसमें उन्होंने राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद का पोषक बताकर उसकी निंदा की। और भारतीय जनता की मुक्ति के लिए राष्ट्रीयता को आवश्यक बताया। प्रेमचंद ने जून 1927 की 'माधुरी' में फिर 'आगे या पीछे' शीर्षक टिप्पणी लिखी। इसमें उन्होंने आज के युग को स्वाथ प्रधान युग बताया और पुराने युग को इससे एकदम वंचित तो नहीं बताया 'पर प्राचीन काल में स्वाथ चिन्ता मनुष्य के लिये कलक का विषय था। इस स्वाथ प्रधान युग के खिलाफ बराबर सघर्ष होते रहे। असहयोग आंदोलन का राजनैतिक स्वरूप कुछ भी हो उसका धार्मिक और सामाजिक स्वरूप अतीत के गौरव को जागृत करने वाला था। 65 इस टिप्पणी में प्रेमचंद ने समकालीन राजनीतिक जीवन के प्रति गहरी चिन्ता व्यक्त की है।

इसके साथ ही एक और टिप्पणी लिखी— बलियुग का सबसे बड़ा पाप। और यह पाप पराधीनता है। और प्रेमचंद ने इसका कारण नई सभ्यता विज्ञान और औद्योगिकता को बताया है। यह चिन्तन उनकी सभ्यता का रहस्य कहानी के अनुरूप ही अनुभवपरक है। जिस तरह नई शक्तियों ने भारत को पराधीन बनाया उसी तरह नये जमाने ने उन शक्तियों को भी पैदा किया जो स्वाधीनता के लिए लड़ी और देश को आजाद कराया। नये जमाने के इस सबल पक्ष को प्रेमचंद भारत के सदर्भ में देख नहीं पाए थे। इस तरह प्रेमचंद ने कई स्फुट और मौलिक विचार 'माधुरी' के संपादकीय में व्यक्त किये।

प्रेमचंद का लखनऊ प्रवास

प्रेमचंद का लखनऊ प्रवास कई दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर उन्होंने साम्राज्यवादियों की साफ तस्वीर देखी भारतीय नवाबों के जीवन को निकट

से देखने-ममझने का मौका मिला और हिन्दू-मुस्लिम तनाव को खुद महसूस किया। 'माधुरी' के सपादक बनकर प्रेमचंद समकालीन साहित्य-सत्तार से सीधे जुड़े। छाया-वादियों से उनका सम्पर्क बढ़ा और कुल मिलाकर वे अपने साहित्य को अन्य लोगों के साथ रखकर देख सके। 'सरस्वती' प्रेस में उन्हें बराबर घाटा हो रहा था, परन्तु स्थायी आमदनी होने के कारण जीवन में छोटी-मोटी परेशानियाँ नहीं आ रही थी। यहाँ पर शहरी शिक्षित समाज से उनका संपर्क बढ़ा और साथ ही गाँव से और अपठकिसानों से वास्तविक, दैनिक सम्पर्क कम हुआ। लखनऊ प्रवास प्रेमचंद को मध्यवर्ग का साहित्यकार बनाता है। मध्यवर्ग की कई भीतरी-बाहरी समस्याओं पर प्रेमचंद ने इस बीच काफी कहानियाँ लिखी।

शिवरानी देवी ने इन दिनों के कुछ महत्वपूर्ण सस्मरण लिखे हैं। एक दिन (सन् 1928) लखनऊ में बायसराय आये थे, तब 40,000 रुपये आतिशबाजी में खर्च किये गये। प्रेमचंद अपनी पत्नी व बेटे-बेटी के साथ देखने गये और वहाँ से जल्दी ही लौट आये और बोले "अब सुनो आतिशबाजी की बात। जो राजे-महाराजे हर साल यहाँ आते हैं वे कुछ-न कुछ इसीलिए यहाँ रखते जाते हैं कि जब-जब बायसराय और युवराज यहाँ पधारे तो वह उनके स्वागत में खर्च हो। और जो कमी पड़ती है वह तुम्हारे यहाँ के वास्तुकारों से वसूल किया जाता है। उन गरीबों के खून की कमाई, कूड़ा-घास की तरह आतिशबाजी में फूँव दी जाती है। जिस मुल्क के आदमी की कमाई अमल छ पैस रोज हो, उस मुल्क में किसी को क्या हक है कि एक-एक शहर में 40-40 और 50-50 हजार रुपये आतिशबाजी में फूँवा जाय?"⁶⁶ इस आतिशबाजी का रज प्रेमचंद के दिमाग पर कई दिनों तक रहा।

इसी समय ब्रिटिश सरकार ने प्रेमचंद को 'रायसाहब' की उपाधि देने का प्रस्ताव किया था। इसे प्रेमचंद ने ठुकरा दिया। इसका कारण प्रेमचंद ने शिवरानी देवी को यह बताया था कि "थभी तक मेरा सारा काम जनता के लिए हुआ है। तब गवर्नमेंट मुझसे जो लिखवायेगी, लिखना पड़ेगा।"⁶⁷ वह सरकार, जिसने प्रेमचंद की पहली पुस्तक 'सोजेवतन' जन्म बरली थी, अब प्रेमचंद को रायसाहबी से खरीदने का प्रयास कर रही थी। प्रेमचंद ने इस प्रस्ताव को ठुकराकर स्वाधीन लेखक के गौरव को ऊँचा उठाया है।

यही रहकर 1929 में प्रेमचंद ने अपनी लड़की की शादी की। प्रेमचंद की रचनाओं और उनके जीवन के कुछ छोटे-मोटे अन्तर्विरोध इस प्रसंग में स्पष्ट होते हैं। प्रेमचंद ने अपन दोनों लड़कों को पढ़ाया-लिखाया, लेकिन अपनी बेटी को ठीक से नहीं पढ़ाया। इसमें पीछे प्रेमचंद का यह विचार था कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ गृहस्थी नहीं चला सकती। साथ ही उनके चरित्र को भी प्रेमचंद आशका की नजर से देखा करते थे। उस युग को देखते हुए भी यह दैनिकानुसी विचार ही साबित होगा। विवाह, सबंधी कई रूढ़ियों का पालन उन्होंने नहीं किया—मसलन कन्यादान, लेकिन वैदिक रीति में पाणि प्रहण सस्कार करवाया गया। प्रेमचंद अपने, साहित्य में बकीलों और जमींदारों की बड़ी आलोचना करते हैं—पर जब अपनी लड़की के लिए घर (बामुदेव प्रसाद) की घोषा, उसके घर में जमींदारी थी। गृही नहीं, जब उसने आये

पठने के लिए पूछा तो प्रेमचंद न सलाह दी कि बानून पढ़ो। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा—“हा, घर का वह मालगुजार है। सागर में बकालत करेगा। अपनी जमींदारी भी देखेगा नहीं तो बाहर जान से जमींदारी में हानि होगी।”⁶⁸ प्रेमचंद के जीवन की यह असमति भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने रूढ़ियों को ताड़ा—बन्यादान नहीं किया, साथ ही उन्होंने राठवीं दिव्यान से इकार भी किया। उनमें ये दोनों चीजें साथ-साथ थीं।

‘बायाबल्प’ से ‘गयन’ के बीच समय का काफी लम्बा अन्तराल है। इस बीच उन्होंने अधिकतर कहानियाँ या वैचारिक गद्य ही लिखा है। सन् 1927 में प्रेमचंद ने कुछ अच्छी कहानियाँ लिखी, जिनमें ‘सुजान भगत’ (मई 1927), ‘माँग की घड़ी’ (जुलाई 1927) मुख्य हैं। ‘मन्दिर’ कहानी में प्रेमचंद न अछूतों के मंदिर प्रवेश का वर्णन किया है और मंदिर’ को सबकी समान सम्पत्ति बताया है। छुआछूत पर यह सम्भवतः पहली कहानी है। प्रेमचंद ने इस पक्ष पर काफी धाद में ध्यान दिया है, नहीं तो रंगभूमि में सूरदास के साथ यह भेद-भाव नहीं होता। ‘कामनातट’, ‘सती’, ‘एक्ट्रेस’ आदि कहानियाँ अत्यंत साधारण हैं—किसी पूर्व निश्चित विचार को स्थापित करने के उदाहरण-रूप में ही इनका महत्व है।

‘सुजान भगत’ में किसान के नये और पुराने रूप का द्वन्द्व है। इसमें प्रेमचंद की यह धारणा अनुस्यूत है कि नया जमाना स्वार्थ का जमाना है, नये लोग स्वार्थी ही हैं—पुराने लोग व जमाना परमार्थी हैं। सुजान भगत पुराना किसान है, जिसकी सहज प्रवृत्ति धार्मिक है। खती अच्छी होते ही दान पुण्य और तीर्थ यात्रा का क्रम शुरू हो जाता है। धीरे धीरे वह घर का मालिक पद से हटते हैं और उनका लड़का मालिक बनता है। भगत का इसका एहसास नहीं होता। जबकि उसकी पत्नी यह तथ्य समझ जाती है। यह अजीब बात है कि प्रेमचंद के साहित्य में किसानों की पत्नियाँ अधिकतर यथार्थवादी होती हैं। धनियों के समान बुलाकी भी समझ गयी कि “आदमी को चाहिए कि जैसा समय दस वैसा काम करे। अब हमारा और तुम्हारा निर्वाह इसीमें है कि नाम के मालिक बन रहें और वही करें जा लड़कों को अच्छा लगे। मैं यह बात समझ गयी तुम क्या नहीं समझ पाते? जा कमाते हैं, उसीका घर में राज होता है यही दुनिया का दस्तूर है।”⁶⁹

एक दिन बूढ़ा भगत एक भिखारी को अनाज दान लगता है। उसका लड़का अनाज छीन लेता है। अधिकार प्रेमी अहकारी बूढ़ा भगत फुफकार उठता है और दूसरे दिन से फिर काम करने लगता है। खलिहान में उमी भिक्षुक का मन-भर अनाज देकर भगत अपने गर्व की तुष्टि करता है। प्रेमचंद की सम्पूर्ण सहानुभूति इस बूढ़े पुराने किसान सुजान भगत के साथ है।

अगले वर्ष (1928) प्रेमचंद न इसी तरह की कहानियाँ लिखी, जिनमें दो-एक चर्चित रही और शेष साधारण रही। मोटेराम शास्त्री (जनवरी 1928) इसी तरह की एक कहानी है जो हिंदी में बहुचर्चित रही है। ‘जिसके सम्बन्ध में शायद हिंदी साहित्य क्षेत्र का पहला मान हानि केस चला। यह कहानी प्रेमचंद की व्याख्यात्मक कहानियों की शृंखला में थी। लखनऊ के एक वैद्य शालिग्राम शास्त्री ने, वृष्ण

बिहारो मिश्र तथा प्रमचंद पर आई० पी० सी० की 500 तथा 109 धाराओं के अन्तर्गत इज्जत हतक का दावा दापर किया। उन गव हो के नामो म सुधा' के सम्पादक दुलारेलाल भागव तथा रूपनारायण पाण्डेय और गंगा पुस्तक माला कार्यालय के मातादीन शुक्ल थे। लखनऊ यूनिवर्सिटी के बदरीनाथ भट्ट बदरीनाथ शास्त्री तथा आजादत ठाकुर भी थे।^० अप्रैल 1928 को फैसला हुआ जिसमें वृष्णबिहारी मिश्र और प्रमचंद बरी बर दिये गए। इसके अलावा अग्नि समाधि पितृनहारी का कुआँ दारोगाजी अभिलाषा आदि साधारण कहानियाँ भी इसी वष प्रकाशित हुई।

इसी वष प्रमचंद की दो सखियाँ (मई 1928) कहानी छी यह प्रमचंद के चित्तन की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। दो सखियाँ एक दूसरी को पत्र लिखती हैं— एक का नाम चन्दा और दूसरी का पदमा है। पदमा आधुनिक है और चन्दा परम्परागत विचारा की लडकी है। दोनों के विचारों में मौलिक विरोध होते हुए भी उनमें अंतरण मिश्रता है। दोनों एक-दूसरी को अपने सुख दुख सुनाती हैं और कही न कही सहानुभूति की आशा भी करती हैं। इस अर्थ में दोनों एक दूसरी पर आश्रित भी हैं। यह प्रमचंद काल का अंतर्विरोधों से गुँथा हुआ भारतवर्ष है। एक प्रेम विवाह करती है दूसरी का परम्परागत विवाह होना है। इस कहानी में पुरुष के चरित्र को अनछुआ छोड़ दिया गया है। किसी भी घटना या स्थिति के लिए दोनों सखियाँ पुरुष के दखल की ओर सकेत नहा करती। पदमा आधुनिक और स्वाधीन है पर प्रमचंद ने उसे भीतर से कमजोर व्यक्तित्व वाली विलासिनी और चंचल रूप में प्रस्तुत किया है। जबकि चन्दा के व्यक्तित्व के नीचे परम्परा की सुदृढ़ जमीन है। पूरी कहानी में चन्दा कही भी कमजोर नहा पडती वह हमेशा डाँटने और सलाह देन की ही स्थिति में रहती है। दोष दर्शन आधुनिक पन्ना में ही हुआ है। परम्परागत चन्दा तो मामूली कठिनाइयाँ के बावजूद सुखी है उसे किसीकी सलाह और सहायता की जरूरत नहीं होती। प्रमचंद की सारी सहानुभूति चन्दा के साथ है उसकी बातें उसके तक लेखक की बातें और तक हैं। कहानी में पत्र व्यवहार चलता रहता है और अंत होते होते पत्र चन्दा है कि आधुनिक पदमा के भीतरी कोनो में भी कही परम्परागत नारी घठी हुई है जो चाहती है कि वह मेरे प्रबंध की आलोचना कर ऐव निकाल। मैं चाहती हूँ जब मैं बाजार से कोई चीज लाऊ तो वह बतायें कि मैं लुट गयी या जीत आयी मैं चाहती हूँ कि महीने के खर्च का वज्रट बनाते समय मेरे और उनके बीच में खूब बहस हो पर इन अरमानों में से एक भी पूरा नहीं होता।⁷¹

प्रमचंद परिवार के पार्श्वस्थ आदर्श के विरोधी थे और इस तरह वह पश्चिमी सभ्यता के विरोधी भी थे।

1929 में प्रमचंद के साहित्य में एक बार फिर नवीनता के अंकुर दिखाई देने लगते हैं। इस वर्ष प्रमचंद ने मध्यवर्ग की समस्याओं को किनारे करना शुरू किया और फिर विशाल किसान जीवन की ओर आये। लेकिन इस बार उन्होंने जो कहानियाँ लिखी वे प्रमाणों की परंपरा की नहीं थी बल्कि उन्होंने बड़ घर की बेटी की भूली बिसरी परंपरा को आगे बढ़ाया। अलगव्योक्षा (अक्तूबर) घरजमाई

(नवम्बर), घास वाली (दिसम्बर) आदि कहानियाँ म किसान जीवन के कुछ नये चरित्र सामने आए, जिस अब तक प्रेमचन्द ने अनदेखा छोड़ दिया था। हालाँकि संयुक्त परिवार के विघटन से प्रमचन्द पहले भी परेशान थे—और आगे भी रहे, पर इस समस्या का अब तक उन्होंने मध्यवर्गीय परिवारों में ही देखा था। अब उसी समस्या को उन्होंने किसानों में भी देखा। इन कहानियों में प्रेमचन्द ने किसान जीवन के नये घरातल सामने रखे हैं और एक तरह से शिक्षित मध्यवर्ग को किसान जीवन से परिचय करवाते हैं।

निष्कर्ष

हिन्दी का उपन्यास साहित्य पर विचार करते हुए जुलाई 1932 की 'सर-स्वती' में श्री कसरी किशोर शरण ने कुछ महत्वपूर्ण बातें कही हैं। समकालीन साहित्यिक शिथिलता की जाँच पड़ताल करते हुए उन्होंने लिखा कि 'इस शिथिलता का सबसे बड़ा कारण है साहित्य क्षेत्र में दो असाधारण व्यक्तियों का अवतरण। एक श्री सुमित्रानन्दन पंत जी और दूसरे श्री प्रेमचन्द जी। दोनों ही व्यक्ति इस युग की भावना से उसकी विचारधारा से, बहुत आगे हैं। उनका समय कम से कम आज से पचास वर्ष बाद होना चाहिए था।'⁷² पंत और प्रेमचन्द का यह आगमन हिंदी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद और मयार्थवाद के सह आगमन का सूचक है। वास्तव में कविता में छायावादियों को आसर्पण करने पड़ थे। गद्य में भी नव सघर्ष हाते हुए भी प्रेमचन्द उन्हीं के ज्यादा करीब मालूम पड़ते हैं। युग की दो भिन्न रुचियाँ भी न प्रतीत होती हुई भी अभिन्न हैं। प्रेमचन्द की साहित्यिक प्रतिष्ठा रंगभूमि से ही मिल गई। इसके बाद प्रेमचन्द को भी जबरदस्त साहित्यिक विरोध का सामना करना पड़ा। अवध उपाध्याय और अन्य ब्राह्मणवादी ब्राह्मणों ने प्रेमचन्द की निन्दा की और उनके कलात्मक विकास को कलात्मक ह्रास के रूप में देखा। सन 30 के बाद प्रेमचन्द व्यवस्थित रूप से साहित्य में जम पाये। इसी तरह सन 20 से 30 तक छायावादियों के कड़े सघर्ष के दिन थे। इसके बाद ही छायावादियों को साहित्य में गंभीरता से लिया जाने लगा।

राजनीतिक आकाश में भी सन् 30 एक महत्वपूर्ण वर्ष है। लगभग आठ वर्षों की राजनीतिक शिथिलता और नैराश्य के बाद 31 दिसम्बर 1929 को कांग्रेस ने लाहौर में पूर्ण स्वराज्य की माँग की और नये सघर्ष का आह्वान किया। हिन्दू मुस्लिम दंगे, शुद्धि और कुर्बानी की चिंताओं के बोझ से एक बार तो सन् 30 में ही भारतीय मनीषा मुक्त हुई।

प्रेमचन्द असहयोग आन्दोलन से ही पूर्ण स्वराज्य के हामी थे। उनके लिए स्वराज्य का अर्थ और प्रकृति स्पष्ट थी। स्वराज्य का प्रेमचन्द के लिए अर्थ था—विशाल किसान जनता के लिए स्वराज्य। इसीलिए प्रेमचन्द कांग्रेस से हमेशा बहस की मुद्रा में ही मितरते रहे। अपने साहित्य के उद्देश्य के संबंध में भी वे बहुत साफ थे। 3 सितम्बर 1929 को केशोराम सम्बरवाल को पत्र लिखते हुए उन्होंने स्पष्ट लिखा

“इधर हाल में मरी जो कहानियाँ ‘माधुरी’ और ‘विशाल भारत’ में छपी हैं

उनमें से कोई आपको पसंद आयी ? हो सकता है कि आपको उनकी सोद्देश्यता न अच्छा लगा हो, मगर हिन्दुस्तान कला के सर्वोच्च शिखरों पर नहीं पहुँच सकता जब तक कि वह विदेशों दासता के जुए के नीचे बराह रहा है। यही एक पराधीन देश का साहित्य एक स्वाधीन देश के साहित्य से अलग दिखाई देने लगता है। हमारी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ हमें विवश करती हैं कि जहाँ भी हम अवसर मिल, हम लोगों का शिक्षा दें। भावना जितनी ही प्रबल होती है, कृति उतनी ही शिक्षापरक हो जाती है।¹⁷³

इस तरह प्रेमचन्द का साहित्य शिक्षित जनता के लिए किसानों के बारे में लिखा गया साहित्य है। उनके साहित्य में यह एक आन्तरिक द्वन्द्व है। यही द्वन्द्व उनको रचना-प्रक्रिया की गति देता है और उसे नियमित भी करता है। उन्हें अपने गाँव की कहानी पढ़ें लिखें, देहात से अनभिज्ञ पाठक को सुनानी है। इसमें एक तरफ तो यह ध्यान रखा जाता है कि पाठक के मानस पर गाँव का नक्शा उतर आये, जो न इतना अपरिचित हो कि पाठक उससे तादात्म्य ही न कर पाये और न इतना परिचित हो कि शहरी जीवन से अलग उसकी पहचान ही न बन पाये। साथ ही यह नक्शा गाँव के यथार्थ के—गतिशील यथार्थ के करीब हो। इसमें भी एक भाषिक समस्या उत्पन्न होती है। प्रेमचन्द को उन किसानों को शब्दों में, भाषा में बाँधना है—जो शिक्षित नहीं हैं। अपठ जनता की भाषा को पठनीय बनाना और उसके मूल भाव को बनाए रखना—यह प्रेमचन्द के रचनाकार मानस की दूसरी बड़ी समस्या है। इस कारण प्रेमचन्द गाँव की किसानों की प्रतिनिधि परिस्थितियाँ और प्रतिनिधि चरित्र चुनते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द के सामने तीसरी समस्या आती है—स्वाधीनता आन्दोलन। उन्हें पूर्वोक्त समस्याओं से जूझते हुए ग्राम्य जीवन को इस तरह से प्रस्तुत करना है, जिससे स्वाधीनता आन्दोलन की बल मिले। रचनात्मक स्तर पर इन तीनों समस्याओं का सामना प्रेमचन्द ने इस दौर में किया है और इस निराशा के व्यापक दौर में आशावादी जीवत साहित्य रचा है। इस दौर के साहित्य में प्रेमचन्द ने दो मुख्य काम किए हैं—एक तो किसान के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया है और दूसरे किसान को अन्य वर्गों के सबंध में उपस्थित किया है। इस तरह किसान का वर्णन करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण समाज का वर्णन किया है।

(नवम्बर), घास वाली (दिसम्बर) आदि कहानियाँ म किसान जीवन के कुछ नये चरित्र सामने आए, जिस अब तक प्रेमचन्द ने अनदेखा छोड़ दिया था। हालांकि संयुक्त परिवार के विघटन से प्रेमचन्द पहले भी परेशान थे—और आगे भी रहे, पर इस समस्या को अब तक उन्होंने मध्यवर्गीय परिवारों में ही देखा था। अब उसी समस्या को उन्होंने किसानों में भी देखा। इन कहानियों में प्रेमचन्द ने किसान जीवन के नये घरातल सामने रखे हैं और एक तरह से शिक्षित मध्यवर्ग को किसान जीवन से परिचित करवाते हैं।

निष्कर्ष

‘हिन्दी का उपन्यास साहित्य’ पर विचार करते हुए जुलाई 1932 की ‘सर-स्वती’ में श्री केसरी किशोर शरण ने कुछ महत्वपूर्ण बातें कही हैं। समकालीन ‘साहित्यिक शिथिलता’ की जाँच-पड़ताल करते हुए उन्होंने लिखा कि ‘इस शिथिलता का सबसे बड़ा कारण है साहित्य-क्षेत्र में दो असाधारण व्यक्तियों का अवतरण। एक श्री सुमित्रानन्दन पंत जी और दूसरे श्री प्रेमचन्द जी। दोनों ही व्यक्ति इस युग की भावना से, उसकी विचारधारा से, बहुत आगे हैं। उनका समय कम से कम आज से पचास वर्ष बाद होना चाहिए था।’⁷² पंत और प्रेमचन्द का यह आगमन हिंदी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद और यथार्थवाद के सह आगमन का सूचक है। वास्तव में कविता में छायावादियों को जो सघर्ष करने पड़े थे गद्य में भिन्न सघर्ष होत हुए भी प्रेमचन्द उन्हीं के ज्यादा करीब मालूम पड़ते हैं। युग की दो भिन्न रुचियाँ भिन्न प्रतीत होती हुई भी अभिन्न हैं। प्रेमचन्द की साहित्यिक प्रतिष्ठा ‘रंगभूमि’ से ही मिल गई, इसके बाद प्रेमचन्द को भी जबर्दस्त साहित्यिक विरोध का सामना करना पड़ा। अवध उपाध्याय और अन्य ब्राह्मणवादी ब्राह्मणों ने प्रेमचन्द की निन्दा की और उनके कलात्मक विकास को कलात्मक ह्रास के रूप में देखा। सन् 30 के बाद प्रेमचन्द व्यवस्थित रूप से साहित्य में जम पाये। इसी तरह सन् 20 से 30 तक छायावादियों के कड़े सघर्ष के दिन थे। इसके बाद ही छायावादियों को साहित्य में गंभीरता से लिया जाने लगा।

राजनीतिक आकाश में भी सन् 30 एक महत्वपूर्ण वर्ष है। लगभग आठ वर्षों की राजनीतिक शिथिलता और नैराश्य के बाद 31 दिसम्बर, 1929 को कांग्रेस ने लाहौर में पूर्ण स्वराज्य की माँग की और नये सघर्ष का आह्वान किया। हिन्दू-मुस्लिम दंगे, शुद्धि और कुर्बानी की चिन्ताओं के बोझ से एक बार तो सन् 30 में ही भारतीय मनोपा मुक्त हुई।

प्रेमचन्द असहयोग आन्दोलन से ही पूर्ण स्वराज्य के हामी थे उनके लिए स्वराज्य का अर्थ और प्रकृति स्पष्ट थी। स्वराज्य का प्रेमचन्द के लिए अर्थ था—विशाल किसान जनता के लिए स्वराज्य। इसीलिए प्रेमचन्द कांग्रेस से हमेशा बहस की मुद्रा में ही मिलते रहे। अपने माहित्य के उद्देश्य के सबध में भी वे बहुत साफ थे। 3 सितम्बर, 1929 को केशोराम सम्बरवाल को पत्र लिखते हुए उन्होंने स्पष्ट लिखा

“इधर हाल में मेरी जो कहानियाँ ‘माधुरी’ और ‘विशाल भारत’ में छपी हैं

उनमें से कोई आपका पसंद आयी ? हा मकता है कि आपको उनकी सोद्ध्यता न अच्छा लगी हो, मगर हिन्दुस्तान कला व सर्वोच्च शिखरो पर नहीं पहुँच सकता जब तक कि वह विदेशी दासता के जुए के नीचे बराह रहा है। यहाँ एक पराधीन देश का साहित्य एक स्वाधीन देश के साहित्य से अलग दिखाई देने लगता है। हमारी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ हम विवश करती हैं कि जहाँ भी हम अवसर मिलें हम लोगों का शिक्षा दें। भावना जितनी ही प्रबल होती है, वृत्ति उतनी ही शिक्षापरक हो जाती है। 73

इस तरह प्रेमचंद का साहित्य शिक्षित जनता के लिए किसानों के बारे में लिखा गया साहित्य है। उनके साहित्य में यह एक आंतरिक द्वन्द्व है। यही द्वन्द्व उनकी रचना प्रक्रिया की गति देता है और उसे नियमित भी करता है। उन्हें अपने गाँव की कहानों पर लिखे देहात से अनभिज्ञ पाठकों की सुनानी है। इसमें एक तरफ तो यह ध्यान रखा जाता है कि पाठकों के मानस पर गाँव का नक्शा उतर आए जो न इतना अपरिचित हो कि पाठक उससे तादात्म्य ही न कर पायें और न इतना परिचित हो कि शहरी जीवन से अलग उसकी पहचान ही न बन पाय। साथ ही यह नक्शा गाँव के यथाथ के—गतिशील यथाथ के करीब हो। इसमें भी एक भाषिक समस्या उत्पन्न होती है। प्रेमचंद को उन किसानों की भाषा में भाषा में बाधना है—जो शिक्षित नहीं हैं। अपठ जनता की भाषा को पठनीय बनाना और उसके मूल भाव को बनाए रखना—यह प्रेमचंद के रचनाकार मानस की दूसरी बड़ी समस्या है। इस कारण प्रेमचंद गाँव की किसानों की प्रतिनिधि परिस्थितियाँ और प्रतिनिधि चरित्र चुनते हैं। इस प्रकार प्रेमचंद के सामने तीसरी समस्या आती है—स्वाधीनता आन्दोलन। उन्हें पूर्वोक्त समस्याओं से जूझते हुए ग्राम्य जीवन को इस तरह से प्रस्तुत करना है जिससे स्वाधीनता आन्दोलन की बल मिले। रचनात्मक स्तर पर इन तीनों समस्याओं का सामना प्रेमचंद ने इस दौर में किया है और इस निराशा के व्यापक दौर में आशावादी जीवित साहित्य रचा है। इस दौर के साहित्य में प्रेमचंद न दो मुख्य काम किए हैं—एक तो किसान के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया है और दूसरे किसानों को अन्य वर्गों के संघर्ष में उपस्थित किया है। इस तरह किसानों का वर्णन करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण समाज का वर्णन किया है।

संदर्भ

- 1 स्वदेश प्रवेशांक (बसत पंचमी 197० वि०) म स्वदेश का संदेश शीपक टिप्पणी । विविध प्रसंग भाग 2 पृ० 21 सक्लन और रूपांतर अमृतराय हंस प्रकाशन इलाहाबाद 1962
- 2 वही पृ० 22
- 3 प्रमाथम (गोशए आफियत) लिखा पहले उद मे गया छपा पहले हिंदी म । मूल उर्दू पाण्डुलिपि का लेखन काल 2 मई 1918 स 25 फरवरी 1920 तक है जो कि पाण्डुलिपि पर ही अंकित है । प्रकाशन 1921 के पूर्वार्द्ध मे हुआ । लेखक ने शुरू म हमके दो नाम सोचे थे— नाकाम और नेकनाम । कलम का सिपाही प० 654
- 4 चिट्ठी पत्री भाग 1 पृ० 93
- 5 मानसरोवर भाग 8 प० 140 सरस्वती प्रस इलाहाबाद 1970
- 6 वही पृ० 142
- 7 मानसरोवर भाग 6 पृ० 27 28 सरस्वती प्रस इलाहाबाद 1970
- 8 वही पृ० 29 30
- 9 गांधीजी और स्वाधीनता आ मोलन प० 18 ले० प० जवाहरलाल नेहरू सस्ता साहित्य मंडल दिल्ली 1973
- 10 आज का भारत पृ० 348 ले० रजनी पामदत्त अनुवादक आनंद स्वरूप वर्मा मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया नई दिल्ली 1977
- 11 आज का भारत से उदघाटन प० 346
- 12 प्रमचद घर म पृ० 41
- 13 वही पृ० 45
- 14 मर्यादा जून 1917 ई० पृ० 246
- 15 मैं यदि उनकी दशा को एक शब्द म परमात्मा का कोप अथवा धनवानों का अयाय कहू तो अनुचित न होगा । बचारों के पास केवल एक खुरपा एक दराती एक गडासी एक कसी और एक खादी की चादर के सिवा दूसरी वस्तु खेत की संपत्ति (Fixed capital) के रूप म नहीं है । ये हल बैल तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ अपन धनी किसान भाइयों से अथवा जमींदारों स माग लेते हैं । धन्य है भारत के प्राचीन जीवन को जिसन इतना भातृ भाव अभी तक हमारे किसानों के भीतर रहने दिया । कृपक भारत, ल० जयदेव गुप्त

- माधुरी, 23 अप्रैल 1923, वर्ष 1, पृष्ठ 2, सख्या 4, पृ० 381
- 16 महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ० 360, ले० डा० रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977
 - 17 सरस्वती, भाग 23, खंड 2, सख्या 4, पृ० 198
 - 18 वही, पृ० 201
 - 19 प्रेमचंद और उनका युग, पृ० 47-48, ले० डा० रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1967
 - 20 प्रभा, वर्ष 3, खंड 2, सख्या 1, 1 जुलाई 1922, पृ० 56 में वाराणसी प्रवासी श्रीयुत रघुपति सहाय का लेख— 'प्रेमाथम'।
 - 21 प्रेमाथम, पृ० 52 इस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1963
 - 22 वही, पृ० 57
 - 23 वही, पृ० 73
 - 24 वही, पृ० 87
 - 25 कलम का मजदूर प्रेमचंद, पृ० 143
 - 26 सप्राम, पृ० 145, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973
 - 27 हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० 488-489
 - 28 "इस अनुभव ने मुझे कट्टर भाग्यवादी बना दिया। अब मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान की जो इच्छा होती है वही होता है और मनुष्य का उद्योग भी उसकी इच्छा के बिना सफल नहीं होता।"
 - 29 कलम का मजदूर प्रेमचंद, पृ० 127, ले० मदन गोपाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978
 - 30 परिमल, पृ० 8, ले० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978
 - 31 मानसरोवर, भाग 6, पृ० 207
 - 32 वही, पृ० 221
 - 33 मानसरोवर, भाग 8, पृ० 219
 - 34 वही, पृ० 225
 - 35 विविध प्रसंग, भाग 2 पृ० 27-28
 - 36 12 फरवरी, 1922 को वाराणसी में कांग्रेस कार्यसमिति ने जो प्रस्ताव पास किये, वे द्रष्टव्य हैं। परिच्छेद 6 कांग्रेससमिति कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं और संगठना को सलाह देती है कि वे रैयत (किसानों) को यह सूचित कर दें कि जमींदारों को लगान न देना कांग्रेस के प्रस्तावों और देश के हितों के खिलाफ है।

परिच्छेद 7 कार्यसमिति जमींदारों को इस बात का आश्वासन देती है कि कांग्रेस के आंदोलन का उद्देश्य किसी भी रूप में उनके कानूनी अधिकारों पर चोट पहुँचाना नहीं है और जहाँ किसानों को किसी तरह की शिकायत है वहाँ कार्यसमिति यही चाहेगी कि आपसी सलाह-मशविरे से और सम-

झोता वार्ता से मामले को निपटा लिया जाए। 'आज का भारत' से उद्धृत, पृ० 361

37 विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 33

38 कलम का मजदूर प्रेमचंद, पृ० 157

39 रंगभूमि, पृ० 7, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1976

40 वही, पृ० 36

41 वही, पृ० 233-234

42. 'रहे मिस्टर जानसेवक। वह निराशामय धैर्य के साथ प्रातःकाल से संध्या तक अपने व्यावसायिक घघो में रत रहते हैं। उन्हें अब सत्तार में कोई अभिलाषा नहीं है, कोई इच्छा नहीं है, धन से उन्हें निस्वार्थ प्रेम है, कुछ वही अनुराग, जो भक्तों को अपने उपास्य से होता है। धन उनके लिए किसी लक्ष्य का साधन नहीं है, स्वयं लक्ष्य है। न दिन समझते हैं न रात। कारबार दिन-दिन बढ़ता जाता है। लाभ दिन-दिन बढ़ता जाता है या नहीं, इसमें सन्देह है।' रंगभूमि, पृ० 580

43 प्रेमचंद जीवन, कला, कृतित्व, पृ० 193

44 रंगभूमि, पृ० 88

45 वही, पृ० 558

46 वही, पृ० 231

47 वही, पृ० 421

48 'राजा साहब और ब्राउन दोनों खोये-से खड़े थे। उनकी आँखों के सामने एक ऐसी घटना हो रही थी, जो पुलिस के इतिहास में एक नूतन युग की सूचना दे रही थी जो परम्परा के विरुद्ध मानव प्रकृति के विरुद्ध, नीति के विरुद्ध थी।' रंगभूमि, पृ० 513

49 मानसरोवर, भाग 3, पृ० 108 सरस्वती प्रेस इलाहाबाद 1973

50 विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 352 प्रेमचंद ने इसी लेख में बहुत निराशा के साथ लिखा है—'कितन शर्म की बात है कि जिस एकता को महात्मा गांधी ने स्वराज्य की पहली सीढ़ी करार दिया हो उसके लिए एक प्रभावशाली हिन्दू बुजुर्ग पूरी तरह तैयार नहीं है। अगर यही रफ्तार है तो स्वराज्य मिला चुका, और अगर हलवाई की दुकान पर दाढ़े का फातिहा पड़ा जाना मुमकिन हो तो हमें स्वराज्य के नाम पर फातिहा पढ़ लेना चाहिए।' पृ० 357

51 'आज का भारत' से उद्धृत, पृ० 358

52 समालोचक, जनवरी 1925 'उपन्यास' शीर्षक लेख, विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 38, सबलन और रूपान्तर, अमृतराम, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

53. निर्मला, नवम्बर 1925 से नवम्बर 1926 तक चांद में क्रमशः प्रकाशित कलम का सिपाही, पृ० 655

54. निर्मला, पृ० 34, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1975

55. वही, पृ० 86

- 56 वही, पृ० 153
57. कायाकल्प (पदं ए मजाज), "मूल पाण्डुलिपि हिंदी में। उसको देखने से पता चलता है कि आरम्भ में पुस्तक के तीन नाम रखे गये थे—असाध्य साधना, माया स्वप्न, आर्तनाद। इसका लेखन 10 अप्रैल, 1924 से शुरू हुआ। यह तिथि पाण्डुलिपि के प्रथम पृष्ठ पर ही अंकित है। प्रकाशन 1926 में हुआ।" कलम का सिपाही, पृ० 655
- 58 कायाकल्प, पृ० 21, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973
59. वही, पृ० 240
- 60 वही, पृ० 165
- 61 प्रतिज्ञा (वेवा), "जनवरी 1927 से नवम्बर 1927 तक चाँद में त्रमश प्रकाशित। 'प्रेमा' के ही कथानक को लेखक ने फिर से उठाया, पर कथा के विकास में महत्वपूर्ण अंतर आ गया।" कलम का सिपाही, पृ० 655
- 62 माधुरी, वर्ष 5, खंड 2, सख्या 3, 8 अप्रैल 1927, पृ० 418। इसी टिप्पणी में उन्होंने लिखा कि 'हमारा तो यही कटु-अनुभव है कि विज्ञान ने बलशाली राष्ट्रों को और भी स्वार्थान्ध बना दिया है, क्योंकि अब उन्हें किसी ओर से भी किसी बात का संशय न रहा। पूर्वकाल में राजा की शक्ति सीमाबद्ध होती थी, वह कोई अन्याय करने के पहले यह सोचने पर विवश होता था कि प्रजा की ओर से इसका क्या प्रतिकार होगा और बहुधा उसके अन्याय का फल क्रांति का रूप धारण किया करता था। आज शासकों को कोई भय नहीं है, वे अजेय हैं। विज्ञान ने उन्हें प्रजा की सख्या-शक्ति की ओर से निर्द्वन्द्व बना दिया है।"
- 63 माधुरी, वर्ष 5, खंड 2, सख्या 4, 8 मई, 1927, पृ० 565-566
- 64 माधुरी, वर्ष 5, खंड 2, सख्या 6, 6 जुलाई 1927
65. माधुरी, वर्ष 5, खंड 2, सख्या 5, पृ० 706
66. प्रेमचन्द घर में, पृ० 109
67. वही, पृ० 118
68. वही, पृ० 105
- 69 मानसरोवर, भाग 5, पृ० 189-190, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- 70 कलम का मजदूर प्रेमचन्द, पृ० 185
- 71 मानसरोवर, भाग 4, पृ० 224
- 72 सरस्वती भाग 33, खंड 2, सख्या 1, पृ० 14
- 73 चिट्ठी, पृ० 2, भाग 2, पृ० 207, सकलन लिप्यंतर—शब्दार्थ—अमृतराज और मदन गोपाल, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962

चिन्तन की परिपक्वता और स्वाधीनता आन्दोलन में किसानों की भूमिका

(1930-1936 ई०)

प्रेमचन्द के चिन्तन का सर्जनात्मक महत्त्व

वर्ष 1930 का वर्ष भारत के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन और प्रेमचन्द के साहित्यिक व्यक्तित्व के विकास में इस वर्ष एक नया, निर्णायक मोड़ आता है। 31 दिसम्बर, 1929 को कांग्रेस ने 'पूर्ण स्वराज्य' का पहली बार नारा दिया। इसी दिन कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने को समाजवादी और जनवादी घोषित किया। 26 जनवरी 1930 के दिन कांग्रेस ने देशभर में 'स्वाधीनता-दिवस' मनाया। इस अवसर पर सारे देश में व्यापक प्रदर्शन किये गये, जुलूस के नारों से आममान गुंजा दिया गया। कांग्रेस में समाजवादी विचारों के लोगों की संख्या और शक्ति बढ़ने लगी। हिन्दी साहित्य में भी वामपंथी प्रवृत्तियाँ प्रकट होने लगी। साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों की 'स्वाधीनता' की भावना को राजनैतिक आधार मिला। भारत की गरीब जनता—विशेषतः किसानों और मजदूरों की राष्ट्रीय आन्दोलन में भागीदारी बढ़ने लगी। जनता में उत्पन्न हुई वास्तविक जागृति से ज्यादा ही बुद्धिजीवियों ने आगे बढ़कर उत्साह दिखाया और उन्होंने अपने उत्साह को जनता में प्रतिबिम्बित देखा। इससे साहित्य में मनोगतवादी—आदर्शवादी प्रवृत्तियाँ बढ़ी। राष्ट्रीयता की इस लहर ने साम्प्रदायिकता की भावना को दबा दिया। प्रेमचन्द में भी उत्साह आया और उन्होंने मार्च 1930 से 'हंस' नामक मासिक पत्र निकालना शुरू किया। इसका उद्देश्य था—स्वाधीनता आन्दोलन में सहयोग। वास्तव में इस आन्दोलन से प्रेमचन्द की मथरता और निराशा टूटी तथा उनके साहित्य में तेजस्विता की धारा बही।

प्रेमचन्द अपने सर्जनात्मक साहित्य में भी अपने विचारों का प्रचार करते रहे हैं। उनकी रचनाओं का उद्देश्य प्रजातान्त्रिक भारत की स्थापना करना रहा है। इसलिए उन्होंने एक तरफ साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष किया है दूसरी तरफ सामंतवादी सामाजिक परम्पराओं पर भी चोटें की हैं। वैसे कई बार प्रेमचन्द किसी एक का सहारा लेकर भी दूसरे का विरोध करने देते हैं। लेकिन आम तौर से उनमें यह सजगता देखने को मिलती है कि सामंतवाद का विरोध करते करते वे साम्राज्यवाद के पक्षधर न बन जायें या साम्राज्यवाद का विरोध करते करते सामंती शक्तियों को भूल न जायें। उन्होंने इन दोनों प्रतिक्रियावादी शक्तियों की आंतरिक

एकता को पहचाना और दोनों के खिलाफ साथ-साथ संघर्ष किया। इसके अलावा देश में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन के विभिन्न रूपों के प्रति भी पर्याप्त सजग रहे। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रत्येक कार्यकर्ता से—चाहे वह गांधी और नेहरू ही क्यों न हों—बहस की मुद्रा में ही मिलते रहे हैं। प्रेमचंद ने गांधी-युग में रहकर भी—गांधी जी का समर्थन करते हुए भी—अपनी बुद्धि को अपने पास रखा और उसका उपयोग भी करते रहे। युग के अन्य गांधीवादी साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों से वे इसी अर्थ में भिन्न थे कि जहाँ अन्य लोगो ने चिंतन करना ही बन्द कर दिया वहाँ प्रेमचंद हमेशा सजग चिंतक बने रहे। इसके साथ यह भी सत्य है कि उस युग के अधिकांश बड़े साहित्यकार गांधी विरोधी रहे हैं।

प्रेमचंद अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत के समय से ही वैचारिक गद्य भी लिखते रहे हैं। समय और संघर्ष से उनमें वैचारिक प्रौढ़ता और विचार-बहुलता आई। इस वैचारिक दबाव के कारण ही प्रेमचंद के मन में एक मासिक पत्र निकालने की आकांक्षा पैदा हुई, जिसमें वह खुलकर अपने विचारों को अपने तरीके से प्रचारित कर सकें। बहुत दिनों तक तो प्रेमचंद सर्जनात्मक साहित्य में ही विचारों का प्रचार करके और अन्य पत्र-पत्रिकाओं में टिप्पणियाँ लिखकर इस जरूरत को टालते रहे। अंत में जब उनके विचार इतने विविध और मौलिक रूप से जन्म लेने लगे, जब अन्य पत्र-पत्रिकाओं की नीतियों से उनका वैचारिक विरोध स्पष्ट होता गया, जब सर्जनात्मक साहित्य भी इस वैचारिक दबाव को वहन करने में असमर्थ दीख पड़ने लगा, तब प्रेमचंद ने 'हंस' नामक मासिक पत्र निकालना शुरू किया। कुछ दिनों बाद कुछ वर्षों के लिए 'जागरण' साप्ताहिक भी निकाला। इन पत्रों में प्रकाशित टिप्पणियों और लेखों में प्रेमचंद समकालीन बुद्धिजीवियों से बहस करते हुए प्रतीत होते हैं। वे 'हम' के पाठकों को स्वाधीनता-आन्दोलन का हिस्सेदार बनाना चाहते थे। देश-विदेश की वास्तविक परिस्थितियों से अवगत करवाकर वे पाठकों के घोर भ्रम को समेट कराना चाहते थे। अतः इन वहमों का उद्देश्य पाठकीय चेतना को विकसित करना रहा है।

'हंस' मुख्यतः साहित्य पत्रिका थी—फिर भी वक्त के तबाजों के मुताबिक उसमें राजनैतिक विषयों की चर्चा अधिक होती थी। इस विपुल सामग्री से प्रेमचंद की सामयिक सजगता ही प्रकट नहीं होती, बल्कि एक गंभीर समाजविद् चिंतक की तस्वीर भी उभरती है। अपने काल की घटनाओं का ऐसा 'मर्मि आलोचक' निराला के सिवा हिन्दी का कोई दूसरा साहित्यकार नहीं था। इस विचार-प्रधान साहित्य का अप्रत्यक्ष प्रभाव उनके सर्जनात्मक साहित्य पर भी पड़ा है। इसके कारण इस दौर के सर्जनात्मक साहित्य में 'प्रचार पक्ष' पृष्ठभूमि में चला गया है। हालांकि इस कलात्मकता के पीछे प्रेमचंद का कलात्मक सपना भी है, जो कलात्मक अनुभव से आया है, पर इन टिप्पणियों का भी गहरा हाथ है। रात, गोदान, पूस की रात, दो बँलों की बया और कफन जैसी कलात्मक रचनाओं के पीछे 'हंस' और 'जागरण' की जुझारू पत्रकारिता रही है। वैसे भी आधुनिक हिन्दी साहित्य के बड़े साहित्यकार

किसी न किसी रूप में पत्रकारिता से भी जुड़े रहे हैं। प्रेमचन्द उसी साहित्य-परम्परा की अगली विकसित कड़ी हैं, जिसका सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया है।

‘हंस’ का प्रकाशन और प्रेमचन्द का जीवन-सघर्ष

प्रेमचन्द के जीवन में साहित्य का नेतृत्व पत्रकारिता के हाथ में आ गया था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ‘सरस्वती’ के सम्पादक होने के कारण हिंदी-संसार में श्रद्धेय बन पाये। भारतेन्दु ने कई पत्रिकाएँ निकाली थीं। स्वयं प्रेमचन्द ने ‘मर्यादा’ में कुछ दिनों तक काम किया था और अब ‘माधुरी’ का सम्पादन भी कर रहे थे। ‘माधुरी’ के सम्पादकीय अनुभव ने उनमें एक नयी पत्रिका की आकांक्षा पैदा की क्योंकि विष्णुनारायण भार्गव की पत्रिका को वह अपने इच्छित रूप में बदल नहीं सकते थे और हिंदी-संसार को एक नयी पत्रिका की जरूरत थी। अतः कहानी प्रधान मासिक पत्र निकालने की योजना बनाई गयी। जयशंकर प्रसाद ने उत्साह बढ़ाया और पत्रिका का नाम सुझाया ‘हंस’। ‘हंस’ के प्रकाशन से प्रेमचन्द और गहरे रूप में समकालीन साहित्यकारों से जुड़े। मार्च 1930 को ‘हंस’ का पहला अंक निकला। ‘हंस’ के सम्पादकीय स्तम्भ ‘हंसवाणी’ में प्रेमचन्द ने अपनी आकांक्षाओं और उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से लिखा।

‘हंस’ के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है, जब भारत में एक नये युग का आगमन हो रहा है जब भारत पराधीनता की बेड़ियाँ से निकलने के लिए तड़पने लगा है। इस तिथि की यादगार एक दिन देश में कोई विशाल रूप धारण करेगी।¹

‘हंस’ बनारस से (सरस्वती प्रेस से) निकला, परन्तु प्रेमचन्द लखनऊ में ही रहते थे। अमीनदौला पार्क में वह कई दिनों तक रहे और ‘माधुरी’ का सम्पादन भी करते रहे। 10 जनवरी 1931 को विष्णुनारायण भार्गव का देहांत हुआ, तब प्रेमचन्द को ‘माधुरी’ के सम्पादकीय से अलग कर दिया गया और वह ‘बुकडिपो’ में आ गये। बाद में सरस्वती प्रेस से जमानत मांगी गई और राज्य सत्ता से प्रेमचन्द का बरसो बाद व्यक्तिगत रूप से फिर साक्षात्कार हुआ। ‘सोजे-वतन’ की (1908-9) की राज्य-सत्ता से 1930-31 की राज्यसत्ता ज्यादा चुस्त और चालाक हो गयी थी।

प्रेमचन्द मूलतः देहाती आदमी थे, उनकी सबदनात्मक प्रतिक्रियाओं का रूप देहाती था—फिर भी उनका निवास स्थान और कार्य क्षेत्र शहर में था। यूरोप के ज्ञान-विज्ञान और प्रजातांत्रिक माहौल की उन्हें जानकारी थी, औद्योगिक सभ्यता के दुष्प्रभावों से वह आतंकित थे। वे जहाँ थे वहाँ रहना नहीं चाहते थे—पर मजबूरी में वहीं रहते थे और जहाँ रहना चाहते थे वहाँ रह नहीं सक पाते थे। उनके व्यक्तिगत जीवन का यह द्वन्द्व उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया। गाँव दूर होता चला गया और साम्राज्यवादी आतंक करीब आता गया। अपनी इस परेशानी को प्रेमचन्द ने श्रीराम शर्मा को (लखनऊ 9 फरवरी, 1931) लिखा

“ यह शहरी जिन्दगी, जहाँ परिस्थितियों ने मुझको लाकर पटक दिया है, मेरी मानसिक और भावात्मक हत्या कर रही है। गाँव का शांत जीवन मेरी

अभिलाषाओं का स्वर्ग है। आप जानते हैं मैं खुद एक देहाती आदमी हूँ और मेरे साहित्यिक उद्यम का अधिकांश उस कज को चुकाना म गया है जो मेरे देहाती भाइयों का मेरे ऊपर है।

इसी विचार को ध्यान म रखकर मैंने हस निकाला था। मेरी योजना म आने वाली चीजें ये हैं—

घर का शांत जीवन थाड़ा सा साहित्यिक काम इस पत्र का सम्पादन और सरस किमाना की सोहवत का मजा उठाना। लेकिन पढ़ने वालों की ओर स सहयोग मुझ इतना कम मिला है कि मैं प्रायः व्यर्थ ही इस पत्र को चलाये जा रहा हूँ बस एक इस सुदूर आशा म जा किसी हालत म नहीं मरती कि अतत त्पार अस्मृत नहीं रहत। *

प्रमचंद का यह देहाती व्यक्तित्व उनकी जीवन दृष्टि और साहित्य म गहरे तनाव उत्पन करता रहा है। अपन बाल व शिक्षित युवक युवतियों पर घृणा की हृद तक क्रोध इसी देहातीपन के कारण है। यूरोपीय सभ्यता और व्यवहार के प्रति की गयी प्रतिश्रियाओं का एक बड़ा हिस्सा इसी देहाती व्यक्तित्व की देन है। यह व्यक्तित्व बग युद्ध और रक्तमय क्रांति स घबराता है और गांधी का अनुयायी बने रहन म दश की कुशल समझता है। यद्यपि उतका बौद्धिक व्यक्तित्व इससे ठीक उल्टे निष्कर्ष निवालता है। यह देहाती व्यक्तित्व अकेले प्रमचंद का ही नहीं था बल्कि उस दौर के—और बहुत कुछ आज तक व—हिंदी साहित्यकारों के एक बड़े भाग का रहा है। मणिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी ही नहीं निराला और यहाँ तक कि सुमित्रानंदन पंत के भीतर भी यह देहाती व्यक्ति बैठा है। वास्तव म हिन्दी प्रदेश हि दुस्तान का दहात बहुल प्रदेश रहा है। देश के बड़ उद्योगवा तो कलकत्ता म रहे बम्बई मद्रास म रहे या फिर अहमदाबाद, औरंगाबाद म रहे—उत्तर प्रदेश म सिफ कानपुर एक बड़ा औद्योगिक के द्र था—इस कारण ज्यादातर साहित्यकार गाँव म पैदा हुए और शहर म निवास करन लगे थ। गाँव से शहर की ओर जान की यह प्रक्रिया बीसवी सन्ी की शुरुआत स ही शुरु हा गयी थी और 1930 तक अच्छी खासी सख्या का स्थानांतरण हो गया था। शहर म रहने के बावजूद इन लोगों का भावात्मन तात्मात्म्य बहुत दिना तक गाँव से ही रहा फलत अपन वातावरण के प्रति विरोध भाव म ही इहान जीवन बिताया। चिन्तित जनता का यह तनाव हिन्दी साहित्य म ख म तरह के तनाव और मूल्य सयप लाया है—प्रमचंद की रचनाओं म भी इस तनाव को देखा जा सकता है। प्रमचंद ईश्वर को नहीं मानते थ क्योंकि ईश्वर के अस्तित्व के साथ उसक दयालुता को भी स्वीकार करना पड़ता था और प्रमचंद ऐसे विषम समाज म दयालु ईश्वर की कल्पना नहीं कर सकत थ। फिर भी प्रमचंद म कही धार्मिकता व चिह्न रह गय थे और भया नर आत्मगणप से गुजरने के बाद भी उनम अत तक बन भी रहे। इस उहाने स्वीकार भी किया है। जैनद्र कुमार न प्रमचंद के दम जतिविरोध का सक्षित करत हुए लिया है—

प्रमचंद जी व मन म या मूलतत्त्व अर्थात् ईश्वर के सम्बध म चाहे

अनास्था ही हो, लेकिन मानवजाति द्वारा अर्जित वैज्ञानिक हेतुवाद पर और उसके परिणामों पर उनको पूरी आस्था थी। असम्मान उनके मन में नहीं था। वह कुछ भी हो, कट्टर नहीं थे। दूसरों के अनुभव के प्रति उनमें ग्रहणशील वृत्ति थी। धर्म के प्रति उपेक्षा और सामुद्रिक शास्त्र में उनका यथा किंचित विश्वास—ये दोनों वृत्ति उनमें देखकर मेरे मन में कभी-कभी कुतूहल और जिज्ञासा भी हुई है लेकिन मैंने उनके जीवन में अन्त तक इन दोनों परस्पर विरोधात्मक तत्त्वों को निभते देखा है। वह अत्यन्त सप्रश्न थे किन्तु तभी अत्यन्त धृढालु भी थे। कई छोटी मोटी बातों को ज्यों का त्यों मानते और पालते थे कई बड़ी बड़ी बातों में साहसी सुधारक थे।³

प्रेमचन्द जी का देहाती मन आदर्शवादी है शहरी मानस यथार्थवादी है। यथार्थवादी संयुक्त परिवार को टूटते हुए दिखाता है आदर्शवाद इस टूटन पर रोता है। आदर्शवादी मन ने सूरदास सुजान भगत और होरी की सृष्टि की है। यथार्थवादी मानस ने ज्ञानशंकर जानसेवक, रायसाहब और मिस्टर खन्ना को चित्रित किया है। देहातीमन शांतिप्रिय व्यवस्थाप्रिय और सामाजिक है, शहरी मानस तनाव भरा, विद्रोही और राजनीतिक है। जब उनकी रचना प्रक्रिया में देहात हावी होता है तो सामाजिक साहित्य की सृष्टि होती है जब उन पर शहर का दबाव रहता है तो रचना का परिप्रक्ष्य राजनीतिक हो जाता है। एक ही रचना कई बार, कई जगह सामाजिक है तो दूसरी जगह राजनीतिक सदर्थों से युक्त है।

प्रेमचन्द खास तौर से 'घरेलू आदमी' थे। उनका पारिवारिक जीवन बहुत शांत और सुखद रहा था। उनकी पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी घर की मालकिन थी। 'घर' से निश्चित पर तुल्य घर से लगाव उनके जीवन और साहित्य में जगह जगह पर मिलता है। 'प्रेमचन्द घर में म शिवरानी देवी ने प्रेमचन्द की जो तस्वीर पेश की है—वह तस्वीर प्रेमचन्द के साहित्य में भी जगह जगह मिलती है। उनके पात्र पारिवारिक पृष्ठभूमि से खड़े होते हैं। प्रेमचन्द के घर में एक बूढ़ी नौकरानी थी, उसका बेटन जवान लड़का ले जाता था—इस स्वार्थबुद्धि पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने बड़े दर्द के साथ कहा कि— मैं समझता था ज्यादा खुदगर्जों अंग्रेजी पढ़-लिखी में ही आ गई है। अब इन सबों का हाल देख कर दग रह जाना पड़ता है। पहले मैं देखता था छोटे लोगो में माँ की इज्जत होती थी उसकी जगह पर यह उल्टा ही दिखाई पड़ रहा है। उन बेचारी को रोटी भी देने वाला कोई नहीं है। ये तो जवान हो गये हैं। जैसे बचपन में चूस चूसकर उसका दूध पीते थे अब जवान होने पर उसी का पैसा चूसन को तैयार है। अब इनमें और पशुओं में क्या फर्क है ?'⁴ इस तरह प्रेमचन्द का देहात प्रेमी मन पराजित होता जा रहा है और उनमें आत्म-संशोधन की प्रवृत्ति का तेज कर रहा है। फिर भी अन्त तक उनके मन में देहात का आदर्श हावी रहा। मई 1934 को प्रेमचन्द ने शिवरानी से कहा—

“तब तक धुन्नु जो कुछ होता होगा सो हो जायेगा, उसी को सब काम सौंप करके हम और तुम दोनों देहात में किसानों का काम करेंगे। क्योंकि जो हालत आजकल काशतकारों की है जब तक कोई उनके बीच में रहकर काम नहीं करेगा

तब तक उनको सुग्राहना बहुत मुश्किल है। जरूरत है कि खुद उनके बीच में रहकर के उनमें काम करें। जो काम उनके बीच में रहकर के साल-दो साल में हो सकता है वह लम्बी लम्बी स्त्रीको से काफी दिनों में भी होना कठिन है।”⁵

प्रेमचन्द के सम्मरण लेखकों ने भी प्रेमचन्द के व्यक्तित्व के इस दृढ़ को रेखांकित किया है। उपेन्द्रनाथ अशक ने स्पष्ट लिखा है कि “उम्र का अधिक भाग शहरों में बिताने पर भी प्रेमचन्द आयुपर्यन्त देहात में रहे। यह बात कुछ असंगत सी जान पड़ती है परन्तु यदि आप उनके जीवन और हलचलों में रहने वाले शांतिप्रिय दिल से अभिन्न हैं, उस दिल की गहराई में गोता लगा सकते हैं तो आपको ज्ञात होगा कि शरीर के नाते चाहे वह नगर में रहे हा परन्तु मन के नाते वह सदैव देहात में रहे, देहातियों— निरीह, निर्धन और भोल-भाल देहातियों के साथ रहे, उनके दुःख दर्द में शरीक होते रहे और उन्हें विपत्तियों के गहरे खड्ड से निकालकर उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाने के स्वप्न देखते रहे।”⁶

वैसे प्रेमचन्द के भीतरी देहाती व्यक्तित्व को ही नहीं, उनका भीतर बस रहे शहरी व्यक्तित्व को भी लोगों ने पकड़ा है। इलाचन्द्र जोशी ने सम्मरण में लिखा है—“उनका चमकता हुआ विस्तृत ललाट, अन्तर्भेदिनी तथा सुगम्भीर और शांत आँखें, मोटी भोड़ और बड़ी-बड़ी भूँछें मिलकर एक ऐसे विचित्र व्यक्तित्व को व्यक्त करती थी जो पूर्णतः भारतीय होने पर भी अपन भावलोक के एकाकीपन में एक निराली वैदेशिक विशेषता रखता था।”⁷

गांधी और नेहरू को अगर हम उस युग की राजनीति के दो मुख्य केन्द्र मानें, तो गांधी भारतीय राजनीति का देहात है और नेहरू शहर है। गांधी सत हैं, नेहरू राजनैतिक नता हैं। गांधी का आदर्श समाज रामराज्य है और कुटीर उद्योग है। नेहरू का आदर्श प्रजातांत्रिक समाज और औद्योगिक सभ्यता है। ये दोनों उस पूरे युग की सामाजिक संरचना के दो विरोधी रूप हैं, जो प्रेमचन्द में भी हैं और उस युग के हर शिक्षित, बुद्धिजीवी में मौजूद हैं।

प्रेमचन्द न किसानों के प्रति आत्मीय क्रोध भी जगह जगह व्यक्त किया है। जैनेन्द्र कुमार ने एक घटना का जिक्र किया है। एक बार प्रेमचन्द, शिवरानी देवी और जैनेन्द्र कुमार बनारस से लमही रवाना हुए, सामान काफी था। सारनाथ में सड़क पर सामान रख दिया गया और प्रेमचन्द किसी मजदूर को लाने गये। मजदूर तो थ नहीं अतः अपने प्रिय विमाना के पास गया। लेकिन किसानों का गोरव मजदूरों की अनुमति नहीं देता था। प्रेमचन्द बोल, “देखो जैनेन्द्र, घेली-रुपया हाथ लग ही जाता। गाँव होगा एक मोल या बहुत-से बहुत डेढ़ मोल। पर जाहिलों को समझ हो तब न।”⁸

प्रेमचन्द हालांकि बहुत उदार, न्यायप्रिय और मानवीय थे, फिर भी उन्होंने अपने जीवन में कई छोटी बड़ी बेईमानियाँ भी की थीं। और यह सब काम भूखे प्रेस का पेट भरने के लिए। प्रेमचन्द ने अपने भाई महतावराय के साझे में प्रेस खरीदा और बाद में खुद उसके मालिक बन गये। महतावराय ने अपने रुपये का मूँद मांगा (जो कि तत्कालीन और न्यायमगत तो था ही, मानवीय चाहे न हो) जो प्रेमचन्द ने

साफ मना कर दिया । 1 जून, 1931 को प्रेमचन्द ने महताबराय को इस सम्बन्ध में पत्र लिखा ।

“यह जरूर है कि तुम्हें प्रेस में फँसने और रुपये लगान का अफसोस हो रहा है । मुझे भी हो रहा है । रघुपतिसहाय को भी हो रहा है । सबके सब सिर पर हाथ धरे रो रहे हैं लेकिन । मेरे नुकसान का अन्दाजा करो । गोया प्रस छोलकर मैंने सात हजार रुपये का नुकसान उठाया और मैं इसे हफ्ते हफ्ते सही माँवित कर सकता हूँ । हिसाब प्रेस में भोजूद है । तुम्हारा नुकसान तो सिर्फ मूँद में हुआ ।”⁹

‘प्रेमचन्द ने विनोदशर्कर व्यास से पाक्षिक ‘जागरण’ पत्र लिया और उसे साप्ताहिक रूप में कुछ दिन चलाया था । शत यह थी कि जब उस प्रमाणन्द बंद करने लगे तो व्यास जी को हक होगा कि वह उसको प्रकाशित करें लेकिन जब ‘जागरण’ बन्द किया गया और विनोदशर्कर व्यास ने उस फिर प्रकाशित करना चाहा, तो प्रेमचन्द ने बहाना गढ़ा और 21 मई 1934 को लिखा—

“ ‘जागरण’ के बन्द करने का कारण मेरे यहाँ भी वही था जो आपके यहाँ था । आपने छ महीने में ज्यादा से ज्यादा एक हजार का नुकसान उठाया । मैं चार हजार की लपेट में आ गया । खैर, आप तो जागरण को बन्द कर चुके थे । उसे मैं फिर चलाया । आपन सौ ग्राहक दिये थे । वह सब टूट गये । मेरे लिए ‘जागरण’ नाम से कोई विशेष लाभ क्या बिलकुल लाभ नहीं हुआ । मैंने इस पर चार हजार डबाया है और इसे फिर निकालूँगा चाहे खुद या किसी के साझे में । आप साझा करना चाहे आप कर सकते हैं । अगर आप बिलकुल इसे लेना चाहते हैं तो मुझे चार हजार रुपया नकद दे दीजिए या बीस रुपये महीने मूँद का प्रबन्ध कीजिए । वरना कुछ दिन इंतजार कीजिए और देखिए कि मैं इसे निकालता हूँ या नहीं ।”¹⁰ इन शब्दों में प्रेमचन्द का स्वार्थ साफ झलकता है ।

मार्च, 1931 को कांग्रेस का कराची अधिवेशन होने वाला था प्रेमचन्द जाना चाहते थे । परन्तु गये नहीं क्योंकि 14 मार्च को भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी दे दी गई । प्रेमचन्द ने दयानारायण निगम को लिखा कि “कराची का इरादा था, मगर आज भगतसिंह की फाँसी ने हिम्मत तोड़ दी । अब किस उम्मीद पर जाऊँ । वहाँ गांधी का मजाक उड़गा कांग्रेस गैर जिम्मेदार शोरिशपसन्द तबके के हाथ में आ जायगी और हम लोगो के लिए उसमें जगह नहीं है । मगर इससे ज्यादा हिमाकत कोई गवर्नमेंट नहीं कर सकती थी । तीन आदमियों की सजा में तबदीली करके गवर्नमेंट कितना अच्छा असर पैदा कर सकती थी । पर उसके तर्ज अमल ने अब साबित कर दिया कि तालीफेकल्प (हृदय परिवर्तन) उसने अभी तक नहीं किया और अब भी वह अपनी उमी कदीम गैर जिम्मेदाराना रविश (ढग) पर कायम है ।”¹¹

1 जून, 1912 को प्रेमचन्द ने बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा है—‘मेरी आकाक्षाएँ कुछ नहीं हैं । इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि स्वराज्य सपना में विजयी हो ।’¹² स्वराज्य-विजय की इस कामना से ही उ होने इस निकाला और इसी कामना ने ‘जागरण’ साप्ताहिक निकालने को प्रोत्साहित किया । 22 अगस्त,

1932 की जागरण तब रूप में प्रकाशित हुआ। इस पत्र के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए प्रमचन्द ने लिखा कि 'उमका ध्येय होगा सत्य खोज'।¹³ स्वाधीनता आंदोलन में सत्य कहना खतरे से खाली नहीं था। फलतः 26 अक्टूबर 1932 के जागरण में प्रकाशित उसका अंत नामक कहानी के दृढ़ में प्रम और पत्र से दो हजार की जमानत मांगी गई। प्रमचन्द ने जैन-द्र को लिखा— बहुत परेशान हुआ भागा हुआ लखनऊ पहुँचा। वहाँ Chief Secretary से मिलकर कहानी का आशय समझाया और भी अपनी loyalty के प्रमाण दिये। अब आशा है जमानत मसूख हो जायेगी। जरा जरा सी बात में गदन पर छुरी चल जाती है।¹⁴ 12 दिसम्बर, 1932 के जागरण में प्रमचन्द ने टिप्पणी लिखी— जागरण से जमानत। इसमें उन्होंने चतुराई से पत्रकारिता की परेशानियाँ और अधिकारीवर्ग के रुख को सामने रखा और लिखा कि हम काग्रम में हैं और हमारा सिद्धान्त है कि राष्ट्र का उद्धार शांतिमय उपायों से ही होगा। फिर भी सरकारी कोप की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा

वे जनता के ही नहीं शासन के भी हितपी हैं। एक ओर तो वे जनमत की वकालत करते हैं दूसरी ओर जनता में उस नागरिकता का प्रचार करते हैं जिसे वे राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक समझते हैं। उनकी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। अगर वे निर्भीकता से जनमत को प्रकट नहीं करते तो उनकी आवश्यकता ही जाती रहती है और जनता उन्हें सरकारी पिटठू समझकर उनकी उपेक्षा करती है। यदि साफगोई से काम नहीं है तो सरकार के कोपभाजन बनते हैं और यह अवस्था केवल इसलिए पैदा हो गयी है कि शासक और शासितों के स्वाथ में संघर्ष है। समाचारपत्रों की हेमियत शासितों के वकील की है।¹⁵

स्वाधीनता संग्राम के समय में पत्रकार की वास्तविक कठिनाइयाँ इस टिप्पणी में बोलती हैं। जागरण ज्यों ज्यों सत्य प्रभी और उग्र होता गया सरकार की आँखा में खटकता गया और अंत में 21 मई 1934 को जागरण ने समाधि ले ली। कवि मीर के शब्दों में पाठकों से विदा माँगी गई

अब तो जात है मक़दे से मीर।

फिर मिलेंगे अगर खुदा लाया।

हंस और जागरण के प्रकाशन के साथ प्रमचन्द साहित्यिक विवाद के केंद्र बने। फरवरी 1932 के हंस का आत्मकथा विशेषांक निकाला गया—वह व्यापक चर्चा का केन्द्र बना। इसमें हिन्दी के लेखकों के जीवन चरित्र छाप गये। साहित्यिक जगत में हिन्दी में यह पहला प्रयास था। इस अवसर के लेखकों को अपने 'समय' का बोध है जो किसी अनिश्चित भविष्य के कारण नहीं बल्कि परिवर्तन से तादात्म्य भाव रखने के कारण है। आज्ञा हिन्दुस्तान का लेखक अलगव में जीता है—वह समाज के बाहर भी है और भीतर भी—समाज उसके बाहर भी है और उसके भीतर भी। लेकिन हम के इन लेखकों का आत्मपरिचय सामान्य की हृदयक साधारण और महज्जत है। इसमें लेखकों ने समाज की तस्वीर देन का प्रयास भी किया है। भारत सम्पादक श्री नन्ददुलारे वाजपयी को यह साधारणता अच्छी

और इस अक का लखवो का आत्मविज्ञापन बहुर मखोल उडाया । प्रमचद ने मई 1932 के हस म परितोप शीपक लम्बी टिप्पणी लिखकर बाजपेयी जी के तर्कों का खडन किया । इसक अलावा प्रमचद ने हस के कई और महत्त्वपूर्ण विशेषांक भी निकाल जिनम बाशी अक और 'स्वदेशी विशेषांक' बहुत महत्त्वपूर्ण है । इस दौर म प्रमचद पूरी तरह हिंदी के लेखक बन गये । हालांकि साहित्यिक गुटबंदी के लिहाज स उनका कोई गुट नहीं था फिर भी बनारसीदास चतुर्वेदी शिवपूजन सहाय, जनादन झा जैनेंद्र कुमार आदि लेखक प्रमचद के समर्थक रहे हैं । 1933 म चतुरसेन शास्त्री की पुस्तक इस्लाम का विप वृक्ष छपी । प्रमचद ने इस पुस्तक को साम्प्रदायिकता फलान की एक बेहद शरारत भरी और नीच कोशिश 16 कहा और हस म उसकी बड़ी आलोचना करवाई । 1933 म हा उहोन रामचंद्र टण्डन मे अनुवादक मण्डल की आवश्यकता से सम्बंधित पत्र व्यवहार किया । पश्चिम के व्यापक ज्ञान विज्ञान स भारतीय पाठकों को परिचित करवाना ही इसका उद्देश्य था । यह योजना पूरी नहीं हुई । इसी शीपक से उहोने अजुन म टिप्पणी भी लिखी । हस और जागरण स प्रमचद को कई हजार का घाटा हुआ । अत ये हस को लीडर प्रस वालो को देने वाले थ । जैनेंद्र को उहोने लिखा— पहले इरादा था कि हस उहे दे दू और प्रस चलाता रहूँ । लेकिन सारी विपत्ति की जड तो यह प्रस है । न जाने किस बुरी साअत म उसकी बुनियाद पडी थी । दस हजार रुपया और ग्यारह साल की मेहनत और परेशानियाँ अकारण हो गई । इसी प्रस के पीछे कितने मित्रा से बुरा बना कितनो से वायदा खिलाफी की कितना बहुमूल्य समय जो लिखन पढ़न म कटता थेकार प्रूफ देखने म कटा । मेरी जिंदगी की यह सबसे बड़ी गलती है । 17

आर्थिक तंगी और ऊँच आदश म तालमेल नहीं बैठ पा रहा था । अत प्रमचद ने सिनेमा कम्पनी म काम करने का विचार किया । उद्देश्य था—शिक्षित जनता के परिष्कार के लिए सिनेमा का उपयोग और रुपये बमाना—जिससे हस चल सके और अर्थाभाव स मुक्ति मिले । 4 जून 1934 को प्रमचद बम्बई पहुँचे ।¹⁸ और 3 अप्रैल 1935 को बम्बई छोडकर फिर बनारस आ गये । जब प्रमचद बम्बई म ही थे तब प्रस के कमचारियो न हडताल कर दी । तीन महीने से कमचारियो को वेतन नहीं मिल रहा था । बाद मे मध्यस्थता से हडताल टूट गयी और एक महीन का वतन लेकर कमचारी काम पर आ गये । इस हडताल के कारण भारत म फिर टिप्पणी छपी । प्रमचद ने 25 सितम्बर 1934 को भारत सम्पादक के नाम पत्र लिखा—

मैं मानता हूँ कि गरीबो को समय पर वेतन न मिलने से बड़ा कष्ट होता है लेकिन क्या यदि व खुद ही इस प्रस के मालिक होते तो व भी मेरी ही तरह सिर पीटकर न रह जाते ? उही कमचारियो म कितने ही किसान हैं । क्या उहे किसानी मे घाटा नहीं हो रहा है और व प्रस की मजदूरी करके लगान नहीं अदा कर रहे हैं ? उ हे यहाँ तक विचार न हुआ कि इस प्रस को साहित्य या समाज की सेवा ही के कारण यह घाटा हो रहा है और यही प्रस है जो मजदूरी की वकालत कर रहा

है, और इस लिहाज से मजदूरों की हमदर्दी का हकदार है? ऐसी कोशिश करें कि वह सफल हो और ज्यादा एकाग्रता से उसकी बकालत कर सकें।¹⁹ ध्यान से पढ़ने पर इस पत्र में फिर बायस्थ की खोपड़ी के दर्शन होंगे—यह सही है कि इसके दर्शन अत्यंत मानवीय और उदार रूप में ही हो रहे हैं।

बम्बई आने के बाद प्रेमचन्द ने 28 नवम्बर, 1934 को जैनेन्द्र को फिल्मों दुनिया के निराशाजनक अनुभव लिखे।²⁰ 'मिल' और 'मजदूर' नामक फिल्म की कहानियाँ प्रेमचन्द ने लिखीं। जैनेन्द्र कुमार को 'मजदूर' फिल्म पसंद नहीं आई। प्रेमचन्द ने सफाई देते हुए 7 फरवरी, 1935 को जैनेन्द्र को एक पत्र लिखा।

निष्कर्ष यह निकला कि प्रेमचन्द बम्बई छोड़कर वापस आ गये। इस बीच वही कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, तब देखने गये। दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार की यात्रा की और राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य की आवश्यकता पर बल दिया। अपने विगत जीवन के अनुभवों को बाँटते हुए प्रेमचन्द ने 1 दिसम्बर, 1935 को बनारसीदास चतुर्वेदी को पत्र लिखा—“..... मैं ऐसे महान आदमी की कल्पना ही नहीं कर सकता जो धन-सम्पत्ति में डूबा हुआ है। जैसे मैं किसी आदमी को धनी देखता हूँ, उसकी कला और ज्ञान की सब बातें मेरे लिए बेकार हो जाती हैं। मुझको ऐसा लगने लगता है कि इस आदमी ने वर्तमान समाज व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के शोषण पर आधारित है, स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार कोई भी बड़ा नाम जो लक्ष्मी से असंपृक्त नहीं है, मुझको आकर्षित नहीं करता। यह बहुत सम्भव है कि मेरे मन के इस ढाँचे के पीछे जीवन में मेरी अपनी असफलता हो। हो सकता है कि बैंक में अच्छी रकम रखकर मैं भी औरों जैसा ही हो जाता—उस लोभ का सवरण न कर पाता। लेकिन मैं खुश हूँ कि प्रकृति और भाग्य ने मेरी मदद की है और मुझे गरीबों के साथ ढाल दिया है। इससे मुझे मानसिक शान्ति मिलती है।”²¹

प्रेमचन्द का जीवन एक मजदूर का—श्रमिक का जीवन है। वे नित्य नियम-पूर्वक साहित्यिक कार्य किया करते थे—इससे श्रम के प्रति और फलतः श्रमजीवियों के प्रति आकर्षण उनमें रहा है और हरामखोरी के वे दुश्मन रहे हैं। जीवन के अंतिम दिनों में कई सभाओं का सभापतित्व भी किया है, जिसमें प्रगतिशील लेखक सम्मेलन (1936) की अध्यक्षता प्रेमचन्द के जीवन की एक महान घटना है। अतिरिक्त श्रम के कारण प्रेमचन्द का स्वास्थ्य खराब रहने लगा और वे बीमार रहने लगे। मृत्यु से कुछ दिन पहले 9 जुलाई, 1936 को प्रेमचन्द ने अंशक को पत्र लिखा। इसमें उन्होंने अपने जीवन की आकांक्षाओं को फिर याद किया है—“..... इस महाजनी दौर में पूँसे का न होना अजीब है, जिन्दगी खराब हो जाती है, लेकिन इसके साथ यह भी न भूलना कि गरीबी और मुसीबतों का एक अखलाकी पहलू भी है, इन्हीं आजमाइशों में इन्सान इन्सान बनता है, उसमें छुद-एतमादी पैदा होती है।

‘अगर आदमी वा काबू हो तो किसी देहात में जा बैठे। दो-एक जानवर पाल ले, कुछ खेती कर ले और जिन्दगी गाँव वालों की खिदमत में गुजार दे। शहर

मे रहकर, खासकर बड़े शहर में तो सहज जिन्दगी, सब कुछ तबाह हो जाती है। (कलहाल इतना ही। यह गया है। अब लेटूंगा।²²

1935 से प्रेमचन्द ने 'हंस' को भारतीय साहित्य का पत्र बना दिया। बन्हेयालाल माणिकलाल मुशी और प्रेमचन्द इमक अवैतनिक सम्पादक बने। भारतीय साहित्य परिषद का मुख पत्र बनकर 'हंस' कुछ दिन चला परन्तु प्रेमचन्द को इससे सतोष नहीं हुआ। 27 फरवरी, 1936 को अन्तर हुसैन 'रामपुरी' को बड़े दुःख के साथ लिखा कि 'अगर बन्ध गया तो 'बीसवी सदी' नाम का रिसाला अपने लोगो के चयालात के इशाअत के लिए जरूर निवालूंगा। 'हंस' से तो मेरा ताल्लुक टूट गया। मुफ्त की सरमगजी, बनिया के साथ काम करके शुक्रिय की जगह यह सिला मिला कि तुमने 'हंस' में ज्यादा रुपया सफ कर दिया। 'हंस' जिस लिटरेचर की इशाअत कर रहा था, वह हमारा लिटरेचर नहीं है, वह तो वही भक्तिवाला महाजनी लिटरेचर है जो हिन्दी जवान में काफी है।²³

इधर प्रेमचन्द बीमार पड़ थे उधर 'हंस' से जमानत मांगी गयी और भारतीय साहित्य परिषद ने उसे बदल करन का निर्णय किया। उस बीमारी में ही प्रेमचन्द ने जमानत भरी और 'हंस' का सम्पादन कार्य फिर सभाला। लेकिन उनकी तबीयत सुधरी नहीं। इलाज के प्रयास भी किये गये परन्तु 8 अक्टूबर 1936 को हिंदी के उपन्यास सम्राट का देहान्त हो गया। अब तक उनके जितना बड़ा किसानों का वास्तविक हितैषी साहित्यकार पैदा नहीं हुआ। उनकी मृत्यु में अगर किसी को हानि हुई है तो उन बेजबान भारतीय किसानों की हुई है जिनकी घड़कन ही प्रेमचन्द के साहित्य का प्राण है।

स्वाधीनता आन्दोलन और अग्रजी राज

प्रेमचन्द स्वाधीनता-आन्दोलन के सिपाही थे। उनके लिए स्वराज्य का मतलब था—किसानों के लिए स्वराज्य। स्वराज्य आन्दोलन जब शुरू हुआ (1930 में) तब समाज के कई तबके इसके प्रति शकालु थे—विशेष रूप से इसके फल की ओर काफी सदिग्ध थे। जमींदारों और व्यापारियों में ऐसे शकालु लोग ज्यादा थे। प्रेमचन्द ने उनको समझाते हुए एक टिप्पणी लिखी—स्वराज्य से किसका अहित होगा' (अप्रैल 1930)। इसमें प्रेमचन्द ने यह भी बताया कि स्वराज्य से हित किसका होगा। उनके लिए यह आन्दोलन गरीबों का आन्दोलन है क्योंकि ब्रिटिश राज्य में मजदूर और किसान—विशेषतः किसान ही सबसे ज्यादा शोषित रहे हैं। प्रेमचन्द मानते हैं कि अग्रजों की उपस्थिति समाज के सभी वर्गों के लिए हानिकर है। जमींदार, व्यापारी, उद्योगपति, सरकारी नौकर और मजदूर किसान सब अग्रजों की शोषण-पद्धति के शिकार हैं लेकिन किसानों के लिए अस्तित्व का सकट उत्पन्न हो गया है। स्वराज्य के बिना किसान जिंदा नहीं रह सकते। शोष वर्गों के हितार्थ सरकार भी कानून पास करती रहती है परन्तु किसानों पर लगान बढ़ता जाता है सत्तियाँ बढ़ती जाती हैं। कोसिलो में उनके हितों का कोई रक्षक नहीं। वे जमींदारों के चंगुल में इस बुरी तरह फँसे हैं कि इबाब में पड़कर वे उन्हीं को अपना प्रतिनिधि

बनान पर मजबूर होत हैं जो उनके हितों का भक्षण करते हैं। कांग्रेस व मम्बर या और लोग भी कभी कभी न्याय और नीति के नाते भन ही किसानों की वकालत करें लेकिन किसानों के नाना प्रकार व दुःख और बढ़ताआ की उह वट अजर नही हा सकती, जो एक किसान का हा सकती, अतएव हमार राष्ट्र का सबसे बडा भाग अन्याय पीडित है। मय छोट बड उसी का रबन और मौसि ग्राजर मोटे हात हैं पर कोई उसकी खबर नही लता। मजदूरा व सगठन हैं सरकारी नौकरा न भी अपन अपन दल सगठित कर लिए जमींदारा और महाजना का दल भी व्यवस्थित है, मगर किसानों का कोई मध नही। उनकी शक्ति गिरी हुई है। अगर उह सगठित करन की कोशिश की जाती है, ता सरकार जमींदार, सरकारी मुलाजिम और महाजन सभी भना उठते हैं। चारा ओर स हाय हाय मच जाती है। बालशक्तिम का होआ बताकर उस आंदोलन का जड स खादकर फेंक दिया जाता है इसलिए यह बहना गलत नही है कि स्वराज्य किसानों की मांग है, उह जिन्दा रखन व लिए आवश्यक है अनिवार्य है... 21

यह लम्बा उद्धरण स्वाधीनता आंदोलन मम्बाधी प्रमचन्द की दृष्टि को स्पष्ट करता है। इस कथा स स्पष्ट है कि प्रमचन्द का नजर म कांग्रेस किसानों की सस्था नही है दयावश भन ही वह किसानों की हिमायत करे। किसानों के हित की रक्षा करन के लिए स्वतन्त्र किसान-आंदोलन और किसान सगठन की जरूरत है। प्रेमचंद के इस लेख म राजनीतिक स्थितिया का जो बग विश्लेषण हुआ है वह अधिक विवसित और वैज्ञानिक रूप स माआ-सतुग की रचनाआ म मिलता है। परन्तु माओ व समान वैज्ञानिक न होत हुए भी प्रमचन्द की दृष्टि गांधी की तरह अस्पष्ट और घुघनी नही थी। यह लेख समकालीन परिस्थितिया का अनुभवपरक आवलन है। इसम प्रमचन्द का किसानों स तादात्म्य भाव प्रकट होता है। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास म प्रमचन्द का यह चिंतन बुद्धिजीवियों और किसानों की एकता को सूचित करता है।

यहाँ प्रेमचंद का चिंतन गांधी और नहरू स भिन्न है। गांधी जी न जमींदारों को आश्वासन दिय प्रेमचंद न चेतावनी दी। दोनों का उद्देश्य था ब्रिटिश विरोधी व्यापक समुक्त मोर्चे म जमींदारों को भी शामिल करना। राजनीतिक नेताआ न जमींदारों को आग्रस्त करन का प्रयास किया वहाँ प्रेमचन्द न उनको चेतावनी देते हुए कहा कि ' आप इस समय कर्त्तव्य क्षत्र स मुख ही नही मोड रह है आप दूसरा का उत्साह भी ताड रह हैं। अपने स दूसरा को भी गुलाम बनाए रखन की फिर कर रहे हैं। अगर आपको यह भय है कि आपने जरा भी बान खडे किए और आपकी रियासत बूत हुई आप दूध की मक्खी की भाँति निकालकर फेंक दिय गय, ता इस तरह आप कै दिन अपनी खैर मनायेंगे। वही सरकार जिसके दामन म आप मुँह छिपाये हुए है आपको ठुकरा देगी। आपको हम विश्वास दिलाते हैं कि आपन देश का साथ दिया तो देश भी आपका साथ दगा और अगर आपन उसका माग म बाधाएँ डाली तो आप चाह दूसरा व बल पर कुछ दिन और प्रभुता की मौज उडा लें पर आप जनता की नजर स गिर जायेंगे और जिनके बल पर

आप कूद रहे हैं, वे आपको ही निकाल बाहर करेंगे।”²⁵ यहाँ प्रेमचन्द ने उदार जमींदारों में देश-प्रेम जगाने का प्रयास किया है। प्रेमचन्द जानते थे कि ज्यो-ज्यो आंदोलन बढ़ेगा—जनता की शक्ति बढ़ेगी, त्यो-त्यो जमींदार और उद्योगपति वर्ग का सदेह भी बढ़ता जायेगा और कांग्रेस ने गरीबों का साथ दिया (जिसको उन्हें आरम्भ में आशा थी) तो ये लोग स्वराज्य-आंदोलन के विरोधी हो जायेंगे। अपनी इस आशका को हटाने के लिए प्रेमचन्द ने जमींदारों के सामने यह आदर्श रखा था। यथार्थ स्थिति और आदर्श-आकांक्षा की दूरी को प्रेमचन्द पाटना चाहते थे। परन्तु अनुभव ने प्रेमचन्द को बता दिया कि यह दूरी पटने वाली नहीं है—इसमें और और दरारें पड़ेंगी। प्रेमचन्द की यह सतर्कता उनके चिंतन की मौलिकता की सूचक है।

1930 में प्रेमचन्द के लेखों की पृष्ठभूमि में यह चिंतन है कि स्वराज्य की निर्णायक लड़ाई शुरू हो गयी है—स्वराज्य मिलने ही वाला है। इसलिए शत्रु और मित्र के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचकर अपना पक्ष तय कर लेना जरूरी हो गया है। प्रयास यह किया जाना चाहिए कि भारतीय जनता का व्यापक संयुक्त मोर्चा बना सकें और प्रजातांत्रिक भारत का निर्माण कर सकें। साम्राज्यवादियों के खिलाफ सभी भारतीय तत्वों के मन-मुटाव, निजी स्वार्थ भुलाकर एक हो। गांधी और नेहरू इस आन्दोलन में भारतीय पूंजीपति वर्ग की दृष्टि से सोचते और कार्य करते थे, जबकि प्रेमचन्द किसानों की ओर से सक्रिय थे। लक्ष्य दोनों का एक था—साम्राज्यवाद का ह्रास। प्रेमचन्द ने जोर देकर कहा

“गरीबों की छाती पर दुनिया ठहरी हुई है, यह कठोर सत्य है। हरेक आंदोलन में गरीब लोग ही आगे बढ़ते हैं, यह भी अमर सत्य है। इस आंदोलन में गरीब ही आगे-आगे हैं और उन्हींको रहना भी चाहिए, क्योंकि स्वराज्य से सबसे ज्यादा फायदा उन्हींको होगा भी, लेकिन जैसा हमने ऊपर दिखाने की चेष्टा की है, स्वराज्य हो जाने से समाज के किसी अंग को हानि नहीं पहुँच सकती, लाभ ही लाभ होंगे। हाँ, उनको अवश्य हानि होगी, जो खुशामद, लूट और अन्याय के मजे उठा रहे हैं।”²⁶

‘आजादी की लड़ाई’ शुरू हो गई। गांधीजी की सूझ-बूझ से देश का बुद्धि-जीवी फिर कायल हो गया। इसके प्रभाव की व्याख्या करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा कि इसने बड़े-बड़े कागजी बाघों की कलाई खोल दी—लिबरल फिर सरकारी पिटू ही बने रहे, शिक्षित-समुदाय (वकील, अध्यापक, छात्र) की स्वार्थपरता और साहस-हीनता उजागर हो गयी। सरकारी दमन ने नौकरशाही और साम्राज्यवाद को नये रूप में दिखा दिया। इसके साथ ही जनता का साहस भी बढ़ा। प्रेमचन्द ने घोषणा की कि “सरकार अगर आँखें बन्द रखना चाहती है, तो रखे, पर उसके आँखें बन्द कर लेने से देश की स्थिति नहीं बदल सकती। देश अब अपनी विस्मृतता का मालिक आप बनना चाहता है। और उसकी कीमत अदा करने का निश्चय कर चुका है।”²⁷

ज्यो-ज्यो आंदोलन बढ़ने लगा तो सरकारी दमन भी तेज होने लगा। प्रेमचन्द ने इससे निष्कर्ष निकाला कि साम्राज्यवाद का असली चेहरा प्रकट हो जाने के कारण

भारतीय जनता को इससे फायदा ही होगा।²⁸ इस दमन के विरोध में 'हंस-वाणी' भी गूँज उठी। गांधी गिरफ्तार हुए, तो प्रेमचन्द की कलम तड़प उठी

"अगर उनका ख्याल है, कि यह आंदोलन कांग्रेस के थोड़े-से आदमियों का खड़ा किया हुआ है और उन्हें जेल में बंद करके या डबों से पीटकर इसकी जड़ खोदी जा सकती है, तो यह उनकी भूल है। यह एक राष्ट्रीय आंदोलन है, यह भारतीय आत्मा के स्वाधीनता-प्रेम की विकल जाग्रति है। महात्मा गांधी क्यों भारत के हृदय पर राज्य कर रहे हैं ? इसीलिए कि वह इस विकल जाग्रति के जीते-जागते अवतार हैं। वह भारत के सत्य, धर्म, नीति और जीवन के सर्वोत्तम आदर्श हैं। उन्हें जेल में करके सरकार ने अगर कोई बात सिद्ध की, तो वह यह है कि जिस शासन में ऐसा देवतुल्य पुरुष भी स्वाधीन नहीं रह सकता, वह जितनी जल्दी मिट जाय, उतना ही भारत के लिए और समस्त ससार के लिए कल्याणकारी होगा।"²⁹

इस सरकारी दमन के कारण जनता में निराशा की भावना फैलने लगी। प्रेमचन्द ने इस निराशा को तोड़ा और आंदोलन में जीत की अवश्यभावी बताया

'सबसे बड़ी बात, जो हमारी विजय को निश्चित कर देती है, वह 'हक' है। हम 'हक' पर हैं और 'हक' की हमेशा विजय होती है। यह एक अमर सत्य है। समय भी हमारे साथ है। यह डेमोक्रेसी का युग है। निरंकुशता की जड़ें खोखली होती जा रही हैं। ससार ने निरंकुश शासन का या तो अन्त कर दिया, या करता जा रहा है, अतएव समय भी हमारे साथ है।'³⁰

प्रेमचन्द जनता के पत्रकार थे। जन-भावना और जन-संघर्ष का उभार उनकी कलम में ओज और उत्साह लाता है। जन-संघर्ष का अभाव उन्हें आत्मालोचन की ओर प्रेरित करता है। इस संघर्ष की शुरुआत में उनकी टिप्पणियाँ 'उत्साह' से भरी हुई थीं। लेकिन धीरे-धीरे यह आंदोलन कमजोर पड़ने लगा। सरकारी दमन तेज हुआ, जन सगठनों के अभाव से कांग्रेस का प्रचार कार्य भी मध्यम पड़ने लगा, आर्थिक मंदी से सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का उत्साह भी क्षीण होने लगा और राजनीतिक दृष्टि से गांधी-इविन समझौता हुआ। इसके साथ ही साम्प्रदायिक दंगे (जो अब राजनैतिक अधिकारों के लिए होने लगे थे) होने लगे। कुल मिलाकर जनता में निराशा की भावना फैलने लगी। इसके बावजूद प्रेमचन्द के मन में निराशा नहीं जम पायी थी। स्वराज्य के आदर्श का वैभव उनके मन-मस्तिष्क पर छाया रहा। लेकिन राजनैतिक नेताओं और कार्यकर्त्ताओं के प्रति आलोचना का रुख फिर से उभरने लगा। यह रूप पहले गौण विषयों से शुरू हुआ और फिर उनकी 'राजनीति' के सामने भी प्रश्न चिह्न लगाने लगा। कांग्रेसियों के अंग्रेजी प्रेम को साहित्यकार प्रेमचन्द ने अपनी आलोचना का पहला निशाना बनाया। उनके विचार और व्यवहार में एकता थी। (विचार और व्यवहार की एकता उनके लिए एक प्रतिमान भी थी, जिससे उन्होंने अपने समकालीन जीवन की आलोचना की थी) इसके अलावा वह आदर्श की 'पूर्णता' और 'पवित्रता' के حامی थे।

'गांधीजी से बातचीत' (1939 ई०) करते हुए महाकवि निराला ने कहा था कि "देश की स्वतंत्रता के लिए पहले समझ की स्वतंत्रता जरूरी है।"³¹ निराला

और प्रेमचन्द दोनों साहित्यकारों ने अपनी सर्जनात्मक कृतियों और वैचारिक निबन्धों, सम्पादकीय टिप्पणियों के माध्यम से भारतीय शिक्षित मध्यवर्ग की 'समझ की स्वतन्त्रता' स्थापित करने और बढ़ाने का प्रयास किया है। 'समझ की स्वतन्त्रता' से 'कर्म की स्वतन्त्रता' आती है। सन्निय और स्वतन्त्र राजनीतिक नेता ही स्वाधीनता-आन्दोलन को सही नेतृत्व प्रदान कर सकता है और कुल मिलाकर आम जनता में आत्म विश्वास और साहस पैदा कर सकता है। इसके लिए एक ओर राजसत्ता के खिलाफ संघर्ष करना जरूरी है दूसरी तरफ अपनी प्राचीन रूढ़ियों, अधविश्वासों और अपन-आप से संघर्ष करना जरूरी है। इसी से हम 'दैहिक पराधीनता' से ही नहीं मानसिक पराधीनता से भी मुक्त हो पायेंगे। प्रेमचन्द ने 1931 के शुरू से ही फिर इस मानसिक पराधीनता का हटाने का प्रयास शुरू किया। 'मानसिक पराधीनता' (जनवरी 1931), 'राष्ट्रीय कार्यों में गुलामी' (अप्रैल 1931), 'अंग्रेजी भाषा का रोग' (सितम्बर 1931) शीर्षक टिप्पणियों में प्रेमचन्द ने अंग्रेजी भाषा और संस्कृति के आधिपत्य की निन्दा की और राष्ट्रीय संस्थाओं में व्याप्त इसके आधिपत्य पर खेद व्यक्त किया।³²

फिर भी 1931 में प्रेमचन्द कांग्रेस और गांधीजी के राजनीतिक कार्यक्रम के साथ रहे। फरवरी, 1931 को कांग्रेस जिन्दाबाद शीर्षक टिप्पणी लिखकर प्रेमचन्द ने गांधी-इंविन समझौते का समर्थन किया। मार्च में फिर कांग्रेस की तरफदारी करते हुए लिखा, 'कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त हो गया। हम कुछ शका थी, कि शायद गांधी-इंविन समझौते के विरोधी कुछ गुल न खिलायें, पर वह शका निर्मूल सिद्ध हुई। सबसे अधिक प्रसन्नता हम स्वराज्य की उस व्याख्या से हुई, जो कांग्रेस ने एक प्रस्ताव के रूप में मंजूर की है। उसने उन शकाओं का शमन कर दिया, जो कांग्रेस की नीति के विषय में कुछ लोगों को थी। अब कांग्रेस का ध्येय राष्ट्र के सामने है। वह गरीबों की संस्था है, गरीबों के हितों की रक्षा उसका प्रधान कर्तव्य है। उसके विधान में मजदूरा, किसानों और गरीबों के लिए वही स्थान है जो अन्य लोगों के लिए। वर्ग, जाति, वर्ण आदि के भेदा को उसने एकदम मिटा दिया है। हम कांग्रेस को इस प्रस्ताव के लिए बधाई देते हैं।' ³³ स्पष्ट है कि प्रेमचन्द कांग्रेस के उत्तम ही साथ हैं, जितनी कि कांग्रेस गरीबों के साथ है।

देश में दंगे होने लगे तो प्रेमचन्द ने इस द्वेष के खिलाफ आवाज उठाई और दंगे के कारणों का स्पष्ट किया। कानपुर में हुए भयानक दंगे का जिक्र करते हुए प्रेमचन्द ने स्पष्ट घोषित किया कि 'बुद्धि यह मानने को तैयार नहीं होती कि जो सरकार राजनीतिक आंदोलन का दमन करने में इतनी तत्परता से काम ले सकती है इतनी आसानी से गालियाँ चला सकती है, वह इस अवसर पर इतनी अशक्त हो गयी कि उसकी उपस्थिति में रक्त की नदी बह गयी और वह कुछ न कर सकी।' ³⁴ असल में इसके पीछे अंग्रेजों की यह भेद नीति थी कि सरकार के बिना भारतीय शांतिपूर्वक रह भी नहीं सकते। प्रेमचन्द ने नारा दोष सरकार के सिर पर डालकर ही सतोंप नहीं कर लिया बल्कि उन्होंने राजनीतिक नेताओं की भूमिका को भी स्पष्ट किया और ललकारकर कहा कि 'हम खुद कांग्रेसमैन हैं। आज से नहीं, हमेशा से।

“हमारा विश्वास है, मगर हम यह कहने से बाज नहीं रह सकते कि कांग्रेस
 ॥ ॥ लोगों को अपना सहायक बनाने की ओर उतनी कोशिश नहीं की जितनी करनी
 चाहिए थी।” “मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की गयी पर बदिली के
 साथ। कांग्रेस ने ऐसी सभावनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया। यह उसी अदूरदर्शिता
 का परिणाम है।”³⁵ इसके लिए प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक शिक्षा-प्रणाली में सुधार की
 जरूरत पर बल दिया। प्रेमचन्द न यह भी कहा कि हम गलत इतिहास पढ़कर गलत
 धारणाएँ स्थिर कर रहे हैं। इसलिए सही इतिहास ही इसको दूर कर सकता है।³⁶
 इसके बावजूद प्रेमचन्द ने स्पष्ट लिखा है कि स्वराज्य प्राप्त किये बिना इस जातिगत
 द्वेष को पूरी तरह नहीं मिटाया जा सकता। इसका कारण यह है कि ‘देश को अपनी
 सारी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक बीमारियों की एक ही अमोघ औपधि देव
 पड़ रही है और वह ‘स्वराज्य’ है और सत्तार का जनमत उसके साथ है।’³⁷ इसलिए
 समस्त निराशाजनक परिस्थितियों के बावजूद ‘स्वराज्य मिलकर रहेगा’ (मई 1931)

इस समय देश में आतंकवादियों की कार्यवाहियाँ भी बहुत बढ़ गयी थी।
 प्रेमचन्द गांधी के साथ थे और गांधी आतंकवादियों की हिसा के विरुद्ध थे। महात्मा
 जी ने जो मार्ग बताया था, वह प्रेमचन्द को ज्यादा व्यावहारिक लगा क्योंकि उसमें
 ‘क्रांति की भीषणता के बिना ही क्रांति के लाभ प्राप्त’ होने की सभावना थी। इसलिए
 उन्होंने आतंकवादियों की आलोचना की। ‘नया प्रेस बिल’ (सितम्बर 1931) और बंगाल
 एडिजेंस (दिसम्बर, 1931) पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने खास तौर से उन दम-
 वाजों की आलोचना की जो “दो-चार कर्मचारियों की हत्या करके वह चाहे अपनेको
 विजयी समझ लें, लेकिन यथार्थ में उनके हाथों राष्ट्र का जो अहित हो रहा है, उसका
 अनुमान करना कठिन है। यह न तो बहादुरी है, और न ईमानदारी कि तुम तो
 आग लगाकर दूर छड़े हो जाओ और घर दूसरों का जल। सत्तार पर आज भी प्रेम
 और सत्य का राज्य है। आज भी अन्याय को न्याय के सामने सिर उठाने का साहस
 नहीं होता। महात्मा जी ने प्रेम और अहिंसा का बल प्रदर्शित करके मारे सत्तार को
 चकित कर दिया है।”³⁸

सितम्बर, 1931 को महात्माजी की विजययात्रा पर टिप्पणी करते हुए
 प्रेमचन्द ने लिखा है कि ‘उनकी राजनीति और धर्मनीति दोनों एक हैं। यही कारण
 है कि वह समर में जितने धीरे और साहसी हैं संधि में उतने ही दूरदर्शी और दृढ़।’³⁹
 इस पूरे वर्ष में प्रेमचन्द की आशा के केन्द्र गांधीजी रहे, कांग्रेस के अन्य नेताओं की,
 उसकी कार्यप्रणाली की, यहाँ तक कि उसकी दूरदर्शिता पर भी प्रश्नचिह्न लगाया—
 पर गांधी पर उनकी सहज आस्था जमी रही। इसी वर्ष तक प्रेमचन्द का चिंतन का
 परिप्रेक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय जगत हो गया था। उन्होंने विश्व जनमत की शक्ति को महसूस
 किया था। समाजवादी देश रूस की उन्नति के प्रति अत्यंत प्रशंसा भाव उनमें था।
 रूस की उन्नति का आदर्श प्रेमचन्द को आकर्षित करता है। उनकी आदर्श समाज-
 कल्पना ब्रिटेन और अमेरिकी समाज की नहीं थी, बल्कि सोवियत रूस के करीब थी।
 इस स्तर पर गांधीजी के रामराज्य की कल्पना से प्रेमचन्द की कल्पना किंचित, पर
 मौलिक रूप में भिन्न थी। इस भिन्नता का एहसास प्रेमचन्द को बहुत दिनों तक नहीं

था। बाद में धीरे-धीरे उन्हें इसका एहसास हुआ। जीवन के अंतिम दिनों में ही वे इस निष्कर्ष पर पहुँच पाये कि आजादी की उनकी कल्पना कांग्रेस की कल्पना से अलग है।

गांधीजी फिर गिरफ्तार हुए और सरकारी दमन बढ़ने लगा। इसके साथ ही समझौते की बातचीत भी चलने लगी। कांग्रेस स्वराज्य माँगती है। सरकार भी स्वराज्य देने के लिए तैयार है। फिर भी मत्थाग्रह हो रहा है और दमन किया जा रहा है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए प्रेमचन्द अप्रैल, 1932 में ('दमन की सीमा') 'हम' में टिप्पणी लिखी कि आखिर कांग्रेस स्वराज्य क्यों माँगती है। "वह केवल देश को सुखी देखना चाहती है।" लेकिन सरकार के लिए लगान और मालगुजारी प्रजा के सुख चैन से ज्यादा जरूरी चीज है। 'राष्ट्र जिस स्वराज्य का अर्थ प्रजाधिकारों की वृद्धि समझता है शासन पक्ष वाले उसी स्वराज्य का अर्थ शासनधिकारों की वृद्धि बताते हैं।'⁴⁰ इसलिए कांग्रेस ने शायद पहली बार प्रजाहित को अपना मुख्य उद्देश्य बनाया था। जो लोग वर्तमान उन्नति से फायदा उठा रहे हैं उन्होंने कांग्रेस की शक्ति ताड़ने में राजनीति का पूरा जोर लगा दिया और अल्पसंख्यक भाइयों का एक सघ बना डाला, जो बहुमत को अल्पमत कर देता है।'⁴¹ और भी कई हथकंडे काम में लाये गये। "बात यह है, कि इंग्लैंड राज सत्ता का अल्पांश भी छोड़ना नहीं चाहता। कांग्रेस ही एक ऐसी सत्ता है, जो वास्तविक रूप में जन सत्ता चाहती है, जो जात-पाँत के झगड़ों से अलग रहकर राष्ट्र के उद्धार का प्रयत्न करती है, जो दरिद्र किसानों के हित को सबसे ऊपर रखना चाहती है, विभिन्नता में एकता उत्पन्न करके राष्ट्र को बलवान बनाना चाहती है, जिसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि देश का शासन देश के हित के लिए हो, हम अपने ही देश में दलित और अपमानित न रहे हममें यह व्यापक बेकारी न रहे, हमारी जनता पशुओं की भाँति जीवन न व्यतीत करे। हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें हमें राष्ट्र की इच्छानुसार परिवर्तन और सुधार करने का अधिकार हो, जिसमें हमारे ही घन से पलने वाले कर्मचारी हमीका कुत्ता न समझें, जिसमें हम अपनी सस्कृति का निर्माण आप कर सकें। हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें हम भी उसी तरह रह सकें, जैसे फ्रांस या इंग्लैंड में लोग रहते हैं। इसके साथ ही हम उन बुराइयों से भी बचना चाहते हैं जिनमें अन्य अधिकांश राष्ट्र पड़े हुए हैं। हम पश्चिमी सभ्यता की कृत्रिमताओं को मिटाकर उस पर भारतीयता की छाप लगाना चाहते हैं, हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें स्वायत्त और फूट प्रघाल न हो, नीति और धर्म प्रघाल हो।'⁴²

यहाँ सवाल उठता है कि पश्चिम की इन बुराइयों की जड़ क्या है। प्रेमचन्द ने इस कारण प्रक्रिया का भी विश्लेषण किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'भौतिकवाद' ही इसका मूल कारण है। भौतिकवाद के मूल में मनुष्य की स्वार्थ बुद्धि को औद्योगीकरण ने बल पहुँचाया। इससे मनुष्य अपने मूल रूप से अलग हट गया और उस पर कृत्रिमता का आवरण छा गया। मनुष्य की मानवीयता पर पर्दा पड़ते ही मशीनी गुण में स्वार्थ-बुद्धि विकराल रूप में प्रकट हुई और व्यवसायवाद और राष्ट्रवाद का उदय हुआ। राष्ट्रवाद न अन्य देशों को गुलाम बनाने की ओर प्रेरित

किया और व्यवसायवाद ने मुलाम देशों को माल बेचने वाला बाजार बना दिया। इन प्रवृत्तियों से साम्राज्यवाद का उदय हुआ और भारत जैसे देश इसकी प्रवृत्ति की चपेट में आये। इस तरह भौतिकवाद-व्यवसायवाद-राष्ट्रवाद-साम्राज्यवाद का समीकरण बना। इस साम्राज्यवाद से सघर्ष करने के लिए आध्यात्मवाद का, धर्म का, नीति का सहारा लेना जरूरी है। चिंतन को यह पृष्ठभूमि प्रेमचन्द की कुछ टिप्पणियों में जगह-जगह मिलती है। यह प्रेमचन्द के अनुभवपरक चिंतन की सीमा है जिसने वस्तुस्थिति के दृश्यमान पहलू को ही देखा है। वास्तविकता का एक दूसरा द्वन्द्वात्मक पहलू भी है, जिसे प्रेमचन्द नहीं देख पाये। अक्टूबर-नवंबर, 1932 के 'हंस' में 'नवयुग' पर विचार करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा

‘देवगति से वर्तमान भसार-संस्कृति का दीवाला निकाल रहा है। साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद की जड़ें तक हिलने लगी हैं। जिस सगठन पर यह संस्कृति ठहरी हुई थी, उस सगठन में कम्पन शुरू हो गया। मनुष्य ने जिन कृत्रिम साधनों का आविष्कार करके मानव जीवन को कृत्रिम बना दिया था, उनकी कलाई खुलने लगी हैं। स्वार्थ से भरी हुई यह गुटबंदी, जिस आज राष्ट्र कहा जाता है और जिसने भसार को नरक बना रखा है, अब टूटने लगी है।’⁴³

1932 का वर्ष प्रेमचन्द के चिंतन में उत्साहहीनता का वर्ष रहा है। इस वर्ष उन्होंने स्वाधीनता-आंदोलन पर बहुत कम टिप्पणियां लिखीं। इसके बावजूद जो कुछ लिखा उसके मूल में स्वराज्य ही था। विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर ‘जागरण’ में कुछ टिप्पणियां लिखीं। अछूतपन मिटता जा रहा है (मई, 1932), पदों थोड़े दिनों का मेहमान है’ (मई, 1932), ‘तलाक की संख्या क्यों बढ़ती जाती है (अगस्त, 1932), ‘हरिजनो के मंदिर प्रवेश का प्रश्न’ (14, नवम्बर 1932) ‘महान तप’ (19 सितम्बर 1932), ‘काशी का कलक’ (5, अक्टूबर 1932), ‘अछूत को मन्दिरों में जाने देना पाप है’ (21, नवम्बर 1932), ‘मंदिर प्रवेश और हरिजन’ (29 मई 1933) आदि टिप्पणियों में प्रेमचन्द ने यह बताया है कि इनके खिलाफ किया गया सघर्ष स्वराज्य के लिए सघर्ष है और स्वराज्य ही इन समस्याओं को अंतिम रूप से मिटा सकता है। इनके अलावा हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर भी कुछ तात्त्विक विचार प्रकट किये गये हैं। प्रेमचन्द ने इस समस्या के मूल में जनता की दरिद्रता को रेखांकित किया है। उन्होंने अंग्रेजों द्वारा प्रचारित इस मिथ्या धारणा का विरोध किया है कि हिन्दू और मुसलमानों के बीच शांति स्थापित करने के लिए किसी तीसरी शक्ति की जरूरत है। इसके बावजूद समकालीन समाज में निहित साम्प्रदायिक मनो-वृत्ति को भी उन्होंने पहचाना और उसकी भर्त्सना की।⁴⁴

इस वर्ष प्रेमचन्द की नजर किसानों की ‘वास्तविक’ परेशानियों की ओर भी गयी और उस पर उन्होंने टिप्पणियां कीं। ‘आराजों की चक्कंदों’ (19, अक्टूबर 1932), ‘किसानों की बर्जा कमेटी का प्रस्ताव’ (12 अक्टूबर, 1932), ‘हतभागे किसान’ (9 दिसम्बर, 1932) में किसानों की हालत बयान की गयी है। उनके दुख-दर्द की ओर शिक्षित समुदाय का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास इन टिप्पणियों में है। इनके अलावा जमींदारों की स्वायत्तता और सरकार द्वारा जमींदारों के प्रति

पक्षपात की भी चर्चा की गयी है। नयी परिस्थिति में जमींदारों का कर्तव्य' (29 अगस्त 1932), 'जमींदारों के जायदाद की रक्षा' (12 अक्टूबर, 1931) में जमींदारों की प्रतिपामी भूमिका की आलोचना की गयी है। अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए प्रेमचन्द न लिखा है

हम तो परिस्थिति में कुछ ऐसा परिवर्तन करने की जरूरत है कि किसान सुखी और स्वस्थ रहे। जमींदार, महाजन और सरकार सबकी आर्थिक ममृद्धि किसान की आर्थिक दशा के अधीन है। अगर उसकी आर्थिक दशा हीन हुई तो दूसरों की भी अच्छी नहीं हो सकती। किसी दश के सुशासन की पहचान साधारण जनता की दशा है। थोड़े में जमींदार और महाजन या राजपदाधिकारियों की सुदशा से राष्ट्र की सुदशा नहीं समझी जा सकती।⁴⁵

'स्वदेशी पर पुनर्विचार'

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की पहली संगठित अभिव्यक्ति स्वदेशी आंदोलन (1905) में हुई। तब से अब तक यह कार्यक्रम भारतीय जनता की सामान्य चेतना का अंग बन गया था। असहयोग के जमाने में भी और सविनय अवज्ञा आंदोलन के दिनों में भी स्वदेशी का महत्त्व बढ़ता ही गया। सारी राजनीतिक पार्टियाँ और स्वदेशी-प्रमी साहित्यकारों ने देश भर में प्रचार किया कि प्रत्येक भारतीय को भारतीय वस्तुओं का ही उपयोग करना चाहिए। इतिहास में मिले आँकड़े से स्पष्ट है कि भारत में यह भावना लगातार फैलती चली गई। इससे भारतीय उद्योग और व्यवसाय को बढ़ने में मदद मिली। लेकिन इनके साथ कुछ नवीन अनुभव भी जनता को मिले। वास्तव में मनुष्य की स्वायत्त-बुद्धि उत्तम से उत्तम सिद्धांत में से भी अपने लिए सुरक्षित स्थान खोज लेती है। स्वदेशी के बढ़ते प्रचार को देखकर भारतीय व्यापारियों और पूँजीपति बग न खूब फायदा उठाया। एक तरफ तो उसने जनता में 'स्वदेशी' के प्रचार-प्रसार का काम किया और दूसरी तरफ सरकार पर दबाव डालकर विदेशी वस्तुओं पर अतिरिक्त कर जमावाये और अपने लिए विज्ञेय सरक्षण की माँग की। इसके साथ ही साथ स्वदेशी वस्तुओं की कीमतें बढ़ा दीं। प्रेमचन्द ने इस घपले को महसूस किया और इसके खिलाफ आवाज उठाई। यही नहीं, कुछ नकलचियों ने असली स्वदेशी चीजों की जगह नकली माल भी बेचना शुरू कर दिया।⁴⁶ 'जागरण' में 19 अक्टूबर 1931 का टिप्पणी करते हुए स्वदेशी की आड़ में लूट की आलोचना की

स्वदेशी वस्तुओं का दिन दूना प्रचार देखकर जहाँ हम हँसते हैं, वहाँ यह देखकर खेद भी होता है कि ग्राहक के त्याग के भाव का व्यापारी समाज कितना अनुचित लाभ उठा रहा है। कोई स्वदेशी चीज खरीदिय वह उसी दाम की विदेशी चीज से या तो महंगी होगी या अगर एक दाम हुए तो माल घटिया होगा। अगर ग्राहक से त्याग करने की आशा की जाती है तो मिल के करोड़पति मालिकों को क्या कुछ त्याग करने की प्रेरणा नहीं होती? स्वदेशी राष्ट्र के प्रति व्रत है और इस व्रत का पालन दानों और सहायता चाहिए। मिल मालिकों का कर्तव्य है कि वे अपने माल को उसी त्याग भाव से सस्ता बचन का उद्योग करें, जिस त्याग भाव से ग्राहक उनकी माल खरीदता है।⁴⁷

व्यवसायी और मिल-मालिक वर्ग अपने उसी ढर्रे पर चलता रहा। प्रेमचन्द ने फिर आलोचना की। शक्कर मिलों में ऊन की खरीद का सवाल उठा, तो प्रेमचन्द ने किसानों का पक्ष मामने रखा। इस बीच सरक्षण का सवाल उठा, कि सरकार देशी उद्योगों को सरक्षण दे। प्रेमचन्द ने इसके पीछे निहित आर्थिक शक्तियों का विश्लेषण करते हुए कहा कि 'यह व्यापारियों का युग है, ग्राहक का कोई मूल्य नहीं। अतः यहाँ जो भी कानून बनते हैं वे उद्योगपतियों को ही ध्यान में रखकर बनते हैं।' जब बाहर का व्यापारी आकर सस्ता माल बेचता है, तो हमारे व्यापारी का भी यह दायित्व है कि अपनी मेहनत, सुप्रसन्न और कार्यकुशलता से अधिक सस्ता माल पैदा करें। यह नहीं कि सरकार से सरक्षण की माँग करके बाहर के सस्ते माल के मुकाबले जनता को अपना महंगा माल खरीदने पर मजबूर करें। प्रेमचन्द ने लिखा कि इस तरह का सरक्षण देना 'जनता के साथ सरामर अग्न्याय' है। इसी समय भारतीय सूती उद्योग के मालिकों ने जापानी कपड़े पर टैक्स लगाने की माँग की थी। प्रेमचन्द को सन्देह था कि अगर जापानी कपड़े पर टैक्स लगाया गया तो जापान का निर्यात होने वाली भारतीय रुई बन्द हो जायेगी। इधर भारतीय उद्योगपति भारतीय रुई का इस्तेमाल नहीं करते और न इंग्लैंड ही उसे खरीदने को तैयार है। एस.म. भारतीय किसानों की रुई का क्या होगा? यह सवाल प्रेमचन्द के मन में उठा और 'जागरण' में लगातार टिप्पणियाँ लिखकर उन्होंने भारतीय व्यवसायियों की इस मनोवृत्ति की आलोचना की। किसानों की इस समस्या को ध्यान में रखते हुए 17 जुलाई, 1933 के 'जागरण' में 'शक्कर सम्मेलन' पर टिप्पणी करते हुए लिखा है

'जब तक देश के मुद्दिन नहीं आते और सभी व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण नहीं हो जाता, पूँजीपतियों के हाथ में किसानों और मजदूरों की हिस्मत रहेगी और सरकार ऊपरी मन से नियंत्रण करने का स्वाग भरकर कोई उपकार नहीं कर सकती। हम तो किसानों को यही मलाह देंगे कि वे खुद अपना संगठन करें और अपनी शक्कर अपनी छटसालों में बनाकर इस ड्यूटी का पूरा फायदा उठावें, मगर किसानों का संगठन करे बौन। हम तो देख रहे हैं कि राष्ट्र के वे नेता, जिनमें इसकी आशा की जा सकती थी, शक्कर कपणियों के हिस्सेदार या मस्यापक बन हुए हैं, और पूँजीपतियों की हैमिया में यह स्वामाविक है कि वे ज्यादा में ज्यादा नफा अपनी गोद में रखने की चेष्टा करें।' 49

देशी रजवाड़े

ब्रिटिश सरकार ने सारे भारत की दो भागों में बाँट दिया था। एक तो ब्रिटिश भारत और दूसरा देशी रियासतों का भारत। प्रेमचन्द के साहित्य और उनके चिन्तन के केन्द्र में ब्रिटिश भारत में निहित सामाजिक समस्याएँ रही हैं। परन्तु उन्होंने इन रजवाड़ों में व्याप्त समस्याओं का भी ग़ौरवशाली नज़रअंदाज़ नहीं किया है। 'रगमूमि' उपन्यास में बिम्बार में उद्भूत देशी राजाओं की सामन्तिय हानन बयान की है। 'हम' और 'जागरण' की मातादीवीय टिप्पणियों में भी इनकी पर्याप्त स्थान मिला है।

'अनवर नरेग' (23 मई, 1933), 'साबुशा नरेग का निर्वाचन' (मिनश्चर 1934), 'हमारे देशी नरेगों का पतन' (जून, 1934), 'देशी रजवाड़े' (फरवरी,

1933), 'अलवर नरेश' (फरवरी, 1933) आदि टिप्पणियों में इनकी पतनोग्रुण हालत को निराशाजनक सहानुभूति से वर्णित किया है।

समाज में जमींदारों की भूमिका

प्रेमचन्द ने समाज में जमींदारों की भूमिका का सवाल बार-बार उठाया है। इससे एक तरफ तो उन्होंने यह दिखाने की चपटा की है कि यह वर्ग समाज के लिए फालतू है, इस वर्ग का कोई भविष्य नहीं है, इसमें अपनी हरकतों से अपने आपको समाज का दुश्मन सिद्ध कर दिया है, और दूसरी तरफ जमींदार वर्ग को सलाहनुमा चेतावनी भी दी है कि अभी उन्हें अपने हान का कारण समाज के सामने स्पष्ट करना है, अपनी सार्थकता प्रमाणित करनी है। इसके अलावा जमींदार वर्ग के वास्तविक क्रियाकलापों को भी स्पष्ट किया है।

'जमींदारों की दुर्दशा (22 जनवरी 1934) पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने उनकी तुलना उस रखैल स्त्री से की है, जिसका यौवन अब 'चल चलाव' पर हो। सरकार जमींदारों से जितना फायदा उठा सकती थी उतना उठा चुकी। अब सरकार समझ रही है कि इनका अस्तित्व सरकार के लिए भारी पड़ रहा है। अतः 'जमीन मौका मिला चट पट एक सघ सभा एसोसिएशन बना लिया जाता है और लोग बड़ी-बड़ी पगडियाँ बाँध और नीचे अच्छे पहन और कमर में बफादारी का पटका कस और गरदनो में स्वामिभक्ति के लौक डालकर गवर्नर के बारगाह में हाजिर हो जाते हैं, और अपनी लायलटी और भक्ति के पचड़े शुरू कर देते हैं।' लेकिन यह सब किसलिए? इसलिए कि वे जनता पर मनमाना अत्याचार कर सकें, मनमाना लगान वसूल करें और कोई पूछने वाला न हो। लेकिन सरकार ने कहना शुरू कर दिया है कि जोग धारण शुरू करो अपने को संगठित करो और जनता की भावनाओं का आदर करो समाज में अपना स्थान खुद बनाओ। 'आपको अपने सामाजिक महत्त्व का क्रियात्मक प्रमाण देना पड़ेगा कवल इजाफे और बेदखली करके या नालिश करके या डडवाजी के जोर से लगान वसूल करके चैन की बसी बजाना नहीं। आपका यह व्यवहार अगर किसी बात का प्रमाण है तो वह आपकी निरकुशता, आपकी हृदय शून्यता, आपकी अमानुषिकता, आपकी स्वार्थान्धता और आपकी वर्तमान विचारधारा से अनभिज्ञता का उज्ज्वल प्रमाण है।'⁴⁹

काउंसिलों में ये जमींदार अपनेको किसानों का प्रतिनिधि बताते हैं। सरकार भी उन्हें किसानों के स्वाभाविक नेता कहती है लेकिन जब कोई ऐसा अवसर आता है कि जमींदारों से किसानों को रियायत दिलायी जाये, तो ये स्वाभाविक नेता रम्मी तुड़ान लगते हैं। ऐसा शायद ही कभी हुआ है कि जमींदार समुदाय ने कभी किसानों के प्रति न्याय का समर्थन किया हो।'⁵⁰ 'आगरा जमींदार सम्मेलन' (12 फरवरी, 1934) पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने स्पष्ट लिखा है

"ऐसी मुकदमों में निकम्मी लुटेरी आरामनलब सस्था बहुत दिन जीवित नहीं रह सकती, चाहे वह अष्ट धातु के किने ही में क्या न अपने को बंद कर ले। जनता आज किसी का शिकार नहीं बनना चाहती। जमींदार हो या साहूकार, सरकार

हो या मिल-मालिश उसे किसी से दुश्मनी नहीं है, उसे दुश्मनी करने की भी शक्ति नहीं, वह असंगठित है, दीन है, पराधीन है। कोई दल अपने को संगठित करके उस पर आतंक जमा सकता है। लेकिन अगर कोई यह चाहे कि उसे अपना शिकार भी बनाये और उससे बोट भी ले, उसे ठोकर भी जमाये और उससे पांव भी दबवाये तो उसे लज्जित होना पड़ेगा।" 51

यह प्रेमचन्द के जमींदार सम्बन्धी दृष्टिकोण का सार तत्त्व है। बिहार में जमींदारों की सभा में भाषण करते हुए अग्नेज न्यायाधीश ने कहा कि प्रजा को बड़े जमींदारों की अमलदारी में रहना, छोटे जमींदारों की अमलदारी में रहने के मुकाबले कम कष्टकर है। इस पर टिप्पणी करते हुए (छोटे जमींदार या बड़े? नवम्बर, 1933) प्रेमचन्द ने स्पष्ट कहा कि 'छोटे शांतान से बड़ा शांतान हमेशा अधिक घातक होता है।' स्पष्ट है कि प्रेमचन्द जमींदार को शांतान का अवतार मानते हैं।

किसानों के कष्ट

प्रेमचन्द के चिंतन के मूल में किसान की हित-कामना है। अतः वे जिस किसी भी समस्या पर विचार करते हैं, उसकी पृष्ठभूमि में वही न वही किसान होता है। स्वाधीनता आंदोलन पर लिख रहे हों, या साहित्यिक समस्याओं पर, सामाजिक रूढ़ियों के बारे में विचार कर रहे हों—बिना किसान के उनका काम नहीं चलता। इसके अलावा उन्होंने अलग से भी किसानों की अपनी समस्याओं पर विचार व्यक्त किये हैं। 'किसानों का वर्ज' की समस्या हो, या महाजनों की समस्या हो, अकाल, महामारी, लगान-वृद्धि आदि समस्याओं पर उन्होंने सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है। किसानों के वर्जों की सूद दर तय की जानी चाहिए, उन्हें जमींदारों के अत्याचार से बचाया जाना चाहिए, सरकारी लगान में मदी-तेजी के अनुसार कमो-बेशी होनी चाहिए, उन्हें धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त करना चाहिए।

एक ओर तो किसानों की यह परेशानियाँ हैं, दूसरी तरफ सरकारी कर्मचारी और जमींदार नये-नये आरोप किसानों पर लगाते हैं, जिसे किसानों की वास्तविक समस्या से ध्यान हटाया जा सके। निरक्षरता की दुहाई, (27 फरवरी, 1934) इसी तरह का एक प्रयास है। इन लोगों के अनुसार भारतीय किसानों की इस बदहाली का कारण किसानों का निरक्षर होना है। प्रेमचन्द ने इसका जवाब देते हुए लिखा

"किसान इसलिए तबाह नहीं है कि वह साक्षर नहीं है, बल्कि इसलिए कि जिन दशाओं में उसे जीवन का निर्वाह करना पड़ता है, उनमें बड़े से बड़ा विद्वान भी सफल नहीं हो सकता। उसमें सबसे बड़ी कमी संगठन की है, जिसके कारण जमींदार, साहूकार, अहलकार सभी उस पर आतंक जमाते हैं। लेकिन अगर कोई उनमें संगठन करना चाहे, जिससे वे इन भेड़ियों को नष्ट और पजे से बचें, तो उस पर तुरन्त राजद्रोह का और हिज मैजेस्टी की प्रजा में विद्रोह पैदा करने का इलजाम लग जायगा और उस जेल की हवा खानी पड़ेगी। किसान लाख साक्षर हो जाये, जब तक वह इन समुदायों का मुकाबला नहीं कर सकता, उसका जीवन कभी सुखी न होगा।

उसके पास चार पैसे देखकर जमींदार और अहलकार सभी की राल टाकने लगती है और एक न एक खुच्चड़ निकालकर उसकी कमर खाली कर दी जाती है। अगर राजद्रोह का हौवा न खड़ा कर दिया गया होता तो राष्ट्रीय सेवक किसानों में बहुत कुछ संगठन कर चुके होते। मगर यहाँ तो यह नीति है कि प्रजा की राजनैतिक चेतना न जागने पावे नहीं वह अपने हक पर अड़ना सीख जायगी। 52

एक तरफ तो यह नीति चल रही है और दूसरी तरफ गवर्नर बम्बई की शिकायत (18 सितम्बर 1933) है कि देहातों में जो कुछ काम हुआ है वह सरकारी कमचारियों द्वारा ही हुआ है। सरकारी कमचारियों का जो अनुभव जनता को हुआ है वह अत्यंत निराशाजनक है। अफसरों के दौरे सुनकर देहातियों के प्राण सूख जाते हैं क्योंकि सरकारी कमचारी सरकार की ही भाँति अपने जनता का शासक समझता है। देहात में नेताओं के कार्यों की ओर सकेत करते हुए प्रमचंद ने लिखा है कि सरकार ने उनके कार्यों में रोड़ अटकाये हैं क्योंकि देहातों की जागृति का अर्थ है—जमींदार और हुक्काम के प्रभाव का कम होना। इसे न सरकार सहन कर सकती है और न कमचारी। जागृति और लतखोरी में परस्पर विरोध है। 53

निष्कर्ष यह है कि वर्तमान समाज व्यवस्था कृषक विरोधी है। और जब तक यह व्यवस्था कृषक विरोधी रहेगी देश का उद्धार नहीं हो सकता।

साम्प्रदायिकता और संस्कृति

प्रमचंद साम्प्रदायिक संघर्ष के जमाने में भी गिने चुने साम्प्रदायिकता विरोधियों में से एक थे। उस युग में एक ऐसी हवा चली थी पुनरुत्थानवाद का ऐसा आवाह आया था जिसने अच्छे-अच्छे प्रजातन्त्रवादियों की पोल खोल दी थी। कांग्रेस के बड़-बड़ नेता हिंदू महासभा में चले गये थे। ऐसे समय में लगातार साम्प्रदायिकता विरोधी वचारिक संघर्ष चलाने का साहस बिरले ही व्यक्तियों में था। प्रमचंद ने 1921 से ही इस बात की चेतावनी दे दी थी कि यदि नेताओं ने इस बढ़ती हुई साम्प्रदायिक भावना को न रोका तो यह स्वराज्य प्रति में सबसे बड़ी रुकावट सिद्ध होगी। राजनीतिज्ञों ने इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जिसके कारण साम्प्रदायिकता बढ़ती चली गयी। ज्यों-ज्यों साम्प्रदायिकता बढ़ती गयी प्रमचंद का साम्प्रदायिकता विरोधी संघर्ष भी तेज होता गया।

साम्प्रदायिकता विरोधी प्रमचंद के चिंतन का पहला ही विश्लेषण किया जा चुका है। यहाँ प्रमचंद के जीवन के अंतिम दिनों में लिख गये निबंधों पर ही विचार किया जायेगा। देश में तुलसी जयंती मनायी गया प्रमचंद ने जुलाई 1931 में इस पर टिप्पणी करते हुए कहा कि गोस्वामी जी की रचनायें सनातन धर्म की ढाल हैं पर सनातन धर्म सभाओं को देश हित के नाम में रोड़ अटकाने से फुसत ही नहीं मिनती कि वे अपने अर्थ सराफों की आर भी कुछ ध्यान दें। इस टिप्पणी को पढ़ते हुए ध्यान में रखना चाहिए कि प्रमचंद आयसमाज के सदस्य रह चुके हैं। फिर भी उन्होंने तुलसी का हिंदी का लोकप्रिय महाकवि होने का कारण उस याद किया और याद करना आवश्यक समझा। इसी समय पाकिस्तान की नयी नयी माँग

की जा रही थी। प्रेमचन्द ने इस पर भी टिप्पणी की। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'इस्लाम का विप वृक्ष' किताब लिख दी। प्रेमचन्द ने इस पुस्तक का सामूहिक विरोध करने की योजना बनायी और इसे राष्ट्रीयता के मार्ग में रोड़े अटकाने वाली पुस्तक बताया।

'श्री चतुरसेन जी हमारे मित्र हैं। वह विद्वान हैं, मनस्वी हैं, उदार हैं, हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि ऐसी—और द्रोहभरी रचनाएँ लिखकर अपनी प्रतिभा को और हिंदी भाषा को कलकित न करें और राष्ट्र में जो द्रोह और द्वेष पहले से ही फैला हुआ है, उस बाह्य में आग न लगावें।' ⁵⁴

हिन्दू महासभा के भाई परमानन्द ने भाषण दिया। 30 अक्टूबर, 1913 के 'जागरण' में प्रेमचन्द ने इस पर टिप्पणी लिखी। फिर 'मुसलिम लीग का अधिवेशन' हुआ तो उस पर 4 दिसम्बर, 1933 को टिप्पणी लिखी। इन दोनों विरोधियों में निहित एकता को रेखांकित करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा

'वात यह है कि हिन्दू सभा और मुसलिम लीग दोनों में ऐसे लोग भरे हुए हैं, जो या तो सरकारी नौकर या पेंशनर हैं। उनका मस्तिष्क नौकरियों और जगहों के सिवा कुछ सोच ही नहीं सकता। किसान और मजदूर के लिए उनके पास कुछ नहीं है, कोई निर्माणकारक स्कीम नहीं है, कोई क्रियात्मक उद्धार की नीति नहीं है।' ⁵⁵

प्रेमचन्द ने 15 जनवरी, 1934 के 'जागरण' में साम्प्रदायिकता और सस्कृति के आपसी संबंधों को रेखांकित करते हुए एक बहुत महत्वपूर्ण लेख लिखा। 'साम्प्रदायिकता सदैव सस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह मधे की भाँति, जो सिंह की छाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रौब जमाता फिरता था, सस्कृति का खोल ओढ़कर आती है।' वास्तव में हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी सस्कृति की रक्षा के लिए बेचैन हैं—प्रेमचन्द ने कहा कि ऐसी 'पवित्र' सस्कृति का कहीं अस्तित्व नहीं है। उन्होंने बार-बार कहा कि जो लोग साम्प्रदायिकता की दुहाई देते हैं, वे प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी साम्राज्य के अस्तित्व के समर्थक हैं अतः राष्ट्र विरोधी हैं। 'दोनों ही साम्प्रदायिक सत्याग्रह मध्यवर्ग के धनिकों, जमींदारों, ओहदेदारों और पदलोलुपों की हैं। उनका कार्यक्षेत्र अपने समुदाय के लिए ऐसे अवसर प्राप्त करना है, जिससे वह जनता पर शासन कर सकें, जनता पर आर्थिक और व्यावसायिक प्रभुत्व जमा सकें।' इसलिए साम्प्रदायिकता का विरोध करते करते वे 'सस्कृति' के भी विरोधी बन गये और बाले

'जनता का आज सस्कृतियों की रक्षा करने का न अवकाश है, न जरूरत। 'सस्कृति' अमीरों का पेटभरो का, बफिकों का व्यसन है। दरिद्रों के लिए प्राण-रक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है। उस सस्कृति में था ही क्या, जिसकी वे रक्षा करें।' ⁵⁶

उस समय अंग्रेजी में 'इंडियन सोशल रिफार्मर' नामक पत्र निकलता था। उसने कहा कि साम्प्रदायिकता अच्छी भी है और बुरी भी। जनवरी 1934 के 'हंस' में प्रेमचन्द ने इस वक्तव्य पर टिप्पणी करते हुए लिखा

'अगर साम्प्रदायिकता अच्छी हो सकती है; तो पराधीनता भी अच्छी हो

सकती है, मक्कारी भी अच्छी हो सकती है, झूठ भी अच्छा हो सकता है, क्योंकि पराधीनता में जिम्मेदारी से बचत होती है, मक्कारी से अपना उल्लू सीधा किया जाता है और झूठ से दुनिया को ठगा जाता है। हम तो साम्प्रदायिकता को ममाज का कोढ़ समझते हैं, जो हर समस्या में दलबन्दी कराती है और अपना छोटा-सा दायरा बना सभी को उससे बाहर निकाल देती है।¹⁵⁷

इसके अलावा मार्च-अप्रैल के 'जागरण' में प्रेमचन्द ने 'हिन्दू समाज के बीभत्स दृश्य' शीर्षक दो-तीन टिप्पणियाँ लिखीं। इन विचारों के बावजूद यह तथ्य है कि स्वयं प्रेमचन्द भी अपने 'हिन्दू' होने में पूरी तरह उबर नहीं पाये थे—उनके भीतर भी 'हिन्दुत्व' की छाप थी—जो सामान्य अवसरों पर तो उदारता के आवरण में छिपी रहती थी, पर बोखलाहट की स्थिति में प्रकट हो ही जाती थी। इस तरह के स्थलों का कई जगहों से उद्धृत किया जा सकता है। यहाँ सिर्फ दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। अलवर नरेश (29 मई, 1933) शीर्षक टिप्पणी में प्रेमचन्द ने लिखा

‘फिर भी, हम अलवरेंद्र के साथ सरकारी व्यवहार को हिन्दू-नरेशों पर कुठाराघात समझते हैं। यह भी संभव है कि अलवरेंद्र को यह अनुभव हो जायगा कि हिन्दुओं के हितों की हत्या कर, उन्होंने अपने राज्य को मुसलिम राज्य बनाने का जो पाप किया था, उसका प्रायश्चित्त सामने आ गया।’¹⁵⁸

इस उद्धरण को पढ़ने पर सामान्यतः यह प्रेमचन्द का लिखा नहीं लगता, हिन्दू सभा के किसी खुरात का लगता है। इसके अलावा यह भी ध्यान में रखना योग्य बात है कि इन्हीं अलवर नरेश ने प्रेमचन्द को अपना निजी सचिव बनाने का प्रस्ताव किया था जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया।

इसके अलावा 8 जनवरी, 1934 के 'जागरण' में प्रेमचन्द ने टिप्पणी लिखी—
‘क्या हम राष्ट्रवादी हैं। इसमें उन्होंने स्वीकार किया कि ‘हम कायस्थ कुल में उत्पन्न हुए हैं और अभी तक उस सम्स्कार का न मिटा सकने के कारण, किसी कायस्थ को चोरी करते या रिश्वत देते देखकर लज्जित होते हैं।’¹⁵⁹

इन पंक्तियों में प्रेमचन्द की ईमानदारी और उस आत्मसमर्पण का पता चलता है जो वह अपने जातिगत संस्कारों के खिलाफ कर रहे थे। बचे हुए जातिगत संस्कारों के मुकाबले हमारे लिए यह आत्मसमर्पण ज्यादा मूल्यवान है। निश्चय ही प्रेमचन्द का यह आत्मस्वीकार उन अनक साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों से ज्यादा अच्छा है, जो अपने इन संस्कारों को छुपाये रखना चाहते हैं। फिर भी इन संस्कारों की उपस्थिति उस युग के वैचारिक दबाव को ही सूचित करती है प्रेमचन्द की कमजोरी को नहीं।
मोहम्मद का काल (1933-1936)

1932 के बाद प्रेमचन्द के राजनीतिक चिंतन में एक चेन्नई और छटपटाहट दिखाई देती है। उनका कुछ पुराने मूल्य टूटते हैं और उन्हें नए मूल्य ग्रहण करने में कठिनाई हो रही है। प्रेमचन्द स्वराज्य आंदोलन के एक सिपाही थे, इस कारण कांग्रेस के कार्यक्रम और गांधी जी के व्यक्तित्व के प्रति उनमें सहज आस्था थी। इसके अलावा बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक की मूल्य-चेतना भी अभी तक बनी हुई थी।

उम दशक के अन्य लोगो के समान प्रेमचन्द भी भारतीय स्वाधीनता आंदोलन को एशिया के मुक्ति आंदोलन के रूप में देखते थे, और अंग्रेजी साम्राज्य की आलोचना की पृष्ठभूमि में योरोपीय सभ्यता को देखते थे। व कांग्रेस के अहिंसात्मक कार्यक्रम के समर्थक थे। 1917 की रूसी क्रांति के वह समर्थक थे और इस मामले में रूस के साम्यवादी समाज को भारत के लिए भी आदर्श मानते थे। वे आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के, भौतिकवाद के व्यवसायवाद और साम्राज्यवाद के विरोधी थे और प्राचीन कृषि सभ्यता और मानववाद के समर्थक थे। मानव की सहज दैवी प्रकृति पर उन्हें आस्था थी और कुल मिलाकर उनमें मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आस्था थी। यह सब था लेकिन एक ओर चीज भी थी जिन्होंने एक-एक करके इन सारी आस्थाओं को खत्म कर दिया, या उनमें दरार पैदा कर दी, वह थी—आलोचना बुद्धि। इसका रहते प्रेमचन्द किसी प्रवाह में नहीं बहे, लेकिन 1933 से वे एक गहरे वैचारिक संकट से घिर गये। स्वराज्य के आकांक्षी होत हुए भी उनके मन में कांग्रेस के प्रति विरोध भाव बढ़ता जा रहा था। यह विरोध अंत में विच्छेद की सीमा तक बढ़ जाता लेकिन उनके सामने एक ठोस समस्या थी। देश में उस समय कोई सशक्त राजनीतिक पार्टी नहीं थी, जो किसानों और मजदूरों की हिमायत करे। इसलिए प्रेमचन्द के मन में यह आतंक बराबर बना रहा कि कांग्रेस का विरोध करते करते वे कहीं साम्राज्यवाद के पक्ष में न चल जाएँ। यह चिंता उनके राजनैतिक लेखन में बढ़ती ही जा रही थी। इससे उनमें अपनी अस्मिता की छटपटाहट और बेचैनी पैदा हुई।

स्वराज्य का जो आदर्श प्रेमचन्द ने असहयोग के जमाने में बनाया था, वह खंडित हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रजातांत्रिक देशों में जनता की परेशानियाँ देखकर प्रेमचन्द का मन खट्टा हो गया। अमेरिका में हुए कृषक-विद्रोह को उन्होंने चिंतित आँखों से देखा। जापान में जापानी किसानों की हालत जानकर उनकी यह परेशानी और ज्यादा बढ़ी। इससे उन्हें भावात्मक और वैचारिक धक्का लगा कि 'स्वराज्य' प्राप्त करना ही काफी नहीं है बल्कि किसानों के लिए स्वराज्य यानी 'सुराज' प्राप्त करना आवश्यक है।

यूरोप बनाम एशिया के मिश्रण को जापानी साम्राज्यवाद ने ताड़ दिया। उन्होंने यह भी निष्कर्ष निकाला कि साम्राज्यवाद योरोप का हो या एशिया का—उसकी प्रकृति हमेशा एक ही होनी—शोषण और अत्याचार। अतः एशिया के धोखे में रहकर जापानी साम्राज्यवाद का समर्थन करना भ्रमपूर्ण है। इसके अलावा पश्चिम में हिटलर और मुसोलिनी के आगमन ने भी इस परेशानी को बढ़ाया। योरोप वालों ने भारत की स्वतंत्रता की ओर बार-बार संकेत किया था और यह स्थापित किया था कि स्वराज्य यानी प्रजातंत्र भारत की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। लेकिन प्रेमचन्द ने देखा कि पश्चिम में भी डेमोक्रेसी जन्म नहीं पा रही है—वहाँ भी हिटलर के बर्बर हाकाड सुनायी पड़ने लगे हैं। जापान और जर्मनी ने इस आस्था को भी हिला दिया।

इसीलिए वे 'स्वदेशी' और राष्ट्रीय पूँजीवाद के मोह से भी छूटे और 'स्वदेशी'

की आड़ स हान वाली लूट का पर्दाफाश किया। इन सब चीजों के दो परिणाम निकले—एक तो वह साम्यवादी विचारा के करीबतर होते गये और दूसरी तरफ राजनीतिज्ञा स मोह भग हाता गया। राजनीतिज्ञ बनाम साहित्यकार, राजनीतिक श्रांति बनाम साहित्यिक श्रांति का सवाल इसी मनोभूमि स आया।

‘हम समझ रहे थे पहाड़ खोदा जा रहा है तो कम स कम चुहिया ता निकलेगी ही। कितना तुम तराक किया गया। सर साइमन आय। महीना उनकी हलचल रही। फिर गोलमजा का ताता बधा। राजे महाराजे, मैनू, ऐरा गैरा-नत्थू खैरा सब जमा हुए, और तीन साल की खुदाई के बाद निकला क्या कि कुछ नहीं। चुहिया भी निकल आती तो कुछ तमाशा तो हाता, देखत कैसे दौड़ती है, कैसे उछलती है। लेकिन कुछ भी न हुआ। फेडरेशन का हाथी जहाँ था, वहीं खड़ा झूम रहा है बल्कि कई कदम पीछे हट गया। बापसराय व अखितयार ज्वा के त्यो, फौज का मामला ज्यों का त्यों, माल का विषय ज्वा का त्यों। हाँ, पहाड़ खोदने से खदक अवश्य निकल आयी और उस साम्प्रदायिकता की खदक म सारा देश डूब गया।’⁶⁰

प्रेमचन्द ने इस क जनवरी 1933 म ‘1932’ शीर्षक एक टिप्पणी लिखी है। एक बड़ी आशा के बाद उत्पन्न हुई गहरी निराशा इस लेख की भाषा और भाव मे दिखाई देती है। इसम देश की निराशा-जनक परिस्थितिया का वर्णन करत हुए अंत मे लिखा

‘अस्तु यह वर्ष असफलताओं का वर्ष रहा, जिसन जो किया, असफल रहा, चाहे कांग्रेस का आंदोलन सरकार का दमन, निरस्त्रीकरण सम्मेलन या गोलमेज सम्मेलन ही क्या न हो। 1932 अपनी सम्पूर्ण असफलता और अशांति इस नये वर्ष के जिम्मे छोड़ गया है। आओ 1933 तुम अपनी समस्याओं से सपर्यं करो।’⁶¹

नये वर्ष का बजट मार्च म आने वाला था। प्रेमचन्द ने ‘जागरण’ म 13 फरवरी 1933 को टिप्पणी लिखी। इसम उन्होंने बजट की जन-विरोधी प्रकृति को स्पष्ट किया है और सरकार स लगान म छूट की माँग की है। इस समय सार राष्ट्रीय नेता जेल म थे। चारो ओर से राजनैतिक नेताओं की रिहाई की माँग की जा रही थी। प्रेमचन्द न भी राष्ट्रीय पत्रकार का कर्तव्य निभाया और अपना पक्ष खोलकर सामने रखा। इस समय कलकत्ता कांग्रेस का निश्चय भी हुआ था, जिसम सत्याग्रह क कार्यक्रम पर पुनर्विचार किया जायेगा। प्रेमचन्द इस पक्ष म थे कि जब सत्याग्रह चल नहीं सकता, तो उसे ज़िद की तरह नहीं रखना चाहिए। 5 जून, 1933 को ‘जागरण’ मे प्रेमचन्द न लिखा

‘कांग्रेस ने सत्याग्रह द्वारा वर्तमान शासन प्रणाली के प्रति जनता के भाव को व्यक्त कर दिया। निरसदेह लड़ाई वर्षों तक चल चुकी। यद्यपि पराधीनता मे सुख नहीं है, पर मनुष्यता को क्षणिक सुख से बहुत कुछ शांति मिलती है। अब जनता विधाम चाहती है। उसे अपना व्यापार, अपना कारोबार, अपना घर बार सभालना है। यह स्वाधीनता सधाम एक दिन की वस्तु नहीं, सदिया का क्षमेला है। तब तक, लोगों को अपन अवोध शिशुओं को अपनी गृह-देवियों को भूखो मारने को न कहिये।’⁶²

इस समय राजनीतिक और बौद्धिक वातावरण में यह एक नया सवाल सामने आया। कुछ लोग इस मत के थे कि जब हमने सत्याग्रह शुरू किया, उस वक़्त परिस्थिति आज से कहीं अच्छी थी। जब उस वक़्त हमने सधर्य का निर्णय लिया तो अब तो हम और ज्यादा जोर से लेना चाहिए। प्रेमचन्द का मत इनके विरोध में था। प्रेमचन्द का मृत्योत्सव 28 जून, 1933 को यह था कि

‘सत्याग्रह आंदोलन त्राति था। यह मान लेने में कोई सकोच न होना चाहिए कि त्राति असफल हो गयी।’⁶³ प्रेमचन्द यह मानते थे कि इस आंदोलन का जो प्रभाव होना था, वह हो चुका। पिटिंग का अब कोई असर नहीं हो सकता क्योंकि विलायती कपड़े बेचने वालों का नया बाज़ार खुल गया है। सरकारी नौकरियाँ हम छोड़ नहीं सकते क्योंकि हमारे भाई-भतीजे सरकारी नौकर हैं और वे हमारे बाल-बच्चों का पालन-पोषण करते हैं। लगानबन्दी व करबन्दी का भी असर नहीं हो सकता। यहाँ तक ‘नमक’ का ड्रामा भी खेला जा चुका और उसे सरकार की बेवकूफी से जो सफलता मिल गयी, उसकी अब आशा नहीं की जा सकती।⁶⁴ इसलिए प्रेमचन्द का मत था कि कांग्रेस अब कौंसिलों में जाये और रचनात्मक कार्यक्रम करे। यह सही है कि वैध आन्दोलन को देश का बड़ा कड़वा अनुभव रहा है, फिर भी अब उसके सिवा और कोई चारा नहीं है। सरकार ने दमन की शक्ति अपने हाथ में ले ली है, जिसके कारण आजकल भारत एक अर्द्धसैनिक शासन के अन्दर रह रहा है। ऐसे में वैध आंदोलन की उपयोगिता और बढ़ जाती है। इसलिए जून 1934 में कांग्रेस ने जब सत्याग्रह आंदोलन वापस ले लिया, तब प्रेमचन्द ने उसका समर्थन किया। यह समर्थन सम-झोतावादी विचारधारा के कारण नहीं किया गया था, बल्कि इसके पीछे देश के यथार्थ की वास्तविक समझ काम कर रही थी।

17 अप्रैल, 1933 के ‘जागरण’ में ‘अविश्वास’ शीर्षक एक टिप्पणी लिखी। इसमें उन्होंने स्वराज्य के प्रबलित अर्थ की मीमांसा की है। और इस प्रकार ‘आर्थिक स्वराज्य’ की माँग को सामने रखा है। उस समय के प्रेस आडिनेंसों को ध्यान में रखते हुए प्रेमचन्द के इस साहम की दाद देनी पड़ती है।

‘अंग्रेजी सरकार से भारत को अनेक लाभ भी हुए हैं, जिनका सदैव कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करना होगा, पर इस दुर्भाग्य के लिए कोई ब्या कहे कि भारत की आर्थिक दुर्दशा अंग्रेजी-राज्य के समय में ही हुई और यही नहीं, इसकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी अंग्रेजी सरकार के सिर है। और भारतीयों का ऐसा विश्वास हो गया है कि अपना शासन अपने हाथ में आने पर वे अपनी दरिद्रता से अधिक योग्यता के साथ लड़कर उसका निराकरण कर सकेंगे। भारतीय अर्थशास्त्री यह बतलाता है कि अंग्रेजी सरकार अपने देश के स्वार्थ की बलि कर भारत का कल्याण नहीं कर सकती।’⁶⁵

प्रेमचन्द इन टिप्पणियों के माध्यम से शिक्षित समुदाय की सामान्य चेतना का विकास करना चाहते हैं। उनका यह प्रयास रहा है कि किसी तरह इन सामाजिक-राजनीतिक जटिलताओं को जनता समझ ले। ऐसे में गूढ़ विषयों को सरल कर देने से कई बार उस विषय की जटिलता मारी जाती है और कई पहलू अदखे छूट जाते

हैं—प्रेमचन्द को इसकी चिन्ता नहीं है। प्रेमचन्द ने कई वर्षों तक अध्यापक का धंधा किया था—अतः गमना समझा कर और दुहरा-दुहराकर कहने की पद्धति उनमें आ गयी थी।

5 जून, 1934 को 'जागरण' में प्रेमचन्द ने 'सत्याग्रह' शीर्षक टिप्पणी लिखी। इसमें उन्होंने कांग्रेस के भीतरी संधर्ष को उजागर किया है। प्रेमचन्द ने इसमें कहा है कि कांग्रेस में बहुत-से कार्यकर्ताओं का यह विचार है और कुछ अंश तक सत्य है कि अछूतोद्धार आंदोलन को वर्तमान रूप देकर गांधीजी ने सत्याग्रही तथा सरकार विरोधी कांग्रेसियों के लिए केवल दो ही मार्ग छोड़े हैं—एक तो यह कि वे देशसेवा करें, सड़का उठावें और जिस चल जाएँ या फिर हरिजन सेवा करें—और यह कोई नहीं कह सकता, कि हरिजन सेवा देशसेवा से बड़कर है। इस टिप्पणी में प्रेमचन्द गांधीजी के साथ हैं। वे हरिजनोद्धार का भी समर्थन करते हैं। प्रेमचन्द देश में व्याप्त इस नतुत्वहीन निराशाजनक हालात के प्रति काफी चिंतित हैं।

इस सत्याग्रह की श्रांति के विफल हो जाने की व्याख्या करते हुए 31 जुलाई, 1934 में प्रेमचन्द ने एक टिप्पणी लिखी

'भावी कार्यक्रम के लिए एक प्रस्ताव'। इस टिप्पणी में उन्होंने यह रेखांकित किया कि हमारे राजनैतिक जीवन और यथार्थ जीवन में कितना अलगाव है। यदि हमें स्वराज्य संग्राम में विजय प्राप्त करनी है, तो सबसे पहले इस दूरी को पाटना होगा। इस दूरी में तो यही लगता है कि राष्ट्र में अभी स्वतंत्रता की प्यास जमी नहीं।⁶⁶ हम अभी देश की जनता में, स्वराज्य की वास्तविक आकांक्षा को, जनता के वास्तविक जीवन का अंश बनाना है।

राजनैतिक हलकों में यह बहस अभी चल ही रही थी कि महात्मा गांधी ने वक्तव्य देकर कहा कि सत्याग्रह के असफल हो जाने का कारण कार्यकर्ताओं की अयोग्यता है। प्रेमचन्द भी स्वराज्य-संग्राम के एक कार्यकर्ता और गांधीजी के समर्थक थे। उन्होंने इस पर जागरण में 'ठेलम ठाला' (16 फरवरी, 1934) शीर्षक टिप्पणी लिखी और गांधीजी की खूबकर पहली बार आलोचना की। वैसे तो प्रेमचन्द के मन में इस सारे आंदोलन की प्रक्रिया से गंभीर मतभेद झटके हाँ रहे थे, समाजवाद की ओर उनका झुकाव बढ़ता जा रहा था परन्तु अब तक उन्होंने खुलकर गांधीजी की आलोचना नहीं की थी। प्रेमचन्द ने लिखा कि अगर स्वराज्य की मुण्ड सुशीला बहू घर में आ जाती तो आज सबके सब बगलें बजाते, महात्माजी घर-घर राम और कृष्ण की तरह पूजे जाते, कार्यकर्ताओं को बधाइयाँ मिलती। मगर बहू आयी अवगुणा का सागर, कलह की खान तमाछू का पिंडा। तब इसकी जिम्मेदारी लोग एक दूसरे पर डालकर खुद बचाना चाहते हैं।

'शिक्षित समाज ने महात्माजी को समझने में गलती की, तो वे क्षम्य हैं। महात्माजी गोरी जाति से सत्याग्रह की लड़ाई में विजयी होकर लौटे थे। उनके त्याग, विचार और दयत्व का हाल पत्रों में पढ़-पढ़कर सारे देश को उनसे श्रद्धा हो गयी थी। जब उन्होंने राजनीति की बागडोर अपने हाथ में ली, तो राष्ट्र ने अपने को धन्य समझा, और अपनी आत्मा को उनके हाथ में देकर खुद उनके पीछे चलने में ही

राष्ट्र का हित समझा। विचार एक दुर्लभ वस्तु है और विरलो ही के हिंसे में आता है। महात्माजी जैसा दिमाग पाकर, फिर कौन सोचता और क्या सोचता ? महात्माजी ने अपने आंदोलन की कमजोरी को स्वीकार करके अपना नैतिक साहस दिखलाया है, लेकिन उससे असफल हॉल का इलजाम कार्यकर्ताओं के सिर मढ़ने की कोई खास जरूरत नहीं थी। जिन लोगों ने तेरह साल तक हर तरह की कठिनाइयाँ झेलकर, अपने को तबाह करके, अपने स्वार्थ को मिटाकर इस आंदोलन को चलाया, उनसे अब यह कहना कि तुम इस काम के योग्य नहीं, और तुम्हारी कमजोरी से यह आंदोलन फेल हो गया, उनका दिल दुखाना है। यह क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाता कि जिस स्वराज्य के लिए लड़े उसकी इच्छा अभी देश में इतनी बलवती नहीं हुई है कि बाधाओं का सफलता के साथ सामना कर सके। अब यह मान लेना पड़ेगा कि जिस चीज को महात्माजी भीतर की आवाज कहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि उसके गलत होने की सम्भावना नहीं, वह बहुत भरोसे की चीज नहीं है, क्योंकि उसने एक से ज्यादा अवसरों पर गलती की है।⁶⁷

प्रेमचन्द इस मत वालों के साथ थे कि आंदोलन बन्द कर दिया जाय। जून 1934 को कांग्रेस कमेटी ने इस आंदोलन को बन्द कर दिया। मई 1934 को प्रेमचन्द ने 'जागरण' साप्ताहिक बन्द कर दिया था, अतः तब से तात्कालिक घटनाओं पर लिखी गयी उनकी टिप्पणियाँ कम हो गयी। 'हंस' में दो वर्ष तक वे लिखते रहे—पर दूसरे मूढ़ में।

प्रेमचन्द और समाजवाद

अभी तक जानबूझकर प्रेमचन्द के समाजवादी विचारों को छोड़ा जा रहा था। प्रेमचन्द में समाजवाद और गांधीवादी का कौन-सा रूप था और उनके चिंतन में वह किस रूप में प्रकट हुआ ? आरम्भ में उन्होंने कांग्रेस पार्टी को एक तरह की गरीबों की संस्था मान लिया था, बाद के अनुभव ने इस विश्वास को तोड़ा। यह टूटन की प्रक्रिया ज्यों-ज्यों तेज होती गयी, प्रेमचन्द का यथार्थ-बोध ज्यों-ज्यों विकसित होता गया, त्यों-त्यों वे समाजवादियों द्वारा प्रस्तुत सभ्यता समीक्षा के करीब आते गये। इसलिए प्रेमचन्द को ठीक-ठीक जानने के लिए उनके द्वारा की गयी कांग्रेस की आलोचनाओं की प्रकृति जानना जरूरी है और दूसरी तरफ समाजवाद के पक्ष में दिये गये तर्कों के वास्तविक महत्त्व की समझना है।

1932 से ही प्रेमचन्द ने कांग्रेस के कार्यों की आलोचना शुरू कर दी थी। तब से यह आलोचनाएँ बढ़ती ही गयी हैं। इन आलोचनाओं की कुछ झलक हम पहले भी दे आये हैं। 9 अक्तूबर, 1933 के 'जागरण' में प्रेमचन्द ने 'कांग्रेस और सोशलिज्म' शीर्षक टिप्पणी लिखी। इसमें प्रेमचन्द की मिथ्या 'चेतना' का पता चलता है। इसमें उन्होंने नेहरू और गांधी के मतभेद के सवाल को उठाया है

“रहा, सोशलिज्म, वह तो महात्माजी और पं० जवाहरलाल नेहरू में केवल मात्रा का भेद है। महात्माजी तो सोशलिज्म से भी आगे बढ़े हुए हैं, कम्युनिज्म से भी। वह अपरिग्रहवादी है। बीसवीं सदी सोशलिज्म की सदी है या सम्भव है आगे

चलकर कम्युनिज्म का रूप धारण कर ल । भारत जैसे देश में जहाँ आबादी का बड़ा हिस्सा गरीबों का है जिनमें पड़े अनपढ़ सब तरह के मजूर हैं, सोशलिज्म के सिवा उनका आदमी हा ही क्या सकता है । अगर आज कांग्रेस पार्टी का रेफरेण्डम हो तो हमारा खयाल है बहुमत, सोशलिज्म का होगा, पर उसके एक ही दो कदम पीछे कम्युनिज्म भी नजर आयेगा ।”⁶⁸

इस पर टिप्पणी करने की जरूरत नहीं है कि गांधीजी का रामराज्य और मार्क्स के समाजवाद की धारणा परस्पर विरोधी है । अब कम से कम यह तय हो गया है कि कांग्रेस का कार्यक्रम राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के हितों का पोषक था— किसानों और मजूरों के हितों का नहीं । फिर भी प्रेमचन्द के मन में भी शका ने जन्म लिया और 30 अप्रैल, 1934 को उन्होंने कांग्रेस में निहित आन्तरिक वर्ग-संघर्ष को रेखांकित करते हुए लिखा

“अब तक कांग्रेस का केवल राजनैतिक पहलू ही हमारे सामने था । उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू पर विचार करने की उस समय हम फुसंत ही न थी, पर आज कोई योजना केवल राजनैतिक आधार पर नहीं बन सकती । आर्थिक समस्याओं का भी फैसला करना पड़ेगा, तभी उसका एक और हुनर मालूम होगा । और लोग उसका विषय में अपनी राय बाँट कर सकेंगे ।”⁶⁹

इसके बाद 14 मई, 1934 को लिखा

‘यह भी निश्चित सा मालूम होता है कि उम्मीदवार वही सज्जन बनाये जायेंगे, जो जेल हो आये हैं और बराबर लड़ाई में शरीक हो रहे हैं । अगर ऐसा किया गया तो यह कांग्रेस की पहली स्वायत्तपरता होगी ।’⁷⁰

इसी समय भारत से बर्मा के पृथक्करण का सवाल उठा था । इस पर प्रेमचन्द ने कांग्रेस की आलोचना की । विदेशी कपड़ों पर कांग्रेस की मुहर लगी हुई थी, उसे खुलवान की सलाह भी प्रेमचन्द ने दी । 29 दिसम्बर, 1934 को प्रेमचन्द ने स्वयं कांग्रेस में जेनेन्द्र का बुलाते हुए लिखा “यहाँ कांग्रेस में आ रहे हो न ? कांग्रेस अब बेजान भी चीज होती जा रही है । मगर तमाशा तो रहेगा ही ।”⁷¹

इससे पहले उन्होंने बराबर जवाहरलाल नेहरू के समाजवादी विचारों का समर्थन किया । 11 दिसम्बर, 1933 का समाजवाद का पक्ष लेते हुए उन्होंने लिखा

“हिन्दू सोशल लोग भी हिन्दू सभा की भाँति पूँजीपतियों की संस्था है, और वह समाजवाद का विरोध देश के हित को सामने रख कर नहीं, हिन्दू जनता के हित के लिए नहीं, बल्कि घोंडे से हिन्दू पूँजीपतियों को सामने रखकर कर रही है । पूँजीपति क्या हिन्दू क्या मुसलमान एक ही हैं । उनकी विचार शैली एक, उनकी स्वाध लिप्सा एक । उनका उद्देश्य जनता को लूटकर अपनी जेब भरना है । जनता की आर्थिक जाप्रति उन्हें अपने स्वार्थों के प्रतिबल नजर आती है । वे चाहते हैं कि जनता सदैव इसी दशा में रहे और वे उसका खून चूसते रहें । उनका राष्ट्रप्रेम केवल घोखे की दृष्टि है ।”⁷²

प्रेमचन्द देश को केवल स्वाधीन बनाना ही नहीं चाहते थे, केवल अंग्रेजों को निकाल बाहर करना ही नहीं चाहते थे, बल्कि किसानों के भाग्यवाद को जो

सरकार का सबसे बड़ा टेक्म कलेक्टर है भी मिटाना चाहते थे। इसलिए उनका यह मत होता जा रहा था कि किमान के लिए लगान का आधा हो जाना उतना उपकार नहीं है जितना अधविश्वास और मिथ्या रस्म रिवाजों से मुक्त होना या तश से परहेज करना। जेम्स की जगह मि० नाथडू के आ जान स जनता का क्या उपकार होगा। 73

इसका कारण यह है कि प्रमच द समाजवाद द्वारा प्रस्तुत सभ्यता समीक्षा को सही मानते हैं। आधुनिक जीवन में 'जीवन सचप की भीषणता का एहसास कर चुके हैं। वर्तमान जीवन में व्याप्त दुख का नया और मूल कारण यह जीवन संग्राम है जिसमें किसी से महानुभूति की आशा नहीं की जा सकती। समय ही धन है व्यापार व्यापार है के नये जीवन मूल्य समाज में आते जा रहे हैं। अधा पूजीवाद (नवम्बर 1933) दैय की तरह सारी दुनिया में छा रहा है। सठ पुनपुनवाला और मि० बुल दोनो ही जनता के लिए समान हैं। इसलिए अहिंसा प्रमी प्रमच न भी लिखा

यह आशा करना कि पूजीपति किसानों की हीन दशा से लाभ उठाना छोड़ दग कुत्त से चमड की रखवाली करने की आशा करना है। इस खखार जानवर से अपनी रक्षा करने के लिए हम स्वयं सशस्त्र होना पडगा। 4

पूजीवादी सभ्यता के मूल आधार की व्याख्या करते हुए उन्होंने 27 नवम्बर 1933 को लिखा जब तक सम्पत्ति मानव समाज के संगठन का आधार है ससार में अंतर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। राष्ट्रा राष्ट्रो की भाई भाई की स्त्री पुरुष की लड़ाई का कारण यही सम्पत्ति है। 75 यही नहीं ससार का जितना अकल्याण लक्ष्मी ने किया है उतना शैतान ने नहीं किया।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इस समय फासिज्म और नाजीज्म का उदय हुआ। इसके अलावा रूस में साम्यवादी समाज ने उ नति के पिछले सारे रिकाड ताड दिये। फासिज्म पहले पहल समाजवाद की खोल ओढकर आया—इसे अय कइ बुद्धिजीवियों की तरह प्रमच द भी पहचान नहीं पाय। इसलिए उन्होंने फासिज्म को 1933 तक कम्युनिज्म के ही साथ स्वान किया। बाद में धीरे धीरे ज्यो ज्यो हिटलर की गति विधियाँ बढ़ी त्यों त्यों प्रमच द की कलम भी फासिज्म का विराध करने लगी। जमनी का भविष्य (20 मार्च 1933) जमन में यहूदियों पर अत्याचार (10 अप्रैल 1933) हिटलर की तानाशाही (जुलाई 1934) जमनी में अनाथों का वहिष्कार (16 अक्तूबर 1933) अग्रजी फासिस्ट दल की नीति (16 अप्रैल 1934) और अमर कवि गटे का अपमान (नवम्बर 1935) शीपक टिप्पणियों में फासिज्म के आर्थिक राजनीतिक पहलुओं को सामने रखा।

एक तरफ फासिज्म का उदय और दूसरी तरफ साम्यवाद का प्रचार और प्रसार—इनके बीच ससार झूल रहा है। प्रमच द ने ऐतिहासिक सच का पकडा और मई 1933 के हस में ससार की दोखी प्रगति पर टिप्पणी लिखी 76 दुनिया में बढ़ते हुए साम्यवादी प्रभाव पर उन्होंने हृष व्यक्त किया है। रूस का भाग्य विधाता (31 अक्तूबर 1932) में स्टालिन की तारीफ की है। रूस में समाचार

पत्रों की उ नति (21 अगस्त 1933) रूस का नैतिक उत्थान (फरवरी 1934) आदि और भी टि पणिया उ होने लिखी । 29 जनवरी 1934 को उ होने दुनिया की हवा का रुख टिप्पणी म एक सवाददाता की सम्मति दी है ऐसा मुश्किल से कोई समझदार अ भी मिनेगा जिसमे जरा भी विचार शक्ति है जो वतमान परिस्थिति का साम्यवादी विश्लेषण न स्वीकार करता हो । 77 इस कारण भी व डमोक्री यानी जनसत्ता के विरोधी हो गये क्योंकि यह जनसत्ता वास्तव म धनसत्ता हो गयी थी । 11 दिसम्बर 1933 को उ हाने लिखा आज ससार म पूजोवाद की जडें खोखली हा रही है और उसे अपना अस्तित्व बनाय रखने के लिए समाजवाद स समझौता करना पड रहा है । फासिज्म और नाजिज्म इस समझौते के रूप हैं । पर लक्षण बता रहे है कि निकट भविष्य म आजकल का पूजोवाद जमीन पर पडा हागा और उसकी लाश पर समाजवाद की धारा बह रही हागी । 78 भावी महासमर के बान्स मडरा रहे है साम्राज्यवादियों की स्वाध लिप्सा बड रही है लेकिन भविष्य मानवता का समाजवाद का है—साम्राज्यवाद का नहीं ।

इसक अलावा समकालीन राजनीतियों की राष्ट्र भाषा नीति की आलोचना प्रमच द ने खूब की है आयसमाज क अ तगत आयभाषा सम्मेलन क वार्षिक अवसर पर लाहौर म हि दी उद की एकता पर भाषण देते हुए उ होन समकालीन समाज म समकालीन राजनीतिज्ञा की भूमिका पर विचार करते हुए कहा है

राजनीति के पण्डितो न कौम को जिस दुदशा म डाल दिया है वह आप और हम सभी जानते हैं । अभी तक साहित्य के सबको ने भी किसी न किसी रूप मे राजनीति के पण्डितो को अगुआ माना है और उनके पीछे पीछे चले है । मगर अब साहित्यकारो का अपन विचार स काम लेना पडगा । सत्य शिव सुन्दर क उसूल को यहा भी बरतना पडगा । सिया सियात न सम्प्रदायो को दो कम्पो म खडा कर दिया है । राजनीति की हस्ती ही इस पर कायम है कि दोना आपस म लडते रह । उनम मेल हाना उसकी म यु है । 79

जीवन के अंतिम दिना म प्रमच द न समकालीन समाज की समीक्षा करते हुए उस महाजनी सभ्यता का समाज कहा है । इस सभ्यता म व्याप्त पैसा प्रम न मनुष्य का जड पशु मात्र बना दिया है । इस पैसे की महिमा के कारण सारे सामाजिक सम्ब धा के मूल म बिजनेस की भावना आ गयी है । इस सभ्यता के विरुद्ध एक नयी सभ्यता का उन्म हो रहा है । प्रमच द नयी सभ्यता म मानवता का भविष्य देखते हैं । महाजनी सभ्यता क अन्त म प्रमच द न लिखा है वह उनके राजनतिक चिंतन का अंतिम और विकसित बिन्दु है

धन्य है वह सभ्यता जो मानवारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त कर रही है और जल्दी या देर से दुनिया उमका पदानुमरण अवश्य करेगी । यह सभ्यता अमुक देश की समाज रचना अथवा धर्म मजहब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है—यह तक नितात असंगत है । ईसाई मजहब का पीछा यश्शलम म उगा और सारो दुनिया उमक सोरभ स बस गई । बौद्ध धर्म न उत्तर भारत म जन्म ग्रहण किया और आधी दुनिया म उस गुरु दक्षिणा दी । मानव स्वभाव अखिल

विश्व में एक ही है। छोटी-मोटी बातों में अन्तर हो सकता है, पर मूलस्वरूप की दृष्टि से सम्पूर्ण मानव-जाति में कोई भेद नहीं। जो शासन विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुणों अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उनके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जन-साधारण को वहकावेंगे, उनकी आँखों में धूल झाँकेंगे, पर जो सत्य है एक न एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।”⁸⁰

प्रेमचन्द के चिन्तन की यहाँ सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने का ही प्रयास किया गया है। असलप में उन्होंने पत्रकार जीवन में जो टिप्पणियाँ लिख दी थी, उन्हीं को व्यवस्थित करने का प्रयास है। प्रेमचन्द ने स्वयं व्यवस्थित रूप से अपने समकालीन समाज के बारे में नहीं लिखा। अतः यह सम्भव है कि उनके चिन्तन का बहुत बड़ा हिस्सा बिना अभिव्यक्ति पाये ही रह गया हो—जिसे समय और सुविधा के अभाव में वे नहीं लिख पाये हों। छोटी छोटी टिप्पणियों में यह सारी सामग्री बिखरी हुई है। इस कारण कुछ पक्षों पर बार बार अतिरिक्त बल दिया गया हो और कुछ महत्वपूर्ण पक्ष ऐसे ही छोड़ दिये गए हैं। फिर भी किसानों के व्यापक हित का आदर्श प्रेमचन्द को बहुत ज्यादा भटकने नहीं देता और कभी उन्हें अन्त में समाजवाद का पक्षधर बना देता है।

प्रेमचन्द का साहित्य चिन्तन

प्रेमचन्द एक सर्जनात्मक साहित्यकार थे। उन्होंने साहित्य सम्बन्धी किसी व्यवस्थित सिद्धान्त की स्थापना नहीं की और नहीं उन्होंने साहित्य समालोचना का कार्य ही व्यवस्थित रूप से किया। अपने सर्जन कर्म के दौरान उन्हें जो व्यावहारिक अनुभव हुए, उसी आधार पर उन्होंने एक साहित्यिक दृष्टि पाठका के सामने रखी। इसके अलावा प्रेमचन्द पत्रकार भी थे। पत्रकार होने के कारण उनका सम्बन्ध समाज-कालीन साहित्य के साथ जिम्मेदारी का था। इस जिम्मेदारी की भावना से प्रेरित होकर भी उन्होंने कुछ पुस्तकों की समीक्षा, और कुछ परिचयात्मक टिप्पणियाँ लिखी हैं। इसलिए उनके साहित्य चिन्तन का विधिवत् अध्ययन अलग से किया जाना चाहिए।

एक रचनाकार का साहित्य चिन्तन चूँकि उसके व्यावहारिक और वास्तविक अनुभवों की जिन्दा जमीन पर खड़ा होता है, अतः एक तरफ तो उसमें सच्चाई की मात्रा अधिक होती है, दूसरी तरफ उसमें एकांगी होने का खतरा भी ज्यादा होता है। रचनाकार का साहित्य-चिन्तन घूम-फिर कर अपने साहित्य-कर्म की औचित्य-स्थापना करता है। प्रेमचन्द के साहित्य चिन्तन पर विचार करते हुए इस तथ्य को भी हमेशा ध्यान में रखा जाना चाहिए।

प्रेमचन्द राष्ट्रीय युग के—स्वाधीनता आन्दोलन के युग के साहित्यकार हैं। उनके साहित्य का उद्देश्य था—जनता में व्याप्त जड़ता को दूर करना, अन्ध विश्वास और रूढ़ियों से मुक्त करना, विदेशी शासन के जुए से उसे आजाद करना और साथ

ही उसने प्रजातांत्रिक जीवन मूल्यों की स्थापना करना। प्रेमचन्द अपने समकालीन साहित्यकारों के समान रीतिकालीन काव्य रचियों के विरोधी थे—अतः उन्होंने साहित्य की प्रकृति और उसके उद्देश्य को निर्धारित करते समय रीतिकालीन सामन्ती काव्य मूल्यों पर विशेष रूप से चोट की। प्रेमचन्द के साहित्य चिन्तन के मूल में साहित्यकार के व्यक्तित्व की स्थापना का प्रयास है। वे मानते हैं कि साहित्यकार का स्वयं का व्यक्तित्व जितना महान होगा, कला उतनी ही उच्चकोटि की होगी।

प्रेमचन्द उपग्रामी कला के हिमायती थे। 22 जनवरी, 1930 का श्री हरिहर नाथ को पत्र लिखते हुए उन्होंने साहित्य के इस उद्देश्य को रेखांकित किया है

‘मेरा रुतब है कि साहित्य का सबसे बड़ा उद्देश्य उन्नयन है, ऊपर उठाना। हमारा यथार्थवाद को भी यह बात आँख से ओझल न करनी चाहिए। मैं चाहता हूँ कि आन मनुष्य की सृष्टि करें साहसी ईमानदार, स्वतन्त्र चेतना मनुष्य ज्ञान पर खलने वाला जाग्रित उठाने वाला मनुष्य, ऊँचे आदर्शों वाला मनुष्य। आज इसी की जरूरत है।’⁸¹

प्रेमचन्द अपने को ‘आदर्शवादी’ लग्नव मानते हैं। आदर्शवाद से उनका सात्विक अधिस्तर लक्ष्यवाद रहा है। वे चाहते हैं कि साहित्य और समाज का एक ऊँचा लक्ष्य हो। वही साहित्य को गति और बल देता है। ऊँचे लक्ष्य के बिना बड़ा काम नहीं हो सकता। इस आदर्श आकांक्षा के साथ प्रेमचन्द की इच्छा रही है कि साहित्य को जनता के वास्तविक जीवन से जुड़ा हुआ होना चाहिए। वे मानते हैं कि ‘साहित्य ही सच्चा इतिहास है, क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है वैसे कोरे इतिहास में नहीं हो सकता।’⁸² साहित्य में यह ऐतिहासिक सत्य सभी आ सकता है जब रचना की आधारभूमि यथार्थवादी होती है। इस स्तर पर शुरू से ही वह यथार्थवाद की जरूरत को महसूस करते रहे हैं। लेकिन वे ‘आदर्श और यथार्थ’ के मेल को ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं, जिसे उन्होंने ‘आदर्शोमुख यथार्थवाद’ की संज्ञा दी है।⁸³

प्रेमचन्द कला की उपयोगिता के पक्षधर हैं। ‘य कला के लिए कला’ के प्रेमी नहीं थे क्योंकि यह सिद्धान्त उन दशा के लिए उपयुक्त हो सकता है जो धन-धान्य से पूर्ण हो परंतु जो देश गरीब हैं और पराधीन हैं उनकी कला में उपयोगितावाद आ ही जाता है। ऐसे देश के साहित्यकारों में भावना जितनी ही प्रबल होती है, कला उतनी ही प्रचारक हो जाती है। इसलिए श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने जब प्रेमचन्द पर ‘प्रापेण्डा’ करने का आरोप लगाया तब उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।⁸⁴

प्रेमचन्द मानते हैं कि ‘देश में जब कोई उथल-पुथल होती है या सामाजिक-राजनैतिक आन्दोलन उठ खड़ा होता है तो आज का साहित्यकार उससे असम्पृक्त नहीं रह सकता। उसकी विशाल आत्मा अपने देश बंधुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सावभौमिक होता है।’⁸⁵

प्रेमचन्द की साहित्यकार की कल्पना भी ऊँची और पवित्र है। वह उस आत्मा का इन्जीनियर मानता है। ‘मकान गिराने वाला इन्जीनियर नहीं कहलाता।

इन्जीनियर तो निर्माण करता है।⁸⁶ इसलिए विध्वंस साहित्य का मुख्य धर्म नहीं होता। साहित्य का विध्वंस भी निर्माण के ही लिए होता है। इसीलिए प्रेमचन्द साहित्यकार को केवल मजदूर नहीं मानते थे। 4 दिसम्बर, 1934 को श्री रामचन्द्र टण्डन को पत्र लिखते हुए लिखा है

“रूस में भी सोवियत राइटर्स यूनियन है। और देशों में है या नहीं मुझे मालूम नहीं। लेकिन मुझे लेखकों को केवल बलमी मजदूर समझने में कष्ट होता है। लेखक केवल मजदूर नहीं बल्कि और कुछ है—वह विचारों का आविष्कारक और प्रचारक भी है।”⁸⁷

समकालीन राजनीतिज्ञा की विफलता को मद्दे-नजर रखते हुए, प्रथम अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ में सभापति पद से भाषण देते हुए उन्होंने साहित्य के इस ऊँचे लक्ष्य को सामने रखा है कि “साहित्य का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है—उसका दर्जा इतना न गिराइये। वह दश भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।”⁸⁸

इस वक्तव्य में प्रेमचन्द ने अपने जीवन और समकालीन परिवेश के अनुभव को ही कन्द्र म रखाकर, उसे ही सिद्धान्तबद्ध कर दिया है। इसी युग के महाकवि निराला ने इस अनुभवपरक सच्चाई को व्यावहारिक स्तर पर ही रहने दिया है। श्री नरोत्तमदास नागर को इण्टरव्यू देते हुए 1938 में निराला ने कहा कि ‘मैं दावे का साथ कहता हूँ, इस प्रातः में राजनीति ने जो काम किया है, उससे अधिक काम साहित्य ने किया है। इस प्रातः के राजनीतिक जितने बड़े बड़े व्यक्ति हैं, निस्सन्देह, साहित्यिक उनसे बड़े हैं। यह है कि यहाँ के साहित्यिक आठ मंतेबा एटलाण्टिक या सातह मंतेबा पैसिफिक क्रॉस नहीं कर चुके, न एयरोप्लेन पर चढ़कर अभी तक पृथ्वी का आकाश पार किया है, उनमें शायद ही किसी ने यूरोप में शिक्षा पाई हो, लेकिन यथार्थ ज्ञान, अध्ययन, कार्य और तपस्या से जहाँ तक ताल्लुक है, यहाँ के साहित्यिक राजनीतिज्ञों से आगे हैं—विशेषतः इसलिए कि वह ‘फालोअर’ नहीं ‘आरोजिनल’ है।”⁸⁹

निराला के इस कथन के पीछे निश्चय ही प्रेमचन्द अयशकर प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल और स्वयं उनका साहित्य विद्यमान है। इसके अलावा निराला की अपनी दृष्टि भी इस कथन में प्रतिबिम्बित होती है। निराला पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण को हानिकार मानते हैं। इनके अनुसार हमारी राजनीति में ‘मौलिकता’ कम है और पश्चिम का अनुकरण ज्यादा है। निराला के अनुसार इस पाश्चात्य प्रभाव के बीच भारत की अस्मिता को बनाए और बचाए रखने का सवाल ज्यादा महत्वपूर्ण है। उन्होंने लिखा है कि ‘युद्ध की हार उतनी बड़ी नहीं जितनी बड़ी बुद्धि और संस्कृति की हार है।’⁹⁰ निराला राजनीति में संस्कृति की हार देख रहे थे, जबकि साहित्य ‘संस्कृति’ की जीत घोषित कर रहा था। निराला और प्रेमचन्द के इन विचारों की आधार भूमि में अलगाव होत हुए भी, निष्कर्ष में दोनों एक हैं—न्योकि यह निष्कर्ष वस्तुगत परिस्थितियों के सही विश्लेषण से आया है।

इसके बावजूद सामाजिक विकास की नियामक शक्तियों की दृष्टि से राजनीति और राज्य ही नेतृत्वकारी भूमिका निभाता आया है। लेकिन वैचारिक और सांस्कृतिक संपर्क में साहित्य की भूमिका महत्वपूर्ण है। एक हमारा कम जीवन और दूसरा भावात्मक जीवन का नियामक है। ऐतिहासिक स्थितियों में कई बार ऐसा भी होता आया है कि हमारा भावात्मक जीवन आगे बढ़ जाता है, जबकि कम जीवन पिछड़ जाता है। राजनीति और साहित्य की इस दौड़ में ऐसा लगता है कि साहित्यकारों ने ही बाजी मार ली है।

शिवरानी देवी न प्रेमचन्द के जीवन की एक घटना बयान की है। प्रेमचन्द का एक लघु 'आज' में छपा था। उस पर काशी के हिन्दू प्रेमचन्द से बहुत नाराज हुए। कई लोग, जिनमें हिन्दू सभा वाला के अलावा कांग्रेसी भी थे, प्रेमचन्द से अपना विरोध प्रकट करने आए। वे जब चले गये, तब लेखकीय व्यक्तित्व की गरिमा को रेखांकित करते हुए प्रेमचन्द बोले "लेखक को पब्लिक और गवर्नमेंट अपना गुलाम समझती है। आखिर लेखक भी कोई चीज है। वह सभी की मर्जी के मूलाधिक लिखे तो लेखक कैसा? लेखक का भी अस्तित्व है। गवर्नमेंट जेल में डालती है, पब्लिक मारने की धमकी देती है। इससे लेखक डर जाये और लिखना बंद कर दे।" 91

वास्तव में प्रेमचन्द ने साहित्य के विषय की प्रजातान्त्रिकता का पक्ष लिया है। एक तरफ उन्होंने विषय की बलासिक्ल महानता की धारणा का विरोध किया, दूसरी तरफ प्यूरिटेन मनोवृत्ति के चितका का भी विरोध किया। आम जनता—विशेषतः शोषित और पीड़ित लोगों को साहित्य में लाने के वह हिमायती रहे। नन्द-दुलारे वाजपेयी को नवाब देते हुए उन्होंने लिखा 'मेरा खयाल है कि मेरे घर के महतर के जीवन में भी कुछ ऐसा रहस्य है जिसे हम प्रकाश मिल सकता है। अन्तर यही है कि महतर में साहित्यिक बुद्धि नहीं, लेखक में विवेचन शक्ति होती है।' 92

हिन्दी साहित्य के उस दौर में प्रेमचन्द ही एकमात्र ऐसे लेखक थे, जिन पर ब्राह्मणवादी ब्राह्मणों ने ब्राह्मण विरोधी होने का आरोप लगाया है। इसके अलावा उन्हें 'घृणा' के प्रचारक होने की पदवी भी प्रदान की गयी। इस आरोप के जवाब में प्रेमचन्द न दिसम्बर, 1933 में जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान बताया। इसमें उन्होंने कहा कि बुराई के प्रति घृणा फैलाना न्यायसंगत है। प्रेमचन्द मानते हैं कि सु और कु का संग्राम ही साहित्य का इतिहास है। कुरूप के प्रति घृणा और सुन्दर के प्रति प्रेम भाव दिखाना साहित्य का उद्देश्य है। 'नवीन साहित्य समाज का खून चूसने वालों रंगे सियारों हथकण्ड बाजों और जनता के अज्ञान से अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों के विरुद्ध उठने ही जोर से आवाज उठा रहा है और दीनों, दलितों, अन्याय के हाथा सताये हुएों के प्रति उतनी ही जोर से सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है।' 93

8 जनवरी, 1934 के 'जागरण' में प्रेमचन्द ने एक टिप्पणी लिखी—'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं?' इसमें उन्होंने राष्ट्रियता की भांग की ध्यान में रखते हुए टिप्पणी पुरोहितों के खिलाफ संपर्क करने की आवश्यकता पर बल दिया। 'हम

किसी व्यक्ति या समाज से कोई द्वेष नहीं हम अगर टकेपयीपन का उपहास करते हैं तो जहाँ हमारा एक उद्देश्य यह होता है कि समाज में सऊँच-नीच पवित्र अपवित्र का ढाग मिटावें वहाँ दूसरा उद्देश्य यह भी होता है कि टकेपयिया व सामन उनका वास्तविक और अतिरजित चित्र रखें जिसमें उन्हें अपने व्यवसाय अपनी धूमता अपने पाखंड में घुणा और लज्जा उत्पन्न हो और व उनका परित्याग कर ईमानदारी और सच्चाई की जिदगी बसर करें और अधिकार की जगह प्रकाश व स्वयं सेवक बन जाय । 91

प्रमचंद ने साफ कहा कि मेरे ऊपर ऐसा आरोप हिंदुओं ने ही नहीं लगाया मोलवियों ने भी लगाया है । लेकिन हमारा आदर्श सदैव यह रहा है कि जहाँ धूमता और पाखंड और सबलों द्वारा निबनों के अत्याचार देखो, उसको समाज के सामने रखो चाहे हिंदू हो या पंडित हो बाबू हो मुसलमान हा या कोई हो । इसलिए हमारी कह निया में आपका पदाधिकारी महाजन वकील और पुजारी गरीबा का खून चूमते हुए मिलेंगे और गरीब किसान मजदूर अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ में न जान देंगे क्योंकि हमने उन्हीं में सबसे ज्यादा सच्चाई और सवाभाव पाया है । 92

साहित्य का उद्देश्य साहित्य के स्वरूप और साहित्यकार के व्यक्ति के साथ उन्हीं राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य की अनिवार्यता का सवाल भी उठाया है । इसके लिए उन्होंने अखिल भारतीय साहित्य मस्या की आवश्यकता पर जोर दिया । उन्होंने कहा कि हमारे देश में फले प्रातीयता के भावा के पीछे प्रातीय साहित्य है । राष्ट्रीय साहित्य के बिना राष्ट्रीयता के भावों को जगा पाना मुश्किल है । 23 अप्रैल 1934 के जागरण में उन्होंने लिखा

किसी राष्ट्र को बनाने के लिए संस्कृति की समानता जरूरी होती है । भाषा और साहित्य संस्कृति का मुख्य अंग है । जब तक एक भाषा और एक साहित्य नहीं हो एक राष्ट्र की कल्पना नहीं हो सकती । जब तक कौम में अपने विचारों के फैलाने की कोई एक भाषा नहीं हो वह कौम नहीं बहला सकती । भारत में कई सम्पन्न प्रातीय भाषाओं के होते हुए भी हम जो हिंदी को राष्ट्रभाषा का स्थान देना चाहते हैं वह इसलिए कि वह भारत में अधिकतर समझी जाती है । 96

राष्ट्रभाषा के रूप में प्रमचंद हिंदुस्तानी के हिमायती थे । हिंदी और उर्दू के मिले जुले रूप से बनी हुई हिंदुस्तानी भाषा ही राष्ट्रभाषा बन सकती है । व भाषा के संस्कृतीकरण और अरबीकरण के विरोधी थे । जो लोग राजनीति में साम्प्रदायिक थे उन्होंने भाषा में भी साम्प्रदायिकता का प्रचार किया । अतः हिंदू हिंदी का संस्कृत के करीब ल जाने लगे और मुसलमान उर्दू को अरबी फारसी के शब्दों से भरने लग । प्रमचंद की राजनीति साम्प्रदायिकता विरोधी थी अतः भाषा नीति भी साम्प्रदायिकता विरोधी रही । प्रमचंद मानते हैं कि अगर भारत शुद्ध हिंदू होता तो उसकी भाषा भी शुद्ध हिंदी होती । जब देश शुद्ध नहीं है तो भाषा कम शुद्ध हो सकती है ।

प्रमचंद मानते हैं कि हिंदी गरीबा की भाषा है । इंदौर हिंदी साहित्य

सम्मेलन' (जून, 1935) पर लिखते हुए उन्होंने लिखा 'हिन्दी के पक्ष में इसे चाहे लोग हीनता ही समझें भी तो इस सौभाग्य समझता हूँ, कि वह उतनी सम्पन्न की भाषा नहीं, जितनी कृषक और मजदूर की है। उतनी सहजीव की भाषा नहीं, जितनी नित्य जीवन की है।' 97

प्रेमचन्द अंग्रेजी भाषा को हमारी पराधीनता की चेड़ी मानते हैं। उसके हटाने से पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उठ जायेगा। यहाँ तक कि 'जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक कीमी भाषा बना लेंगे, उमी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायेंगे।' 98

प्रेमचन्द के विचार में हमारे नेताओं ने इस सम्बन्ध में भुजूरिमाना गफलत दिखलाई है। हमारे नेताओं को नहीं मालूम कि अंग्रेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का जैसा आतक हमारे ऊपर है, उससे कहीं ज्यादा अंग्रेजी भाषा का है। अंग्रेजी भाषा के कारण हमारा शिक्षित समाज जनता से दूर हटता जा रहा है और उसमें साम्राज्यवादी संस्कृति आती जा रही है। नेताओं ने अंग्रेजी व्यापार, राजनीति और साम्राज्यवाद का तो विरोध किया, पर अंग्रेजी भाषा को गुलामी के तौर की तरह गर्दन में डाले हुए है। इसलिए प्रेमचन्द एक स्पष्ट कमीटी सामन रखते हैं कि जो लोग जनता की भाषा नहीं बोल सकते, वे जनता के वकील कैसे बन सकते हैं? 99

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इसी समय विशाल भारत में हमारा साहित्य शोषक एक टिप्पणी लिखी। इसमें उन्होंने लिखा कि मैंने सुना है कि हिन्दी में शेक्सपियर और शांति जैसे प्रतिभाएँ हैं इसलिए उन्होंने हिन्दी साहित्य पढ़ा और वह निराश हुए। इस पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने जो कुछ लिखा है, वह साहित्य-कारों और राजनीतिज्ञों की बहस का सही तौर पर सामने रखता है। इसमें प्रेमचन्द ने यह लिखा कि आखिर उन्होंने विश्वास ही क्यों कर लिया जबकि 'एक तो पराधीनता यो ही हमारी प्रतिभा और विकास में चारा ओर से बाधक हो रही है, दूसरे हमारा शिक्षित समुदाय हिन्दी साहित्य से कोई सरोकार नहीं रखना चाहता, तो साहित्य में प्रगति और स्फूर्ति कहाँ से आये? और जब जीवन के किसी क्षेत्र में हम यूरोप से मुकाबला करने का दावा नहीं कर सकते—हमारे लेनिन और ट्राट्स्की और नीत्शे और हिटलर अभी अवतरित नहीं हुए—तो साहित्य में वह तेजस्विता कहाँ से आ जायेगी?' 100

संदर्भ

- 1 " इस महान विजय की यादगार हम क्या और कैसे बनायेंगे, यह तो भविष्य की बात है, पर यह एक ऐसी विजय है, जिसकी नज़ीर ससार में नहीं मिल सकती और उसकी यादगार भी वैसी ही शानदार होगी। हम भी उस नये देवता की पूजा करने के लिए, उस विजय की यादगार बाँटने के लिए, अपना मिट्टी का दीपक लेकर खड़े होते हैं और हमारी विसात ही क्या है ? शायद आप पूछें, संग्राम शुरू होते ही विजय का स्वप्न लेने लगे। उसकी यादगार बनाने की भी सूझ गई। मगर स्वाधीनता एक मन की वृत्ति है। इस वृत्ति का जागना ही स्वाधीन हो जाना है। अब तक इस विचार ने जन्म ही न लिया था। हमारी चेतना इतनी मन्द, शिथिल और निर्जीव हो गई थी कि उसी ऐसी महान कल्पना का आविर्भाव ही न हो सकता था, पर भारत के कर्णधार महात्मा गांधी ने इस विचार की सृष्टि कर दी। अब वह बढ़ेगा, फैले-फूलेगा। अब से पहले हमने अपने उद्धार के जो उपाय सोचे, वे व्यर्थ सिद्ध हुए, हालाँकि उनके आरम्भ में भी सत्ताधारियों की ओर से ऐसा ही विरोध हुआ था। इसी भाँति इस संग्राम में भी एक दिन हम विजयी होंगे। वह दिन दूर में आया या जल्द, यह हमारे परिश्रम, बुद्धि और साहस पर मुनहसर है। हाँ, हमारा यह धर्म है कि उस दिन को जल्द से जल्द लाने के लिए तपस्या करते रहे। यही 'हस' का ध्येय होगा और इसी ध्येय के अनुकूल उसकी नीति होगी। कहते हैं जब श्री रामचन्द्र समुद्र पर पुल बाँध रहे थे, उस वक्त छोटे-छोटे पशु पक्षियों ने मिट्टी ला लाकर समुद्र के पाटन में मदद दी थी। इस समय देश में उससे कहीं बड़ा संग्राम छिड़ा हुआ है। भारत ने शान्तिमय समर की भेरी बजा दी है। 'हस' भी मानसरोवर की शांति छोड़कर अपनी नन्ही सी चोख में चुटकी-भर मिट्टी लिए हुए, समुद्र पारने—आजादी की जग में योगदान देने—चला है। समुद्र का विस्तार देखकर उसकी हिम्मत छूट रही है, लेकिन सप्त शक्ति ने उसका दिल मजबूत कर दिया है, समुद्र पारने के पहले ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाएगी या वह अन्त तक मैदान में डटा रहेगा, यह तो कोई ज्योतिषी ही जाने, पर हमें ऐसा विश्वास है कि 'हस' की लगन इतनी कच्ची न होगी। यह तो हुई उसकी राजनीति। साहित्य और समाज में वह गुणों का परिचय

देगा, जो परम्परा ने उसे प्रदान कर दिए हैं।" 'कलम का मजदूर—प्रेमचन्द'
से उद्धृत, पृ० 204-205

2 चिट्ठी पत्री, भाग 2, पृ० 211

3 प्रेमचन्द एक कृती व्यक्तित्व, पृ० 27, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली 1973

4 प्रेमचन्द घर में, पृ० 145

5 वही पृ० 172

6 प्रेमचन्द स्मृति, पृ० 29

7 वही, पृ० 23

8. प्रेमचन्द एक कृती व्यक्तित्व, पृ० 74 75

9 चिट्ठी-पत्री, भाग 2, पृ० 157

10 वही, पृ० 188

11 वही, भाग 1, पृ० 184

12 इसी में उन्होंने लिखा, "धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने-भर को मिल ही जाता है। मोटर और बगले की मुझे हविष नहीं। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूँ पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य विजय ही है।", चिट्ठी-पत्री, भाग 2, पृ० 77

13 'वह वितडतावादी नहीं, सत्य का पुजारी होगा, चाहे उसे सत्य को स्वीकार करने में कितना ही अपमान हो। वह अप्रिय सत्य कहने से कभी न झूकेगा। वह दूसरों के दोष न देखेगा बल्कि अपने दोषों को स्वीकार करेगा। बिना अपने दोषों का दोष समझे उनके सुधार की इच्छा नहीं होती। वह निर्भीक होगा, पर दुस्साहसी नहीं। वह सत्यवादी होगा, सत्य से जो-भर नहीं टलेगा, पर यथार्थता से अपना दामन बचायेगा। वह बूढ़ो में बूढ़ा जवानों में जवान और बालकों में बालक होगा। वह जिस दृढ़ता से न्याय का पक्ष लेगा उतनी ही दृढ़ता में अन्याय का विरोध करेगा, चाहे वह राजा की ओर से हो, समाज की ओर से हो अथवा धर्म की ओर से। वह सबलों का हितैषी होगा, पर निबलो पर उनके जुल्म को सहन न कर सकेगा। समाज का दुखी और दुर्बल अंश उसे सदा अपनी कालत करते हुए पाएगा। वह कोरा न्यायवादी, गम्भीर और शुष्क न रहेगा। वह मनुष्य केवल आधा ही जन्मा है, जो कभी दिल खोलकर नहीं हँसता, विनोद से आनंदित नहीं होता।' विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 538

14 चिट्ठी-पत्री भाग 2, पृ० 27

15 विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 542

16 चिट्ठी-पत्री भाग 2, बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम पत्र, पृ० 82

17 वही, पृ० 41

18 कलम का मजदूर प्रेमचन्द, पृ० 274

19 चिट्ठी पत्री, भाग 2 पृ० 257-258

20 "य प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आये हैं उसकी लीक से जो भर भी नहीं हट सकते। बल्गेरिटी का यह लोग एटरटेनमेन्ट बेल्यू बहते हैं। अद्भुत

- 30 वही, पृ० 65, 'हत्त', नवम्बर 1930 की टिप्पणी—'स्वराज्य सपना में बिमरी विजय हो रही है' ।
- 31 प्रवचन-प्रतिभा, पृ० 24, से० निरास्ता, भारतीय भण्डार, इलाहाबाद, 1963
32. " हमारे कहने का तात्पर्य केवल यह है कि हममें हरेक पश्चिमी बीज के पीछे आगे बढ़ करके चलने की ओर प्रवृत्ति हो रही है, वह केवल हमारी मानसिक पराजय के कारण । हमारी मज्जा में भी रोग है, मगर उसकी दवा योरोपीय सभ्यता की अधःभूति नहीं है । उसकी दवा हमें अपनी ही सभ्यता में खोजनी पड़ेगी । यह समझ लीजिए कि यह राजनीतिक परिस्थिति नहीं रहेगी, पर इस परिस्थिति में हमने अपने अस्तित्व का छो दिया, आज धर्म की मत्ता की अपनी सभ्यता को छोड़ें, तो हमारा अन्त हो जायेगा ।"—विविध प्रसंग, भाग 3, (मानसिक पराधीनता, जनवरी, 1931) पृ० 193
- 33 विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 74
- 34 वही, पृ० 363
- 35 वही पृ० 364
- 36 " सन्देह तो यह है कि हमारे राष्ट्रीय नेता भी इस प्रवृत्ति में ग्याली नहीं है । और यही कारण है कि हम एकता एका चिन्तने पर भी उस एकता से उठने ही दूर हैं । जरूरत यह है कि, जैसा हम पहले कह चुके हैं कि हम गलत इतिहास को दिल से निकाल डालें और देश-वास को भली भौति विचार करके अपनी धारणाएँ स्थिर करें । तब हम देखेंगे कि जिन्हें हम अपना शत्रु समझते थे, उन्होंने वास्तव में दलितों का उद्धार किया है । हमारे आत-पात के कठार मज्जनों को गरस किया है, और हमारी सभ्यता के विकास में सहायक हुए हैं । यह कोई छोटी और महत्वहीन बात नहीं है कि 1857 के विद्रोह में हिन्दू-मुसलमान दोनों ही ने जिसे अपना नेता बनाया, वह दिल्ली का शक्तिहीन बादशाह था ।"—वही, पृ० 377
- 37 वही पृ० 76
- 38 वही, पृ० 85
- 39 वही, पृ० 80
- 40 वही, पृ० 90
- 41 वही, पृ० 88 89
- 42 वही, पृ० 91
43. विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 101
- 44 " जब मुसलमानों को कुछ अधिकार अधिक मिल जाते हैं, तो हमें तुरन्त यह विचार होता है कि हमारे साथ अन्याय हुआ । कारण यही है, कि हम मुंह से चाहे राष्ट्रीयता की दुहाई दें, दिल में हम सभी साम्प्रदायवादी हैं और हरेक बात को साम्प्रदाय की आँखों से देखते हैं । क्या सत्य नहीं है, कि जब कोई साम्प्रदायिक दगा हो जाता है, तो हम तुरन्त यह जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं कि उस दगे में कितने हिन्दू हताहत हुए और कितने मुसलमान । अगर

हिन्दुओं की संख्या अधिक होती है, तो हम कितने उत्तेजित हो जाते हैं। इसके विपरीत अगर मुसलमानों की संख्या अधिक होती, तो हम आराम की सांस लेते हैं। यह मनोवृत्ति राष्ट्रीयता का गला घोटने वाली है।"—('अब हमें क्या करना है', 'जागरण', 29 अगस्त, 1932,) विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 381

45 विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 488

46 "कई दिन हुए प्रो० रामदास जी गौड ने 'आज' में एक पत्र लिखकर बतलाया था कि आजकल जिन फौटेनपेनो को हम स्वदेशी समझते हैं, व सर्वथा विदेशी हैं, उनमें कोई भाग स्वदेशी नहीं, सभी चीजें विदेश से मंगाकर यहाँ जोड़ ली गयी हैं। यही कलम घड़ल्ले से बाजार में बिक रही है और जनता को धोखा दिया जा रहा है। मगर इन कलमों के अतिरिक्त और भी कितनी विदेशी चीजें स्वदेशी के नाम से बिक रही हैं और जनता को धोखा दिया जा रहा है।" ('असली और नकली स्वदेशी चीजें', 14 नवम्बर, 1932), विविध प्रसंग, भाग 3, पृ० 168

47 विविध प्रसंग, भाग 3, पृ० 165

48 वही, पृ० 496

49 वही, पृ० 503

50 वही, पृ० 503 ('यू० पी० काउंसिल में कृपको पर अन्याय' शीर्षक टिप्पणी, 26 फरवरी, 1934)

51. वही, पृ० 503

52 वही, पृ० 507

53 वही, पृ० 209

54 वही, पृ० 415-416

55 वही, पृ० 424

56. वही, भाग 3 पृ० 235

57 वही, पृ० 152-153

58 वही, भाग 2, पृ० 131-132

59 वही, पृ० 472

60 वही, पृ० 116 इससे पहले 2 जनवरी, 1933 को लिखा

'हम आगे बढ़ना चाहते थे। हमें पीछे ढकेल दिया गया। हम राष्ट्र निर्माण का अधिकार चाहते थे, उस अधिकार को सात तालों के अन्दर बन्द कर दिया गया। आज भारत अपने शासकों के पाँव के नीचे पड़ा सिसक रहा है, परास्त और बदलित।' , पृ० 113-114

61. वही, पृ० 128

62 वही, पृ० 168

63 वही, पृ० 180

64 वही, पृ० 219

65 वही, पृ० 153

- 66 "हमारे राजनैतिक और वास्तविक जीवन में मानो कोई दीवार खिंची हुई है। हमारी शादी-विवाह, मेले-तमाशे, उत्सव-पर्व पूर्ववत् होते रहते हैं। दीवाली में दीपक जलते हैं और जुआ होता है, होली में गुलाल उड़ती है और पकवान पकते हैं। जिस राष्ट्र के यथार्थ जीवन में राजनैतिक अक्षमता इतना गौण स्थान रखती हो, उसके विषय में यही कहा जा सकता है कि अभी राजनीति केवल उसके ओठों तक है, नीचे नहीं उतरने पायी।"—विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 187
- 67 विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 258
68. वही, पृ० 218
- 69 वही, पृ० 264
- 70 वही, पृ० 268
- 71 चिट्ठी-पत्रों, भाग 2 पृ० 50
- 72 विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 223
- 73 वही, पृ० 262 ('कांग्रेस की विधायक योजना', 30 अप्रैल, 1934)
- 74 वही, पृ० 333
- 75 वही, पृ० 334
- 76 'दो-तीन साल पहले इंग्लैंड में मजूर पार्टी का अधिकार, रूस और चीन आदि में सोवियत की सफलता और अन्य देशों में जनपक्ष की प्रधानता देखकर यह अनुमान किया जाने लगा था कि सत्तार से साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद का प्रभुत्व उठने वाला है, या बहुत थोड़े दिनों का मेहमान है लेकिन यकायक नक्शा जो पलटा तो इंग्लैंड में साम्राज्यवादियों का फिर जोर हो गया। जर्मनी और इटली में पूँजीवाद ने एक नये रूप में अपना चमत्कार दिखाया, चीन पर जापानी साम्राज्यवाद ने धावा बोल दिया और ऐसा जान पड़ता है कि कई सालों तक सत्तार में यह दोस्ती चाल रहेगी। एक ओर पूँजीवाद का जोर, दूसरी ओर समष्टिवाद का जोर।" विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 309
77. वही, भाग 3, पृ० 236
78. वही, भाग 2, पृ० 224-225
- 79 साहित्य का उद्देश्य, पृ० 144, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967
- 80 प्रेमचन्द स्मृति, पृ० 264, चयन, अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
- 81 चिट्ठी-पत्रों, भाग 2, पृ० 286
- 82 'हंस' अप्रैल, 1931, पृ० 40
83. "यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किमी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति मात्र हों—जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना मुश्किल नहीं

है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।"—साहित्य का उद्देश्य, पृ० 63

- 84 "सभी लेखक कोई न कोई प्रोपेगैंडा करते हैं—सामाजिक, नैतिक या बौद्धिक। अगर प्रोपेगैंडा न हो तो ससार में साहित्य की जरूरत न रहे, जो प्रोपेगैंडा नहीं कर सकता वह विचारशून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं। मैं उस प्रोपेगैंडा को गर्व से स्वीकार करता हूँ।" ('हस' के मई, 1932 के अंक में 'परितोष' शीर्षक टिप्पणी से उद्धृत), विविध प्रसंग, भाग 3, पृ० 122

85 हम, अप्रैल, 191, पृ० 40

86. वही, पृ० 42

87 चिट्ठी-पत्री, भाग 2, पृ० 166

- 88 साहित्य का उद्देश्य, पृ० 22। इसके अलावा अप्रैल, 1936 के 'हस' में 'भारतीय साहित्य परिषद' पर लिखते हुए उन्होंने लिखा 'पुराने जमाने में साहित्यकार केवल समाज का एक भूषण मात्र होता था, उसका संचालन और लोग करते थे, मगर नये जमाने का साहित्यकार इतना सन्तोषी नहीं है। वह समाज के परिष्कार में दखल देना चाहता है, राजनीतियों की गलतियों को सुधारना चाहता है। जो काम व्यवस्थापक लोग कानून और दण्ड विधान से करना चाहते हैं वही काम वह आत्मा को जगाकर आन्तरिक आदेशों से पूरा करने का इच्छुक होता है।'

विविध प्रसंग, भाग 3, 117

89 प्रबन्ध प्रतिमा, पृ० 189

90 चाबुक, पृ० 68

91 प्रेमचन्द घर में, पृ० 148

92 विविध प्रसंग, भाग 3, पृ० 127

93 वही, भाग 3, पृ० 58

- 94 विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 473 इसके बाद उन्होंने अपनी अममयता की ओर इशारा करते हुए लिखा है कि हमने उसकी यथायं तस्वीर पेश ही नहीं की। "मगर यह हमारी कमजोरी है कि हम बहुत-सी बातें जानते हुए भी उनके लिखने का साहस नहीं रखते और अपने प्राणों का भय भी है, क्योंकि यह समुदाय कुछ भी कर सकता है। शायद इस साम्प्रदायिक प्रसंग को इसीलिए उठाया भी जा रहा है कि पंडों और पुरोहितों को हमारे विरुद्ध उत्तेजित किया जाय।" पृ० 474

95. विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 475

96 वही, भाग 3, पृ० 291

97. वही, पृ० 97

98. साहित्य का उद्देश्य, पृ० 104

99. साहित्य का उद्देश्य, पृ० 130 इसके अलावा प्रेमचन्द ने लिखा : "हमारी कोश-सभाओं में सारी कार्रवाई अंग्रेजी में होती है, अंग्रेजी में भाषण दिये जाते हैं सारी लिखा-पढ़ी अंग्रेजी में होती है, उस सस्था में भी, जो अपने को जनता की सस्था कहती है। यहाँ तक कि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट भी, जो जनता के घामुलखास झण्डे-बरदार हैं, सभी कार्यवाही अंग्रेजी में करते हैं।" —साहित्य का उद्देश्य, पृ० 122-123
100. विविध प्रसंग, भाग 3, पृ० 81

सर्जनात्मक उत्कर्ष और किसान जीवन की जटिलता में अन्तःप्रवेश (1930-36 ई०)

प्रेमचन्द के साहित्य का समग्र अध्ययन उनके साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन से ही सम्भव हो सकता है। प्रेमचन्द अपने युग के साथ भी रहे और 'युग' से ऊपर भी रहे। वे ऐसे साहित्यकार नहीं थे जिनके विचार और जीवन पद्धति एक बार निर्मित हो जाने के बाद फिर नहीं बदला करती। ऐसे व्यक्ति न तो अपने जीवन में और न अपने साहित्य के प्रति ही आलोचनात्मक दृष्टि अपना पाते हैं। अपने कृतित्व के प्रति निर्मम आलोचना दृष्टि उसी व्यक्ति में होगी, जो अनिवार्यतः किन्हीं विशिष्ट जीवन-मूल्यों और उद्देश्यों से जुड़ा हुआ होगा। जो लोग 'स्वान्त. सुखाय' साहित्य-सर्जन करते हैं, उनमें अपने साहित्य के प्रति तुष्टि का भाव मिलता है। कलत उनकी रचनाएँ एक ही पद्धति में चलती रहती हैं। प्रेमचन्द इस प्रकार के आत्ममुग्ध साहित्यकार नहीं थे। उनके दिमाग में भारतीय समाज के पुनर्निर्माण की योजना थी, जिससे वे रागात्मक रूप से जुड़े हुए थे। अतः बार-बार उनके रचनाकार मानस में अपने साहित्य की मार्थकता का सवाल उठ खड़ा होता था। इसी मार्थकता के सवाल से उनमें आत्मालोचना की प्रवृत्ति विकसित हुई। उन्होंने हमेशा अपने-आपको 'सत्य' के करीब रखने का प्रयास किया है। जहाँ भी अपनी गलती देखी, उसे उन्होंने स्वीकार किया और सुधारने में लग गये। यह छोटी-सी किन्तु दुर्लभ विशेषता प्रेमचन्द की थी। उनके साहित्य की विकासशील प्रवृत्ति का रहस्य यही है। इसीलिए प्रेमचन्द के साहित्य का अध्येता महसूस करता है कि प्रेमचन्द ने अपनी विचारधारा, चिंतन पद्धति और कलात्मक सौष्ठव का लगातार विकास किया है। उनके सर्जन में कहीं भी गतिरोध नहीं आया। 'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न' (1907) से 'कफन' (1936) तक की यात्रा उनकी इसी विकासशील प्रवृत्ति की देन है।

प्रेमचन्द उस युग में पैदा हुए थे, जब भारत अपने-आपको राष्ट्र के रूप में स्थापित कर रहा था। इसका मूलभूत कारण देश में चल रहे व्यापक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक आंदोलन थे। इन आन्दोलनों के कारण इस जमाने में राष्ट्रीयता लोक अनुभूति का अंग बन गयी। समाज में व्याप्त इस 'राष्ट्रीयता' की झाँकी सम्पूर्ण प्रेमचन्द साहित्य में मिलती है।

प्रेमचन्द एक परिवर्तनशील युग में पैदा हुए, जब सामाजिक शक्तियों में भयंकर टकराव था। मुक्तिबोध ने प्रेमचन्द और उनके युग के बारे में टिप्पणी करते

हुए लिखा है कि 'प्रेमचन्द उत्थानशील भारतीय सामाजिक क्रांति के प्रथम और अंतिम महान कलाकार थे। प्रेमचन्द की भावधारा वस्तुतः अग्रसर होती रही, किंतु उसके शक्तिशाली आविर्भाव के रूप में कोई लेखक कामने नहीं आया। यह संभव भी नहीं था, क्योंकि इस क्रांति का नेतृत्व पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग के हाथ में था, और वह शहरों में रहता था। बाद में वह वर्ग अधिक आत्मकेन्द्रित और अधिक बुद्धि-द्वन्द्वी हो गया तथा उसने काव्य में प्रयोगवाद को जन्म दिया।'¹ भारतीय पंजीपति वर्ग अपना अस्तित्व बनाए और बचाए रखने के लिये सावधानीपूर्ण स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व कर रहा था। इस वर्ग ने एक ओर तो साम्राज्यवादियों के खिलाफ संघर्ष किया, दूसरी तरफ किसान मजदूरों की संघर्षशील चेतना और क्रियाशीलता को कम करने का प्रयास किया, ताकि भारत में भावी बोल्शेविक क्रांति के खतरे को टाला जा सके। प्रेमचन्द धीरे-धीरे इस तथ्य को समझ रहे थे। इस चरण में उन्होंने 1933-34 से ही इस बढ़ते हुए पूंजीवाद की खुलकर भर्त्सना करनी शुरू कर दी थी। कुल मिलाकर संपूर्ण प्रेमचन्द साहित्य में दो मुख्य समस्याएँ दिखलायी पड़ती हैं और कहना मुश्किल है कि प्रेमचन्द उनमें से किस समस्या को ज्यादा महत्त्व देते थे और किस को कम। इनमें पहली किसान-समस्या है और दूसरी स्वाधीनता आंदोलन की समस्या है।

प्रेमचन्द के साहित्य के मूल में भारतीय किसान की वास्तविक हालत है। इस अंतिम दौर में प्रेमचन्द ने किसान जीवन के बोध पक्ष को—जैसा कि वह है उसी रूप में सामने रखने का प्रयास किया है और यह प्रयास बाहरी बिल्कुल नहीं है। प्रेमचन्द ने किसान जीवन की जटिलता में अंतःप्रवेश किया है। किसान की कथा कहते-कहते गोया वे खुद किसान हो गए हैं। इसके बावजूद प्रेमचन्द ने इस दौर में भी सिर्फ किसान जीवन के बारे में ही साहित्य नहीं लिखा है। जैसा कि अन्यत्र दिखाया जा चुका है कि उनका विषय तत्कालीन भारतीय समाज है—अतः इस दौर में भी उन्होंने भारतीय जीवन के अन्य पहलुओं को भी लिया है। प्रेमचन्द साहित्य का समग्र अध्ययन करने के लिए उसे समग्रता में सामने रखना जरूरी है।

‘हंस’ और प्रेमचन्द के साहित्य में नया मोड़

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के साथ ही प्रेमचन्द के साहित्य में नया मोड़ आता है। इसी से प्रभावित होकर प्रेमचन्द ने ‘हंस’ निकालना शुरू किया। ‘हंस’ के माध्यम से प्रेमचन्द ने नये प्रकार के राजनैतिक साहित्य का प्रचार किया। इसके साथ साथ उन्होंने सामाजिक जीवन संबंधी कहानियाँ भी लिखीं, जो ‘माधुरी’, ‘विशाल भारत’ आदि पत्रिकाओं में छपीं। इन सबका एक साथ अध्ययन जरूरी है। इस अध्याय में हमारा प्रयास है कि प्रेमचन्द के इस दौर के सर्जनात्मक साहित्य का ऐतिहासिक विश्लेषण किया जाय।

प्रेमचन्द ने मार्च, 1930 से ‘हंस’ निकालना शुरू किया। ‘हंस’ के प्रवेशक में ‘जुलूस’ नामक कहानी छपी। इस पर सविनय अवज्ञा आंदोलन का स्पष्ट प्रभाव है। इसके पहले ‘दो कदम’ (जानवरी 1930) और ‘धक्कार’ (फरवरी 1930) प्रकाशित हुई थीं। दोनों कहानियों में मध्यवर्गीय परिवेश है और वे सामाजिक संघर्षों की अभि-

व्यक्ति करती है। वास्तव में मानव हृदय एक बहुत ही जटिल प्रक्रिया से निर्मित होता है। सामाजिक जीवन में परिवर्तन होने और वैचारिक सघर्ष के दिनों में मनुष्य का बौद्धिक व्यक्तित्व कुछ खास बातों को सही और ग्राह्य मान लेता है और धारणाओं का प्रचार भी करता रहता है, लेकिन उसका भाव जगत फिर भी पुराने सस्कारों और मान्यताओं से संचालित होता रहता है। बुद्धि और भावना का यह अन्तराल मनुष्य के व्यक्तित्व को विभाजित कर देता है। 'दो कब्रों' कहानी में प्रेमचंद ने इस विभाजन को रेखांकित करने का प्रयास किया है जो तत्पुगीन सामाजिक कार्यकर्ताओं में था। वेश्या के प्रति बौद्धिक दृष्टि उस युग के एक वर्ग में समतावादी बन गयी थी, लेकिन भावात्मक रूप अब भी कैसे पुराणपथी है—इसे प्रेमचंद ने रामेन्द्र और सुलोचना की शादी करवाकर दिखाया है। समाज के तथाकथित उदारतावादी व्यक्तियों ने इसका बहिष्कार किया, कुलवधुओं ने घर आना-जाना छोड़ दिया और यहाँ तक कि कहानी के अंत में प्रेमचंद ने रामेन्द्र के उदारतावाद की सीमाएँ भी स्पष्ट कर दी। प्रेमचंद ने जिन कहानियों में सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने का सफल-असफल प्रयास दिखाया है, उन सबका अंत करण रहा है। पान कहानी में कुछ दिनों तक अपनी रसियत कायम करके मर जाते हैं। 'दो कब्रों' की वेश्या पुनी का यही हाल हुआ, 'धक्कार' की मानी की भी यही दशा हुई। इससे प्रकट है कि सामाजिक परिवर्तन का कार्य कितना कठिन और दारुण है।

'हम' के प्रवेशाव में 'जुलूस' नामक कहानी छपी। इसमें स्वाधीनता आंदोलन का उत्साह है। इसमें स्वाधीनता आंदोलन के नये दौर की शुरुआत की प्रक्रिया है। कुछ कांग्रेसी शहर में जुलूस निकालते हैं, शेष जनता दूर खड़ी तमाशा देखती रहती है। जुलूस निकलता है, पुलिस वाले जुलूस को पीटते हैं, फिर भी अहिंसा बनी रहती है। इस घटना से धीरे-धीरे सारे देश की जनता में एकात्मभाव का उदय होता है और सारी जनता बदला लेने के लिए उतारू हो जाती है। जुलूस लौट आता है क्योंकि 'उनकी विजय का सबसे उज्ज्वल चिह्न यह था कि उन्होंने जनता की सहानुभूति प्राप्त कर ली थी। वही लोग, जो पहले उन पर हसते थे, उनका धैर्य और साहस देखकर उनकी सहायता के लिए निकल पड़े थे। मनोवृत्ति का यह परिवर्तन ही हमारी असली विजय है।' ¹² इस जुलूस का नेता मुसलमान (इब्राहीम) है, जो शहीद होता है। लाखों की भीड़ उसके अंतिम सस्कार में शामिल होती है। पत्नी के व्यथन से दरोगा बीरबल सिंह का भी हृदय-परिवर्तन हो जाता है।

उस कहानी में पुलिस के प्रति आदर्शवादी और वैयक्तिक रूप अपनाया गया है। ¹³ ऐसे कारणों में 'पुलिसमैन' का निजी व्यक्तित्व ही सक्रिय नहीं होता—अगर होता भी है तो उसकी मात्रा बहुत कम होती है। उसमें सारत साम्राज्यवादी कार्यकर्ता ही क्रियाशील होता है।

प्रेमचंद ने एक तरफ तो स्वाधीनता आंदोलन को साहित्य की विषय-वस्तु बनाया, दूसरी तरफ सामाजिक कहानी ('सुभागी' मार्च, 1930) भी लिखी। प्रेमचंद का दिमाग एक साथ ही दो स्तरों पर सक्रिय था। एक तरफ तो वे साम्राज्यवाद विरोधी सघर्ष देख रहे थे, कांग्रेस की गतिविधियों पर नजर रख रहे थे और 'आदर्श'

भावों से भरपूर साहित्य लिख रहे थे। दूसरी तरफ वह भारतीय समाज के वास्तविक रूप की बलक पाना चाहते थे। इस कहानी में प्रमचंद ने देहात के जीवन का पुनर्सृजन किया है।

प्रमचंद अपनी कहानी की समस्या को जब पटभूमि निर्मित करते हैं तो उनके सामने सिर्फ वह समस्या ही नहीं होती बल्कि उससे लिपटा हुआ सारा समाज समाज का अंतर्विरोध चला आता है। भारत में लड़के और लड़की के प्रति माता पिता के व्यवहार में अंतर पाया जाता है। लड़के प्रिय होते हैं लड़कियाँ अभागिनी मानी जाती हैं। जीवन का यथाय इम धारणा को कई बार तोड़ भी देता है। लड़कियाँ प्रिय भी हो जाती हैं। सुभागी में इसी तरह की लड़की की कहानी है। और लोगो के यहाँ चाहे जो होता है। तुलसी महतो अपनी लड़की सुभागी को लड़के रामू से दो बार कम प्यार न करते थे।⁴ फिर सुभागी के गुणों का वर्णन करते हुए प्रमचंद ने बताया कि चार साल की उम्र में वह विधवा हो गयी। कहानी की मुख्य वस्तु विधवा की स्थिति नहीं है बल्कि वर्तमान समाज में मारी की स्थिति है।

फिर जवान सुभागी की हालत भाई भावज और माता पिता के साथ सबंधों का ताना बाना बुना गया है। अंत में रामू और सुभागी में पटती नहीं। बटवारा होना है। इसका बाद माता पिता की मृत्यु होती है। कैसे सुभागी परिस्थितियों से सघर्ष करती है कर्जा उतारती है। फिर गांव के मुखिया जाति-बध्न तोड़कर उसे अपने बेटे की बहू बनाते हैं। इस पूरी कहानी में राष्ट्रीय आंदोलन का कहीं आभास नहीं मिलता। इस कहानी से भारतीय देहात जीवन की जानकारी हम मिलती है और हमारा बोध पक्ष बढ़ता है। इसमें चरित्र के परिवर्तन पर बल नहीं है बल्कि हमारे समाज की प्रकृति पर बल है।

स्वाधीनता आंदोलन का उमर (1930-31)

हम के माध्यम से जो कहानियाँ आई उनमें दो तरह की कहानियाँ मुख्य हैं। एक तरफ उनकी कहानियों की विषयवस्तु स्वाधीनता-आंदोलन की गतिविधियाँ, अंतर्विरोध और प्रकृति है। दूसरी तरफ किसान जीवन-संबंधी कहानियाँ हैं। किसान जीवन संबंधी कहानियों में स्वाधीनता आंदोलन का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है। समर यात्रा (अप्रैल 1930) में एक परंपरागत समाज का आधुनिक राजनीतिक आंदोलन से संबंधित द्वंद्व तनाव और सम्मिलन को दिखाया गया है। इस कहानी में आदर्श और यथाय का ऐसा मेल है कि इसे आदर्शों मुख यथायवाद की उत्तम रचना कहा जा सकता है। यह कहानी लागू डाट की परंपरा की है। इसमें देहातों में स्वराज्य आंदोलन के प्रचार की प्रक्रिया है। पचहत्तर साल की गरीब बुढ़िया नोहरी इस कहानी की मुख्य पात्र है। प्रमचंद ने दिखाया है कि आज सत्याग्रहियों का जत्या गांव में आन वाला है। लोगो में उमंग उत्साह और त्याग के पवित्र भाव भरे हुए हैं। इस उमंग के मूल में यह धारणा है कि अब जुल्म खत्म होगा और अत्याचार बंद होंगे। स्वराज्य सब लोगो की देवा है। लेकिन प्रमचंद ने अदभुत सरलता से दिखाया है (और यही उनका यथायवाद है) कि इस जत्या के स्वागत गांव के सबसे बड़े किसान चौधरी कोदई के घर में हो रहा है। जत्या का वर्णन है

‘दो दो आदमियों की कतारें थीं। हर एक की देह पर खदर का कुर्ता, सिर पर गांधी टोपी, बगल में थैला लटकता हुआ, दोनों हाथ खाली, मानी स्वराज्य का आलिंगन करने को तैयार हो।’⁵

इस वर्णन से स्पष्ट है कि यह शिक्षित वर्ग ही है, जो आंदोलन के प्रचार-प्रसार में लगा हुआ है। गाँव की जनता भक्ति भाव से इन्हें अपना उद्धारक समझती है हमसफर नहीं। एक दूरी दोनों के बीच बनी हुई है फिर भी एकता की जमीन तैयार हो रही है। कहानी में स्वराज्य की उमंग और अहिंसा के साथ पुलिस का आतंक भी मौजूद है—फिर भी किसानों की भागीदारी बढ रही है। इस वर्णन में प्रेमचंद की आकांक्षा भी व्यक्त हुई है कि किसान आंदोलन में सक्रिय हिस्सा लें।

वास्तव में प्रेमचंद न जिन आदर्श चरित्रों की सृष्टि की है व मात्र उनकी निजी दृष्टि और विवेक के ही परिणाम नहीं हैं, बल्कि हमारा स्वाधीनता आंदोलन (जिसने इन चरित्रों को पैदा किया है) ही कुछ आध्यात्मिक और आदर्शवादी मूल्यों की सहायता से लड़ा जा रहा है। प्रेमचंद का निजी विवेक इस तथ्य में है कि सभ्यता में कम होते हुए भी उन्होंने अपनी रचना दृष्टि ऐसे ‘आदर्श’ चरित्रों पर ही कन्द्रित की। ‘समरयात्रा’ की मोहरी या ‘पत्नी से पति’ का अधा भिखारी (जिसने भिक्षा में मिला हुआ मिक्का कांग्रेस के चंदे में दिया) आदि इसी तरह के पात्र हैं।

प्रेमचंद ने इन कहानियों में साम्राज्यवादियों द्वारा प्रचारित कुछ मिथकों को तोड़ा (जिसे मूलतः स्वाधीनता आन्दोलन ने तोड़ा था)। जैसे कि किसान बेचारा क्या कर सकता है, सरकार शक्तिशाली है और निहत्थी जनता कमजोर है, जो राजा है, वह राजा है, जो परजा है वह परजा है, भला परजा कही राजा हो सकती है। आदर्शवादी साहित्य और चरित्रों ने इन मिथकों को तोड़ने में मदद की। वास्तव में प्रेमचंद की कमी इस बात में नहीं है कि उन्होंने आदर्शवादी चरित्रों को गढ़ा, बल्कि इसमें है कि उन्होंने इनके महत्त्व और इनकी शक्ति को अतिरंजित रूप में देखा। आदर्शवादी पात्र भीतर से खोखला होता है और उसके अधःपतन की मभावना ज्यादा होती है। इस तथ्य को प्रेमचंद ने ‘त्यागी का प्रेम’ कहानी में दिखाया है। विनय, चन्द्रधर, अमरकांत का आत्मसमर्पण इन पात्रों की आदर्शवादिता में निहित है।

कांग्रेस ने राष्ट्रीय आंदोलन के साथ शराब-बन्दी आंदोलन भी चलाया। इस पृष्ठभूमि पर भी प्रेमचंद ने ‘शराब की दुकान’, ‘मैकू’ जैसी कहानियाँ लिखीं। प्रेमचंद के साहित्य में स्वराज्य की स्पष्ट धारणा है। उन्होंने साफ लिखा “रूपमणि न कहा—अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूँगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। अंग्रेजी महाजनो की धनलोभुपता और शिक्षितों का स्वहित ही आज हम पीछे डाल रहा है। जिन बुगड़ियों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों की हथेली पर लिए हुए हैं, उन्हीं बुराईयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढ़ाएगी कि वे विदेशी नहीं, स्वदेशी हैं। कम-से-कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जाए।”⁶

1931 में जब आंदोलन बढ़ा, तब सरकारी दमन भी तेज होता गया। इसके

साथ ही कांग्रेस की कार्यपद्धति के प्रति भी बुद्धिजीवियों में आलोचनात्मक रूप बढ़ने लगा। फरवरी 1931 में प्रेमचन्द की कहानी 'जेल' छपी। इसमें सरकारी दमन का विस्तृत वर्णन है। सारे भारत में—शहर हो या गाँव—सभी जगह पुलिस अत्याचार बढ़े और सामान्य जनता जेलों में जाने लगी। यही नहीं, बल्कि नारियों ने भी जेल-यात्राएँ की। प्रेमचन्द ने इस परिवर्तन को कहानी में उद्घाटित किया। इस वर्ष प्रेमचन्द ने स्वदेशी के प्रचार-संबंधी कहानियाँ भी लिखी। 'होली का उपहार' और 'आखिरी तोहफा' में स्वदेशी का प्रचार है।

कांग्रेस ने विदेशी वस्तुओं की दुकान पर पिकेटिंग का कार्य करना शुरू किया। दुकानदारों में कुछ गरीब लोग थे, अतः वे कांग्रेस की मुहर तोड़ दिया करते थे। इसे रोकने के लिए कांग्रेस ने ताबान वसूल करना शुरू किया। इससे उत्पन्न प्रश्न और कुछ ऐतिहासिक शकाए ताबान (सितम्बर 1931) कहानी में है। छकोडीलाल नामक दुकानदार पर 101 रुपये का दंड लग गया। उसने विनती की। कांग्रेस प्रधान ने एक नहीं सुनी। इसपर उसकी पत्नी ने कहा—“ ‘कांग्रेस हमारे साथ सत्याग्रह करती है, तो हम भी उसके साथ सत्याग्रह करके दिखा दें। मैं इस मरी हुई दशा में भी कांग्रेस को तोड़ डालूंगी। जो अभी इतने निर्दयी हैं, वह कुछ अधिकार पा जाने पर बड़ा न्याय करेंगे। ” इस शका को प्रेमचन्द ने 1931 में तो आशावाद से मिटा दिया, लेकिन आगे चलकर यह आशका बढ़ती चली गयी।

प्रेमचन्द ने स्वाधीनता आंदोलन की पृष्ठभूमि में सभ्यता की समीक्षा भी की है। प्रेमचन्द ने जगह-जगह लिखा है कि पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से हमारे शिक्षित समुदाय में नैतिक दुर्बलता और स्वार्थ-लिप्सा के भाव बनप गये हैं। 'उन्माद' (जनवरी, 1931) के विश्लेषण से उनके मनोजगत् का पता चल सकता है। मनहर शिक्षित युवक है। वह अपनी पत्नी वागेश्वरी के त्याग और तपस्या में पड़ता है। विलासित जाता है। वहाँ जाकर वह उसे भूल जाता है और अग्रेज युवती जेनी में प्यार करने लगता है। प्रेमचन्द ने मनहर की मन स्थिति को यों चित्रित किया है :

"वागेश्वरी उसके विद्याभ्यास में सहायक हो सकती थी, पर उसे अधिकार और पद की ऊँचाइयों पर न पहुँचा सकती थी। उसके त्याग और सेवा का महत्त्व भी अब मनहर की निगाहों में कम होता जाता था। वागेश्वरी अब उसे एक धर्म-सी वस्तु मानूँगी होती थी, क्योंकि उसकी भौतिक दृष्टि में हर एक वस्तु का मूल्य उससे होने वाले लाभ पर ही अवलम्बित था। अपना पूर्ण जीवन अब उसे हास्यास्पद जान पड़ता था। चंचल, हसमुख, विनोदिनी अग्रेज युवतियों के सामने वागेश्वरी एक हल्की, तुच्छ-सी वस्तु जान पड़ती—इस विद्युत् प्रकाश में वह दीपक अब मलिन पड़ गया था। ...”

वातें ये सही हो सकती हैं, लेकिन इनको जिस तरह प्रस्तुत किया गया है, वह एक आदर्श भारतीय पारिवारिक व्यक्ति का दिमाग ही हो सकता है। इस वर्णन में अन्तर्निहित व्यंग्य भाव उबलता रहता है। वास्तव में प्रेमचन्द को 'परिवार' नामक सामाजिक मस्या से विशेष मोह था और वे उसे समाज की एक आवश्यक इकाई मानते थे। इस मस्या का टूटना प्रेमचन्द समाज के लिए हानिकारक समझते थे। प्रेमचन्द

ने यह भी समझ लिया था कि पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त युवक-युवतियाँ इस सस्या से विमुख हो रहे हैं। वे सयुक्त परिवार के समर्थक थे। हालाँकि हमारे परिवारों में चल रहे भयंकर अत्याचारों से वे बाकिफ थे; फिर भी इस सस्या में ही उनको कुछ सभावनाएँ दिखाई देती थी। व्यक्ति के विक्रम के अवसर दिखाई देते थे, जिसे वे किसी भी कीमत पर छोड़ना नहीं चाहते थे। इसके मूल में सभवतः उनका अपना सफल पारिवारिक जीवन रहा हो। प्रेमचन्द ने अपने अनुभव को आदर्शकृत किया और उसे पर्याप्त महत्त्व दिया।

वे ठाट-बाट और फंशनेबुल लोगों के विरोधी थे और सादगी के कायल थे। जिसे उन्होंने जीवन का मानदण्ड बना रखा था और कई बार निर्णायक की हद तक उसे महत्त्व देते थे। जो व्यक्ति फंशनेबुल है, वह मूलतः स्वार्थी है, भौतिक सुख-सुविधाओं पर जान देता है, अतः आध्यात्मिक भावात्मक मूल्यों से शून्य है, नयी सभ्यता की चमक-दमक में फँस गया है, अतः अल्पबुद्धि है। सबसे बड़ी चीज यह है कि उसमें देशप्रेम का अभाव है। अगर ऐसे व्यक्ति में कोई गुण बचा रह गया है तो इस 'फंशनेबुल' पन के बावजूद रह गया है। अभी भी उसमें मानवीयता यानी आध्यात्मिकता यानी भारतीयता की चिनगारी बची रह गयी है, जिसे विकसित करके प्रेमचन्द उस व्यक्ति का परिष्कार करना चाहते हैं। उनकी आत्मा यह मान ही नहीं सकती थी कि साफ-सुथरे ढग से कपड़े पहनने वाला व्यक्ति देशप्रेमी, मानवीय और आत्मिक गुणों से लैस हो सकता है।

प्रेरणा (मई, 1931) में यूरोप और भारत की तुलना करते हुए भारतीय जीवन की प्रशंसा की है। यूरोप के इस विश्लेषण के पीछे निश्चित रूप से पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि प्रेमचन्द पुनरुत्थानवादी हैं, बल्कि यह कि समकालीन विश्व की जो व्याख्या पुनरुत्थानवादियों ने की थी, उस व्याख्या के एक भाग से—पश्चिम विरोधी भाग से प्रेमचन्द सहमत थे। इसका एक कारण हमारा स्वाधीनता आंदोलन भी हो सकता है। उस समय यह ऐतिहासिक ज़रूरत थी कि एकाग्रता की हद तक जाकर भी उन शक्तियों को प्रोत्साहित किया जाये, जो पश्चिम का—यानी अंग्रेजों का विरोध करती हों। साथ ही हमारे देश, इतिहास, समाज और संस्कृति की महिमा गायी जाये। इसी से हमारे शिक्षित वर्ग में व्याप्त हीन भावना को खत्म करके उनमें आत्मसम्मान की भावना पैदा की जा सकती है। 'हम आपसे किसी भी तरह से हठे नहीं हैं'—इससे यह विचार-प्रणाली शुरू हुई और इस तान पर टूटी कि तुम हर तरह से हमसे हठे हो, पतित हो। तुम्हारा मुँह नहीं है कि हमारी आलोचना करो।

इन कहानियों के अलावा 'लाछन', 'दुपौरशंख', 'आखिरी हीला', 'दिमास्ट्रेशन', 'प्रेम का उदय', 'शाप', 'सीत' आदि कहानियाँ प्रेमचन्द ने लिखीं। इनमें सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं को प्रस्तुत किया गया है।

किसान (1930-31)

इस दौर में प्रेमचन्द ने किसानों के जीवन पर स्वतंत्र साहित्य लिखना शुरू किया। 'समरपात्रा' में किसानों के जीवन में राजनीति के प्रवेश का वर्णन है। बाबू

की कहानियो में ऐसा नहीं है। प्रेमचन्द ने 'पूस की रात' (मई, 1930) में किसान की वास्तविक हालत की नाटकीय अभिव्यक्ति की है। इसकी पृष्ठभूमि में महामंदी की भूमिका है। किसान विशेष रूप से छोटे किसानों की तबाही की दास्तान इसमें है। किसान (हल्कू) बर्जदार है। उसने मजदूरी करके तीन रुपये कमाये हैं ताकि कम्बल खरादा जा सके जिससे पूस की रात में खेत की रखवाली कर सके। उन रुपया को महाजन ले गया। हल्कू की पीड़ा (सरदी के कारण) और कुत्ते से उसका आत्मीय सम्बन्धों का मार्मिकता इसमें है। पकी पकायी खड़ी फसल को पशु चर रहे हैं जबरा भौंक रहा है हल्कू अपनी हानि महसूस कर रहा है—लेकिन जान लवा ठंड ऐसी है कि उसकी हिम्मत नहीं पड़ती। खेती उजड़ गयी।

“मुन्नी ने चिंतित होकर कहा—अब मजदूरी करके मालगुजारी भरनी पड़गी।

हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा—रात को ठंड में यहाँ सोना तो न पड़गा।”

इस तरह हल्कू किसान में मजदूर बन जाता है। प्रेमचन्द की नजर में स्वयं हल्कू की नजर में और ग्रामीण समाज की नजर में उसका पतन हो जाता है। प्रेमचन्द ने दिखाया है कि अपने पतन पर भी हल्कू प्रसन्न है। एक टजड़ी के नायक की हसी हल्कू की हँसी है जो हिला देती है। इसके अलावा प्रेमचन्द ने दिखाया है कि हल्कू औद्योगिक मजदूर नहीं बना है बल्कि खेत मजदूर बन गया है। उसकी स्थिति में परिवर्तन हो गया है पर चेतना वही है।

‘मुजान भगत’ और ‘पूस की रात’ की परम्परा में ही उन्होंने ‘स्वामिनी’ (सितम्बर, 1931) कहानी लिखी है। भारतीय समुक्त परिवार में मुखिया की स्थिति के इर्द गिर्द कहानी घूमती है। रामदुलारी और रामदुलारी दा सगी बहनें हैं। दाना का विवाह बिरजू और मथुरा दोनों भाइयों से हो गया। यह भारतीय किसान परिवार का आम रिवाज है। बिरजू बीमार पड़ा और चल बसा। अब शिवदास ने बिरजू की पत्नी रामदुलारी को घर की स्वामिनी बना दिया। मुखिया बनते ही रामदुलारी में कैसे कमठता, कृपणता अनुशासनबद्धता आती है—इसका विस्तृत वर्णन कहानी में है। उसकी इही विशेषताओं के कारण घर का मुखिया ही सबसे ज्यादा चिंतित रहता है। थोड़े दिनों बाद मथुरा अपनी पत्नी को लेकर मजदूरी करने चला जाता है। उनके जाने के बाद कई दिन तक तो दुलारी परेशान रही। और इस प्रक्रिया में अकेली स्वामिनी की मनोव्यथा को प्रेमचन्द ने मार्मिक आँखों से देखा है और हिन्दी में पहली बार किसान के अकेलपन की पीड़ा को वाणी दी है। फिर जीवन चल पड़ता है। हलवाहा जोख और दुलारी में आत्मीय सम्बन्ध विकसित होते हैं। प्रेमचन्द ने इस सम्बन्ध का वर्णन इस तरह से किया है जिससे लगता है कि दोनों ने शादी कर ली। किसानों में विधवा विवाह की प्रथा है। दुलारी ने स्वामित्व के मोह में दूसरा घर नहीं किया, परन्तु जब घरवाला नहीं साथ छोड़ दिया, तब वह शादी क्यों न कर लेती।

किसानों से प्रेम करने का तात्पर्य है उनके साथ उनके बेलों से प्रेम खेती

और खेती के औजारों से प्रेम। अतः प्रेमचन्द ने किसान जीवन का वर्णन करने में पशु-जगत् को भी समेट लिया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। 'दो बैलों की कथा' (अक्टूबर, 1931) के हीरा-मोती प्रेमचन्द के अमर पानों में से हैं। किसान की जान उसके बैलों में होती है। इस कहानी में प्रेमचन्द ने किसान का जीवन, उसकी मनोवृत्ति, बैलों का मनोविज्ञान आदि को अभिव्यक्त किया है। एक तरह से पशुओं को मानवीय रूप में उपस्थित किया है।

'सद्गति' (अक्टूबर, 1931) में अछूतों की स्थिति के प्रति मानवीय सहानुभूति प्रकट की गयी है और टकेपथी ब्रह्मणों की अमानवीय प्रकृति को स्पष्ट किया गया है। यह कहानी शहरी शिक्षित वर्ग को सम्बोधित की गयी है, अतः इसमें ऐसे विवरण और निर्देश हैं, जो देहात में सामान्य चेतना के अग वन चुके हैं। पंडित घासीराम के यहाँ दुखी चमार मुहूर्त पूछने जाता है। पंडितजी उससे बेगार लेते हैं और खाना भी नहीं देते। फलतः वह मर जाता है। इस कहानी में प्रेमचन्द ने अतिरजना कर दी है। वह पश्चिम से भारत की जब तुलना करत है तो भारत के आतिथ्य-सत्कार का जिक्र करते हैं और ऐसा लगता है मानो खाना खिलाने का कसब्य सभी भारतीय निभाते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में चूँकि टकेपथिया की भत्तना करनी थी, अतः एक चमार को भूख से मरवा दिया।

गबन

यह उपन्यास स्त्रिया की आभूषणप्रियता की मनोवृत्ति को ध्यान में रखकर शुरू किया गया है। यह समस्या नौकरीपेशा मध्यवर्ग में हाती है। इसके मुख्य पात्र कायस्थ परिवार के हैं, जिनकी आय 50/- रुपये या 30/- रुपये मासिक होती है। प्रेमचन्द हिन्दुस्तान में व्याप्त इस आभूषणप्रियता से बहुत परेशान थे। इस विषय-वस्तु पर उन्होंने कुछ कहानियाँ भी लिखी थीं। 'गबन' में उन्होंने बार-बार लिखा

'गहना का मरज न जाने इस दरिद्र देश में कैसे फैल गया। जिन लोगों को भोजन का ठिकाना नहीं, वे भी गहना के पीछे प्राण देते हैं। हर साल अरबों रुपये केवल सोना-चाँदी खरीदने में व्यय हो जाते हैं। सत्तार के और किसी देश में इन धातुओं की इतनी खपत नहीं। तो बात क्या है, उन्नत देशों में धन व्यापार में लगता है, जिनमें लोगों की परवरिश होती है, और धन बढ़ता है। यहाँ धन श्रृंगार में खर्च होता है उसमें उन्नति और उपचार की जो महान शक्तियाँ हैं, उन दोनों का ही अन्त हो जाता है। वम यही समझ लो कि जिस देश के लोग जितने ही मूर्ख होंगे, वहाँ जेवरों का प्रचार भी उतना ही अधिक होगा।' 10

यही नहीं, आगे उन्होंने लिखा है कि आभूषणों की यह गुलामी पराधीनता से भी कहीं बढ़कर है। ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द ने इस उपन्यास की शुरुआत एक सामाजिक उपन्यास के रूप में की, (क्योंकि तब तक सविनय अवज्ञा आन्दोलन चला नहीं था) लेकिन आगे चलकर उपन्यास राजनैतिक होता चला गया। विषयवस्तु का यह परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के समानान्तर ही हुआ। अमृतराय ने ठीक ही लिखा है—'एक अच्छे शिल्पी के सघे हुए हाथों का काम है, इसलिए जोड़ का

पता नहीं चलता, मगर गौर से देखो तो 'गबन' के 'पूर्वाद्ध' और 'उत्तराद्ध' में जोड़ है। दोनों का रंग, दोनों की हवा, दोनों की वू-बास—सब कुछ अलग है। रमानाथ के इलाहावाद से भागकर कलकत्ते पहुँचते ही दुनिया बदल जाती है। सामाजिक रूढ़ियों की काँई और गर्द और धुधलके में लिपटे हुए मदों और ओरतों की टोली पीछे छूट जाती है और आजादी की सड़ाई में अपन दो होनहार बेटों की भेंट चढ़ा देन वाले देवीदीन का तेजस्वी चेहरा उभरकर सामने आ जाता है, सत्य और असत्य, न्याय और अन्याय के सघर्ष में आत्मा के नये शिखर दिखाई पड़ते हैं, 'सामाजिक उपन्यास राजनैतिक उपन्यास बन जाता है।' 11

इस उपन्यास का नायक रमानाथ है। यह भावुक परन्तु अविचारशील युवक है। प्रेमचन्द ने अब तक जिन युवकों को चित्रित किया है, व अधिकतर राजनीतिक कार्यकर्ता रह हैं। जैसे विनय और चक्रधर। इस बार गबन का शिक्षित युवक अराजनीतिक है। लेकिन भजे की बात यह है कि इन सब युवकों के भाव-जगत् में अद्भुत रूप से समानताएँ मौजूद हैं। अराजनीतिक युवक समाज में कितना भयानक हो सकता है, रमानाथ इसका उदाहरण है। वह शिक्षित निम्न मध्य वर्ग का व्यक्ति है। जीवन का कोई ऊँचा आदर्श उसके पास नहीं है। भोग-विलास की इच्छा मन में दबाए हुए है, जो पूरी नहीं होती। उसे पूरा करने का प्रयास करता रहता है। भीरुता और सिद्धान्तहीनता उसके जीवन में मुख्य भूमिका निभाती है, जिसके मूल में स्वायत्तता है। ऐसे व्यक्ति में आत्मविश्वास के भाव नहीं होते। सामाजिक जिम्मेवारी के बजाय निजी सुख दुख से वह संचालित होता है। यह व्यक्ति पूरी तरह आत्मों से संचालित होता है। उसके कार्य सगत् मूल्यों के परिणाम नहीं होते, बल्कि आत्म-परक होते हैं। लेकिन ऐसे व्यक्ति पाप और अन्याय से भी डरते हैं। उसे जितना डर जेल से लगता है उतना ही ईश्वर से भी। इसी कारण वह सरकारी गवाह बनने के लिए तभी तैयार होता है, जब उसे यह विश्वास दिलाया जाता है कि सरकारी मुकदमा सच्चा है। प्रेमचन्द ने रमा के चरित्र के इस अन्तर्विरोध को पकड़ा है और उसके व्यक्तित्व के इन दोनों पहलुओं का बराबर ध्यान रखा है।

रमानाथ उधार गहने लाता है और सरकारी रकम खर्च कर डालता है और मुकदमे के डर से कलकत्ता भाग जाता है। रास्ते में उसे देवीदीन खटोक मिलता है, जो उसकी सहायता करता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों के केन्द्र में अधिकतर खलपात्र रहे हैं। 'प्रेमाथम' में ज्ञानशंकर और 'रंगभूमि' में ज्ञान सेवक केन्द्र में हैं। लेकिन 'गबन' के केन्द्र में पहली बार एक सकारात्मक व्यक्तित्व है और वह है—देवीदीन खटोक। उसकी मानवीयता और जिन्दादिली उसकी सघर्षशील प्रकृति की देन है। उपन्यास में देवीदीन के आगमन के साथ ही उपन्यास की विषयवस्तु में राजनीति का प्रवेश हो जाता है। वह स्वदेशी का प्रेमी है। विदेशी वस्तुओं का उपयोग नहीं करता। यही नहीं, उसके मन में स्वराज्य की बड़ी ही स्पष्ट कल्पना है। देश के नेताओं से एक बार वह पूछता है

"...साहब, सच बताओ जब तुम सुराज का नाम लेते हो तो उसका कौन सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है? तुम भी बड़ी बड़ी तलब लोगे, तुम भी

अंग्रेजी की तरह बगलो में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाट बनाये घूमोगे; इस मुराज से देश का क्या कल्याण होगा ? तुम्हारी और तुम्हारे भाई-बंदों की जिन्दगी भले आराम और ठाट से गुजरे, पर देश का तो कोई भला न होगा। बस, बगलें झाँकने लगे।" 12

हालांकि देवीदीन के आते ही उपन्यास में राजनीति का प्रवेश हो गया था, फिर भी केन्द्र में समाज ही था। राजनीति उपन्यास के केन्द्र में पृष्ठ 214 से आती है, जब रमानाय को मुखबिर बनाने की योजना मोची जाती है। इसके बाद उपन्यास सारत स्वाधीनता आंदोलन के दमन का दृश्य देने लगा और आम जनता के त्याग, साहम और बलिदान के भावों को व्यक्त करने लगा। प्रेमचन्द ने अप्रत्यक्ष रूप से बताया है कि 15 कैदी स्वाधीनता आंदोलन के सिपाही हैं, उनके विरुद्ध पुलिस ने ढकंती का झूठा मुकदमा तैयार किया है। एक जगह दारोगा जालपा के बारे में कहता है "मालूम होता है, स्वराज्य वालों ने उस औरत को मिला लिया है। यह सब एक ही घेतान है।" 13 "इसी वाक्य से लगता है कि गिरफ्तार व्यक्तियों का सबध स्वराज्य वाला से है। फिर प्रेमचन्द ने उनका वर्णन भी जिस पावन ध्वजा में किया है, उससे भी इसकी पुष्टि होती है।" 14

प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में ब्रिटिश साम्राज्य की पुलिस के आतंक का भयानक वर्णन किया है। एक बार धर्मवीर रमानाय जालपा के समझाने से बयान बदलने पर उतारू हो जाता है। इस पर पुलिस डिट्टी कहता है :

'तोम पुलिस का धोखा देना दिल्लगी समझता है। अभी दो गवाह देकर साबित कर सकता है कि तुम राजद्रोह का बात कर रहा था। बस, चला जायेगा सात साल के लिए। चक्की पीसते-पीसते हाथ में घट्टा पड़ जायेगा। यह चिकना-चिकना गाल नहीं रहेगा।' 15

उपन्यास का अंत आशावादी रहा। जालपा के सदुपदेश और साहस से रमानाय ने बयान बदल दिया, जिससे झूठा मुकदमा खारिज हो गया। जोहरा (वेश्या) की मृत्यु हो गयी। वकील साहब की पत्नी रतन भी मर गयी। शेष प्रायः देहात में चले आये और खेती करने लगे। देवीदीन भी साथ में आ गया। इस तरह उपन्यास के अंत में प्रेमचन्द ने शहर बनाम गाँव के द्वन्द्व को सामने रखा और दिखाया कि चैन की जिन्दगी निरंक गाँव में ही बितायी जा सकती है।

कर्मभूमि (1932 ई०)

इस उपन्यास की शुरुआत वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की आलोचना से होती है। "....वही हृदयहीन दफतरी शासन, जो अन्य विभागों में है, हमारे शिक्षालयों में भी है। चाहे जहाँ से लाओ, कर्ज लो, गहने गिरवी रखो, लोटा-थाली बेचो, चोरी करो, मगर फीस जरूर दो, नहीं दूनी फीस देनी पड़ेगी, या नाम कट जायेगा। जमीन और जायदाद के कर वसूल करने में भी कुछ रिआयत की जाती है, हमारे शिक्षालयों में नर्मी को घुसने नहीं दिया जाता। वहाँ स्थायी रूप से मार्शल-ला का व्यवहार होता है।" यही हमारी पश्चिमी शिक्षा का आदर्श है, जिसकी तारीफों के पुल बांधे जाते

है। यदि ऐसे शिक्षालया से पैस पर जान देने वाले पैस के लिए गरीबा का गला काटन वाल पैस के लिए अपनी आत्मा को दब दन वाल छात्र निकलते हैं ता आश्चर्य क्या ? 16

शुरुआत से ही स्पष्ट है कि प्रमचंद अपने जमाने के शिक्षित बग की उत्पत्ति विश्वास और प्रकृति का रेखांकित करना चाहते हैं। यदि बुद्धिजीवी बग में धन स्त्रानुपता और स्वायत्तियता है तो उसका कारण हमारी इही सामाजिक संस्थाओं में होना चाहिये। अमरकांत के पिता लाला समरकांत महाजन थे। अमरकांत आदर्शवादी युवक है अतः उसके पिता से वचारिक और राजनीतिक मतभेद है। उसकी माँ का देहांत हो गया पिता ने दूसरी शादी की और विमाता से अमरकांत की पटी नहीं। सुखदा नामक धनवान लड़की से उसकी शादी हुई और उसमें विलासिता के भाव बनने लगे।

अमरकांत की पारिवारिक पृष्ठभूमि का वर्णन करने के बाद प्रमचंद ने कुछ पात्रों को देहांत भेजा और वहाँ की हालत का वर्णन सुनाया। रास्ते में अमर सलीम आदि ने देखा कि दो तीन गोरे सिपाहियाँ ने एक भारतीय स्त्री की इज्जत लूट ली। इसपर इन युवकों ने गोरो की खूब पिटाई की। प्रमचंद ने यह उपयास स्वाधीनता आंदोलन के आशावादी दौर में लिखा था जब छोटी मोटी घटना से सारे देश में हलचल मच जाया करती थी। एक स्त्री के बर्ताव का मामला प्रमचंद ने राष्ट्रीय अपमान का मामला बना दिया। उपयास में मुन्नी का अपमान भारतीय नारी का अपमान है और यह भारतीय नारी भारत माता की प्रतीक बन जाती है और अंग्रेज सिपाही अंग्रेजी साम्राज्यवाद के प्रतीक बन जाते हैं।

इस उपयास में तीन तरह की कथाएँ चलती हैं। एक आयाम अमरकांत का पारिवारिक जीवन है जिसमें सुखदा समरकांत नन्ना आदि के आपसी संबंध हैं। दूसरा आयाम अमरकांत का सकीना से प्रेम संबंध है। इसमें उस युग के भावमय स्तर का पता चलता है। परंपरागत समाज के विरुद्ध व्यक्ति का व्यक्तिगत विद्रोह इस प्रसंग में उद्घाटित होता है। इसके अतिरिक्त कथा का तीसरा आयाम राजनीतिक है। इसमें अमरकांत एक राजनीतिक कार्यकर्ता है कांग्रेस का भ्रमर है। सलीम डा० शांतिकुमार मुन्नी आदि का जीवन है। इसीमें लगान व दी आंदोलन का प्रकरण है। कथा के इन तीनों आयामों के केन्द्र में शिक्षित युवक अमरकांत का जीवन है।

अमरकांत ने अपने पिता से विद्रोह किया। वह औसत पारिवारिक व्यक्ति का जीवन नहीं जीना चाहता था। पिता ने उस घर में निकाल दिया तब वह त्यागी बन गया। प्रमचंद ने उसके इस परिवर्तन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि

त्यागी दो प्रकार के होते हैं। एक वह जो त्याग में आनंद मानते हैं जिनकी आत्मा को त्याग में सत्त्व और पूणता का अनुभव होता है जिनके त्याग में उदारता और सौजन्य है। दूसरे वह जो दिलजले त्यागी होते हैं जिनका त्याग अपनी परिस्थितियों से विद्रोह मात्र है अपने धायपथ पर चलने का तावतन संसार से लते हैं जो खुद जलते हैं इसलिए दूसरों को भी जलाते हैं। अमर इसी तरह का त्यागी था। 17

दरअसल वह भोगी था, परन्तु सम्मानपूर्वक, आदर्शवादी तरीके से भोग करना चाहता था। उसकी सामाजिक आलाचना में भी उसकी यह स्थिति स्पष्ट होती रहती है।

उपन्यास का पहला भाग क्या की पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। अमरकात-सक्तीना के प्रेम का राज खलता है, बुढ़िया पठानिन उसे डाँटती है और विद्रोह तथा शांति का गायक अमरकात भाग खड़ा होता है। इस भाग के सारे क्रियाकलाप शहर में होते हैं, जहाँ धन का शासन है। फलतः ईश्या, द्वेष घृणा और स्वार्थ का यहाँ राज्य है।

दूसरा भाग एक गाँव के प्राकृतिक वर्णन से शुरू होता है। यहाँ सरलता, सेवा और खुलापन का साम्राज्य है। यहाँ अच्छे वसते हैं। मुन्नी और अमरकात को भी इसी जगह लाया गया है। यह पूरा भाग सामाजिक है। अमर यहाँ समाज सुधारक और सामाजिक कार्यकर्ता बना हुआ है, मुन्नी उसे प्रेरणा और सहायता देती है। यहाँ वह गो-मास भक्षण को बन्द करवाता है और शराबबन्दी करवाता है। गाँव की हालत पर टिप्पणी करते हुए अमरकात कहता है

"वह ग्रामवासियों की सरलता और सहृदयता, प्रेम और सन्तोष से मुग्ध हो गया है। ऐसे सीधे-सादे, निष्कपट मनुष्यों पर आये दिन जो अत्याचार होते रहते हैं, उन्हें देखकर उसका खून खौल उठता है। जिस शांति की आशा उसे देहाती जीवन की ओर धींच लायी थी, उसका यहाँ नाम भी न था। थोर अन्याय का राज्य था और अमर की आत्मा इस राज्य के विरुद्ध झड़ा उठाये फिरती थी।" 18

तीसरे भाग में वह फिर शहर आता है। इसमें लाला समरकात का पारिवारिक जीवन है, जो एकदम टूट रहा है। उनका परिवार जीवन मूल्यों के संघर्ष का केन्द्र बना हुआ है। अमर के चले जान के बाद लाला समरकात की धर्मबुद्धि जागृत होगी है। मन्दिरों में क्याएँ होने लगती हैं। यहाँ फिर अच्छे के मन्दिर-प्रवेश की समस्या उठ खड़ी होती है। अच्छे और सबर्णों का संघर्ष हुआ। पुलिन ने सबर्णों की ओर सेवाश्रम के लोगो ने अच्छे की मदद की।

द्वितीय सलीम सरकारी नौकर बनकर उसी जेल में जा रहा है, जहाँ अमर कार्य कर रहा है। इस उपन्यास में नारिया भी सामाजिक कार्यकर्ताओं के रूप में सामने आयी हैं। विलासिनी सुखदा कैसे एक सामाजिक कार्यकर्ता बन गयी, इसका इसमें वर्णन है। नारियों का सामाजिक जीवन में यह प्रवेश सविनय अवज्ञा आंदोलन की देन है। उपन्यास की नायिका सुखदा है। वह डा० शांतिकुमार से मिलकर म्युनिमिपैलिटी में गरीबों के मकान के लिए जमीन मांगती है। शहर के रईस इसका विरोध करते हैं। फलतः हड़ताल होती है। सुखदा कहती है

"जिम समाज का आधार ही अन्याय पर हो, उसकी सरकार के पास दमन के गिवा और क्या दवा हो सकती है, लेकिन इससे कोई यह न समझे कि यह आंदोलन दब जायेगा, उसी तरह जैसे कोई गेंद टक्कर खाकर और जार से उछलती है, जितन ही जोर से टक्कर होगी, उतने ही जोर की प्रतिक्रिया की होगी।" 19

तीसरा भाग समाप्त होते होते हड़ताल के कारण सुखदा को गिरफ्तार कर लिया जाता है ।

उप-यास के चौथे भाग में लगानबन्दी आंदोलन है । विश्वव्यापी आर्थिक मंदी से किसान तबाह हो रहे थे अतः उन्होंने स्वतंत्र रूप से किसान सभाओं का संगठन किया और लगानबंदी आंदोलन चलाया । कांग्रेस ने हिचकिचाते हुए वही इस आंदोलन का साथ दिया कहीं विरोध किया और कहीं तटस्थ रही । अमर, सलीम और मुन्नी इस भाग में हैं । अमर कार्यकर्ता है सलीम अफसर है । दोना दोस्त हैं । प्रमचंद ने अग्र-यंत्र रूप से बताया है कि हमारे स्वाधीनता आंदोलन के नामक वलाग हैं जो आंदोलन में आते तो सरकारी अफसर बात । यानी हमारे नेताओं और अफसरों की उत्पत्ति एक ही वग से हुई है । अमर ने जो संगठन बनाया उसमें उसने जल्दी ही शासन करने की प्रवृत्ति का विकास कर लिया । अमर ने अपनी लगन उत्साह आत्मबल और कमशीलता से अपने सभी सहयोगियों में सवाभाव उत्पन्न कर दिया था और उन पर शासन भी करने लगा था । सभी उसका रोज मानते थे । उसके गुल में थे । १०

यहाँ क जमींदार महंतजी हैं जो धर्म और धन का दुहरा शापण करते हैं । एकाएक मंदी हुई और भाव इतने गिर गये कि जितने चालीस साल पहले थे । किसानों की हालत खराब हो गयी । फलतः उत्तरप्रदेश के किसानों में असंतोष फैलने लगा । महंतजी जैसे जमींदारों ने सरकार को लिख दिया कि जितनी छूट सरकार मालगुजारी में देगी उतना लगान भी छोड़ दिया जायगा । किसान असंतोष बढ़ा तो समाज-सेवक राजनीतिक कार्यकर्ता बन गये । सरकार ने विद्रोह के लक्षण देख तो नेताओं का गिरफ्तार कर लिया । अमरकात भी गिरफ्तार हो गये ।

यह उप-यास प्रमचंद का बहुत कमजोर उप-यास है जिसमें नवीन कल्पना और मौलिकता का अभाव है । पात्र वही हैं जो पिछले उप-यासों में आ चुके हैं । समाज के प्रति लेखक की दृष्टि और विषय-वस्तु भी लगभग वही है । कमभूमि के लेखक को पास बलात्मक समय और धैर्य नहीं है यही नहीं बल्कि अपने विषय के प्रति कलात्मक लगाव भी नहीं है । वह आदतवश कथा कहता चलता है उस कथा का मार्मिक प्रभाव नहीं पड़ता ।

फिर भी देश-प्रेम इतिहास चेतना और ऐतिहासिक आशावाद इस उप-यास के मूल में भी मौजूद है । इस लगानबंदी आंदोलन का उप-यास कहा जाता है जबकि इसका विषय क्षेत्र संपूर्ण स्वाधीनता आंदोलन और राष्ट्रीय जागृति है । इस दृष्टि से यह काफी महत्वाकांक्षी से पूर्ण उप-यास है । इसमें लेखक ने प्रमाथम और रंग भूमि को जोड़ने का प्रयास किया है । किसान आंदोलन के साथ-साथ शहर के गरीबों की आवास समस्या को लेकर भी आंदोलन छिड़ा हुआ है । दोना का नेतृत्व एक ही वग का हाथ में है । इस दृष्टि से शहर का आंदोलन कम महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि यही आंदोलन गाँवों को भी नेतृत्वकारी लोग प्रदान करता है ।

लगानबंदी में यहाँ प्रमचंद ने जमींदार कारिदा पुलिस आदि की श्रृंखला को सीधे अग्रज सरकार से जोड़ दिया है । प्रमाथम में वह इसे जोड़ नहीं पाये थे ।

वास्तविक शत्रु महंतजी नहीं, ब्रिटिश सरकार है, इसे 'कर्मभूमि' का लेखक जानता है।

इसमें जेल-व्यवस्था की भी काफी चर्चा है। जिसमें बी और सी क्लास के कंठियों के भेद को दिखाया गया है। प्रेमचन्द की पत्नी शिवरात्री देवी न कांग्रेस से अपील की थी कि इस भेद को मिटाया जाय परन्तु वह भेद बना रहा। बाहर से समरकान्त—जैसे परिवार के मर्यादा प्रेमी लोग अपने बहू-बेटों की सुविधा के सामान जुटाते रहे। जो साधनहीन थे, वे मुन्नी और बुढ़िया पठानिन की तरह अत्याचार सहते रहे। अमरकान्त जैसे कुछ आदर्शवादी युवकों ने जानबूझकर इन सुविधाओं को रखा भी।

इस सारी प्रक्रिया में जो जन-जागृति हुई है, उसे रेखांकित करते हुए लाला समरकान्त मलीम से कहते हैं

‘देख लेना। मैंने भी इसी दुनिया में बाल सफेद किए हैं। हमारे किसान अफसरो की मूरत से कापते थे, लेकिन जमाना बदल रहा है। अब उन्हें भी मान-अपमान का डयाल होता है।’²¹

इस सारे संघर्ष के अंत में अमरकान्त सोचता है कि कहीं इस आंदोलन से अनर्थ तो नहीं हो जायेगा। उसकी यह चिंता राष्ट्रीय नेताओं की ऐतिहासिक चिंता का प्रतिफल है

“वह बिघर जा रहा है और अपने साथ लाखों निस्सहाय प्राणियों को बिघर लिये जा रहा है ? इसका क्या अंत होगा ? इस काली घटा में कहीं चांदी की झालर है ? वह चाहता था, कहीं से आवाज आये—बड़े आओ ! बड़े आओ ! यही सीधा रास्ता है, पर चारों तरफ निविड, सघन अंधकार था। कहीं से कोई आवाज नहीं आती, कहीं प्रकाश नहीं मिलता। जब यह स्वयं अंधकार में पड़ा हुआ है, स्वयं नहीं जानता कि आगे स्वर्ग की शीतल छाया है या विध्वंस की भीषण ज्वाला, तो उसे क्या अधिकार है कि इतने प्राणियों की जान आपत में डाले। इसी मानसिक पराभव की दिशा में उसके अंतःकरण से निकला—‘ईश्वर मुझे प्रकाश दो, मुझे उबारो। और वह रोने लगा।’²²

उपन्यास में संघर्ष के बाद शांति स्थापित हुई। कितनी अजीब बात है कि अंग्रेजों ने ‘सज्जनता’ और ‘महदयता’ का सिक्का प्रजा में बिठाते हुए यह काम किया और पाँच आदमियों की बमेट्टी बना दी। प्रेमचन्द इस आंदोलन के समर्थक थे क्योंकि इससे जनता में जो जागृति फैली है, वह बिना इस आंदोलन के संभव नहीं थी। मजे की बात यह है कि इस आंदोलन के बाद आंदोलनकारियों और सरकार के बीच एकता कायम करवाने का काम सेठ घनीराम न किया।

राजनीति और कहानियाँ (1932-36)

समाज की सामान्य चेतना से जब कोई व्यक्ति ऊपर उठता है, या उससे अलग हटता है, या नई चेतना का निर्माण करता है, तो उसे कई प्रकार के संघर्षों से गुजरना पड़ता है। जब वह समाज में व्याप्त मूल्य चेतना का विरोध करता है, तब

समाज भी उसे माफ नहीं करता। उसे तिरस्कार, भर्त्सना, निन्दा, सामाजिक बहिष्कार, जेल, देशनिकाला और फासी की सजा मिलती रही है। लेकिन स आज में नई मूल्य चेतना फैलाने वालों ने हसकर इन कठिनाइयों को झेला है और अपने युग में हास्य-व्यंग्य के आलंबन बने हुए ऐसे पात्र तब श्रद्धा के पात्र बनते हैं जब समाज में नई चेतना व्याप्त हो जाती है। स्वाधीनता आंदोलन के जमान में ऐसे कई सामाजिक कार्यकर्ता उत्पन्न हुए, जिनको परिवार वालों ने, सदाधियों और अन्य लोगों ने मूर्ख और 'बौद्ध' की उपाधि से विभूषित किया। 'गिला' (अप्रैल 1932) का नायक ऐसा ही एक पात्र है। कहानी उसकी पत्नी के स्वकथन पर चलती है। पत्नी पुरातन मूल्य चेतना की वाहक है और पति नई चेतना का। दोनों का संबंध बहुत महत्वपूर्ण है। कहानी में यह संबंध संघर्ष के रूप में व्यक्त हुआ है। पत्नी यानी पुरानी मूल्य चेतना, आक्रामक की स्थिति में और पति यानी कि नया जीवन दर्शन, बचाव के प्रयास में है। फिर भी नये में शक्ति होती है और उसे विजय मिलती है। इसमें पत्नी अपने पति का बखान करती है—उसकी उदारता, दया, सच्चाई के व्यावहारिक पक्षों को उजागर करती है, उसके समय-चातुरी के अभाव का राना रोती है उसके गरीब श्रोतों पर झुझलाती है, उसकी मानवीय चेतना से परेशान होती है। फिर भी 'विडम्बना यह है कि इन सारे दुर्गुणों के होते हुए भी मैं इनसे एक दिन भी पृथक् नहीं रह सकती—एक क्षण का वियोग नहीं सह सकती। इन सारे दोषों पर भी इनसे प्रगाढ़ प्रेम है।' ²³

जार्ज लुकाच ने 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक ग्रंथ में लिखा है कि इतिहास की धारणा आधुनिक युग की देन है—विशेष रूप से फ्रेंच क्रांति और नेपोलियन युग की देन है। औद्योगिकरण के साथ राष्ट्रीयता की भावना और इतिहास चेतना आयी। लेकिन अजीब बात है कि इतिहास का उपयोग प्रतिक्रियावादी ताकतों ने फ्रेंच क्रांति का विनाश करने के लिए किया। बाद में प्रगतिशील चिंतकों ने भी इतिहास का सगत उपयोग किया। ²⁴ हिन्दुस्तान में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से इतिहास चर्चाना की शुरुआत हुई। बीसवीं शताब्दी के मध्य तक आम जनता के मध्य तक आम जनता के भाव-बोध में इतिहास और राष्ट्रीयता का केन्द्रीय स्थान है। यहाँ पर भी पहले-पहल मनस्त्वानवादियों ने इतिहास का उपयोग किया, उन्हीं के विरोध में प्रेमचन्द जैसे बुद्धिजीवियों ने इतिहास के प्रति वैज्ञानिक रूप अपनाया। झाँकी' (अगस्त, 1932) का नायक सोचना है 'अगर अम्मा ने अपनी सास की साड़ी धोई है, उनके पाँव दबाए हैं, उनकी घुड़कियाँ खाई हैं तो आज वह पुराना हिंसाध बहू से क्या चुकाना चाहती है? उन्हें क्यों नहीं दिखाई देता कि अब समय बदल गया है। बहुतों अब भय-वश साम की गुलामी नहीं करती। प्रेम से चाहे उनके सिर के बाल नीच लो, लेकिन जा रोव दिखाकर उन पर शासन करना चाहो, वह दिन लड़ गए।' ²⁵ इस तरह प्रेमचन्द ने अपनी अन्य अनेक कहानियों में भी सामाजिक संबंधों के परिवर्तन और विकास को रेखांकित किया है।

सन् 1932 से, जब कांग्रेस आंदोलन मध्यम पड़ने लगा, तब बुद्धिजीवियों में आत्मालोचना की प्रवृत्ति बढने लगी। प्रेमचन्द कांग्रेस के प्रति अधिकाधिक आलोच-

नात्मक होते चले गये । 'वृत्सा' (जुलाई, 1932) में कांग्रेस कार्यकर्ताओं के प्रति हल्का-सा आलोचनात्मक रूप है । कहानी में पात्रों के नाम क०ख०ग० हैं । नायक के घर पर कार्यकर्ता आते हैं और शिकायत करते हैं कि 'क' महाशय के हिसाब में एक हजार रुपया है, 'ख' का भी यही हाल है, 'ग' महाशय शराब पीते हैं आदि-आदि ।

'जिन शराब की दूकानों पर हम धरना देने जाते थे, उन्हीं दूकानों से उनके लिए शराब आती थी । इसमें बढ़कर बेवफाई और क्या हो सकती है ? मैं ऐसे आदमी की देशद्रोही कहती हूँ ।' 26

इन आलोचनाओं से सहमत होते हुए भी नायक ने एक अवोध बच्ची को इसे झूठा बताया और झूठ बोलकर वह प्रसन्न हुआ । अपनी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए वह कहता है :

"...हम और तुम इस सस्था के शुभचिंतक हैं । अपने कार्यकर्ताओं का अपमान करना उचित नहीं । हमें तो इतना ही देखना चाहिए कि वे हमारी वित्तीय सेवा करते हैं । मैं यह नहीं कहता कि क, ख, ग में बुराईयाँ नहीं हैं । ससार में ऐसा कौन है, जिसमें बुराईयाँ न हों, लेकिन बुराईयों के मुकाबले में उनमें गुण कितने हैं, यह तो देखो ।" 27

स्पष्ट है कि यह दलील लचर है । इस आदर्शवाद के पीछे यथार्थवाद चीखता रहता है । यह कहानी 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की कहानी है । इसी तरह 'डामुल का कैदी' (नवम्बर, 1932) में हृदय परिवर्तन का धारणा है ।

वास्तव में प्रेमचन्द ने राजनीतिक विषयों पर कहानियाँ लिखता अब कम कर दिया था । इसका एक कारण यह था कि प्रेमचन्द के कांग्रेस से मतभेद बढ़ते जा रहे थे, फिर भी वे उस सस्था के हृम्वद थे, क्योंकि वही सस्था समर्थ ढंग से साम्राज्यवादियों से सघर्ष कर रही थी । ऐसी सस्था का विरोध करके वे अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन नहीं करना चाहते थे । फिर भी उन्होंने कुछ कहानियाँ लिखी हैं ।

फरवरी, 1934 में उनकी कहानी 'नशा' छपी । उन्होंने यह देखा कि हमारे समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति क्रांतिकारी कहलाने लगे हैं, जिनका क्रांतिकारीपन किसी स्थायी मिथ्यात्व या लोकप्रेम पर आधारित नहीं है, बल्कि उनकी निजी दशा पर निर्भर है । यदि उनकी दशा सुधर जाये तो उनके भाव और विचार भी बदल जायें । इस प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए उन्होंने उदाहरण के रूप में इस कहानी को गढ़ा ।

'क्रांतिकारी' नायक को लेखक ने जमींदार के घर भेजा । वहाँ पर उसे बड़ा रईस बताया गया और उसकी खूब आब-भगत की गयी, परिणामतः वह नाजुक मिजाज हो गया । वहाँ से वापस आते समय उसका यह 'नशा' उतरा !

सामाजिक कहानियाँ

सजग साहित्यकार प्रेमचन्द ने अपने युग की अनेक मानवीय समस्याओं को अपने साहित्य में स्थान दिया । हिंदू समाज में व्याप्त अछूतों की समस्या उनमें से एक है । सबर्णों का अछूतों पर यह अत्याचार राजनीतिक नहीं, सामाजिक है, अतः इनके

उनमें रम गया है और उनकी पीडा का वर्णन करते-करते खुद वहीं हो गया है। 'ईदगाह' (अगस्त, 1933) इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण कहानी है। यह उद्देश्य-पूर्ण और प्रचारात्मक कहानी नहीं है बल्कि इसमें अपने आसपास का जीवन है। प्रेमचन्द न जीवन के समग्र यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए एक निश्चित 'समय' चुना है जब जीवन अधिक मुखर रूप में सामने आता है। उत्सव और त्यौहार इसी तरह का समय होता है। इस कहानी में प्रेमचन्द ने ईद का दिन चुना है। पाच छः घंटे के इस जीवन में प्रेमचन्द ने विशाल जीवन की घनीभूत झांकी दिखायी है।

कहानी के तीन भाग हैं। पहले भाग में लेखक ने गरीब मुस्लिम परिवार के सांस्कृतिक परिवेश की कहानी कही है। इसमें हामिद के मनोभाव स्पष्ट होते हैं और उनको एक परिप्रेक्ष्य मिलता है। सम्पूर्ण कहानी में एक खाम तरह का बाल मनोविज्ञान है, लेकिन कहानी बाल मनोविज्ञान की कहानी नहीं है। इसमें क्रूर यथार्थ को बच्चे की निर्दोष आँखों से दिखाया गया है। प्रेमचन्द मानते हैं कि समाज के पीड़ित और दलित लोगो में ही मानवीयता का निवास है। हामिद के मा-बाप नहीं हैं, दादी है। दादी (अमीना) का चरित्र इसमें अविस्मरणीय है। वह एक ऐसी औरत है जिसमें ममता का अक्षय भण्डार है, जैसा कि हिन्दुस्तान की सयुक्त परिवार की बुढ़ियो में होता है। ऐसी औरतों के परिवार में जब ममता का एकमात्र आलम्बन—बच्चा बचा रह जाता है, तो उसकी ममता की सघनता का अन्दाज लगाया जा सकता है। शुरू में ईदगाह जाने की तैयारी का वर्णन है।

ईदगाह शहर में है। फिर प्रेमचन्द ने बच्चों की आँखों से शहर और शहरी सभ्यता को दिखाया है। शहर के वर्णन में व्यंग्य के साथ विरोध का भाव मिलता है। ईदगाह के पावन दृश्य के बाद पहला भाग समाप्त हो जाता है।

दूसरा भाग कहानी का अन्त सपर्यं है। हामिद के सिवा अन्य बच्चा के पिता साथ है अतः वे सुरक्षित महसूस करते हैं। इस सुरक्षा के माहौल में उनका बचपन भी सुरक्षित रहता है। वे उत्साह से मिठाइयाँ खाते हैं, खिलौने खरीदते हैं, चर्खों में घूमते हैं। लेकिन हामिद गरीब है, उसका बाप नहीं है, अतः भोले-भाले हामिद के मन में पहला क्रूर सवाल आता है कि वह इन पैसों को कैसे खर्च करे। पैसों का अभाव पैसों की सार्थकता का सवाल उठाता है। वह बच्चे से प्रोड बन जाता है और जिम्मेवार व्यक्ति की तरह एक चिमटा खरीदता है।

तीसरे भाग में बापस लौटने का जिक्र है। इसमें अमीना और हामिद के सम्बन्ध को मुख्य स्थान दिया गया है। और बच्चों के खिलौने टूट गये, लेकिन चिमटे ने दादी-पोते के सम्बन्ध को ही तोड़ दिया। इसी से 'एक बड़ी विचित्र बात हुई। हामिद के इस चिमटे से भी विचित्र। बच्चे हामिद ने बड़े हामिद का पाट खेला था। बुढ़िया अमीना बालिका अमीना बन गयी। वह रोने लगी। दामन फँसाकर हामिद को दुआएँ देती जाती थी और आँस की बड़ी बड़ी बूँदें गिराती जाती थी। हामिद इसका रहस्य क्या समझता।' 30

प्रेमचन्द ने नारी स्वाधीनता के लिए भी आवाज उठायी। प्रेमचन्द जब समा-नता के हक्दार थे, तब समाज में स्त्री और पुरुष की समानता के भी हक्दार थे।

इस समय तक भारत में कानून था कि पति के मरने के बाद सम्पत्ति पर पुत्रों का अधिकार हो जाता है, या सयुक्त परिवार हुआ तो वह सम्पत्ति सारे परिवार की सम्पत्ति बन जाती है। पत्नी का अधिकार केवल रोटी-कपड़े तक का है। सयुक्त परिवार में नारी की क्या हालत हो जाती है, इसका वर्णन प्रेमचन्द ने 'गदन' में भी किया है। वकील साहब की मृत्यु के बाद रत्न की स्थिति कितनी करुण हो गयी थी इसी विषय पर उन्होंने 'बेटे वाली विधवा' (नवम्बर 1932) कहानी लिखी। आज के स्वार्थ प्रधान जमाने में विधवा की हालत अत्यंत शोचनीय हो गयी है, इसे अयोध्यानाथ की पत्नी फूलमती ही जानती है।

भोजन भट्ट ब्राह्मणों की परिहास का पात्र बनाना प्रेमचन्द की पुरानी आदत रही है। ऐसा लगता है कि इस श्रेणी के चरित्र को प्रेमचन्द काफी करीब से जानते हैं। पंडित मोटेराम उनका नाम होना है। ये अज्ञानी और मूर्ख होते हैं, परन्तु विद्वान समझे जाते हैं। यही नहीं, बल्कि वास्तविक विद्वानों को पछाड़ देते हैं। ये हिन्दू जनता के मनोभावों को जानते हैं। परले भिरे के घूर्त और पाखंडी ये लोग होते हैं, पर निलिप्त और दरालु समझे जाते हैं। 'पंडित मोटेराम की डायरी' (जुलाई 1934) के नायक ऐसे ही हैं। फिर भी इन पात्रों के अत्याचार हास्य से घुलकर कम हो जाते हैं। कहानी के आरम्भ में ये अत्याचारी-से लगते हैं, लेकिन अंत में दयनीय हो जाते हैं।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की उपज 'बड़े भाई साहब' (नवम्बर 1934) है। प्रेमचन्द स्कूल मास्टर थे, अतः उन्हें विद्यार्थियों के सुख दुःख, आशा-आकांक्षा, और उनके आपसी अन्तर्विरोध की गहरी जानकारी थी। इन कहानी की पृष्ठभूमि से इस व्यापक जानकारी का एहसास होता है। बड़े भाई साहब एक खाम प्रकार के सामंती पात्र हैं। लेखक की सहानुभूति का बड़ा हिस्सा उन्हें प्राप्त है, फिर भी वे अंत में दयनीयता की हद तक हास्यास्पद बन जाते हैं। वे इस शिक्षा व्यवस्था से बहुत चिढ़े हुए और रुष्ट थे, लेकिन इस शिक्षा-प्रणाली को बहुत गंभीरता से लेते थे। बोंस का एक-एक शब्द चाट जाते थे, फिर भी एक-एक दर्जे में दो-दो, तीन-तीन थार फेल हो जाते थे। छोटा भाई खेलता-बूढ़ता है और दर्जे में अग्रवर्त आता है। अतः अपने बड़े भाई के प्रति हठका सा अवमानना का भाव उसमें है। कहानी के अंत में दो विरोधी जीवन मूल्यों का समन्वय करवाया गया है। छोटे भाई की स्वच्छता (जो कि आधुनिक मानव की व्यक्ति-स्वतंत्रता का धूमिल-सा रूप है) और बड़े भाई की वर्तव्य-परायणता के बीच के विरोध को मानवीयता का पुट देकर पाटा गया है। अतः होते-होते कहानी बड़े भाई के अनुशासन में चली जाती है।

इस बीच प्रेमचन्द ने किमानों पर बहुत कम कहानियाँ लिखी हैं। ज्योति (मई 1933), नेउर (जनवरी 1933), दूध का दाम (जुलाई 1934) आदि कहानियाँ मिलती हैं। इनमें किमान परिवार की आन्तरिक मूल्य व्यवस्था का चित्रण है और उनके जीवन में चल रहे अधविश्वासों का पर्दा खोला गया है। उनके सामाजिक-धार्मिक शोषण की प्रणियाँ ही इसमें दिखाई गई हैं, और अधिकतर उनको रेखांकित किया गया है, जो परंपरा से शोषण का रूप धारण कर चुके हैं।

गोदान

प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में किसान का सहज-सरल आंतरिक जीवन—जैसा कि वह है, सामने रखने का प्रयास किया है। 'गोदान' की शुद्धता किसान जीवन के लम्बे, ऐतिहासिक आकलन पर आधारित है। इसके प्रथम अध्याय में होरी और धनिया के पिछले बीस-पच्चीस वर्षों की गृहस्थी की कहानी सारतः कह जाते हैं। 'हर एक गृहस्थ की भाँति होरी के मन में भी गऊ की लालसा चिरकाल से संचित चली आती थी। यही उसके जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न, सबसे बड़ी साध थी। बैंक सूद से चैन करने, या जमीन खरीदने या महल बनवाने की विशाल आकाशाएँ उनके नन्हें से हृदय में कैसे समाती।'³¹ इस तरह प्रेमचन्द ने दिखाया है कि होरी का अब तक का जीवन इस अपूर्ण आकाशा का, इस अभाव का जीवन है। या कि उसने ऐसा जीवन जिया है जिसमें सिर्फ एक गाय पाल लेने की इच्छा ही पैदा हो सकती है।

'गोदान' समेरी और बेलारी नामक अवध प्रान्त के दो गाँवों की कहानी है। जमींदार रायसाहब अमरपालसिंह समेरी में रहते हैं और होरी बेलारी में रहता है। जिस तरीके से प्रेमचन्द ने रायसाहब के कम क्षेत्र का वर्णन किया है, उससे हमें स्व-राज्य आन्दोलन की प्रकृति और उससे प्रेमचन्द के तीव्र मतभेदों का पता चलता है। पिछले सत्याग्रह-समय में रायसाहब ने भाग लिया था और जेल भी हो आये थे; अतः किसानों की थढ़ा के पात्र बने हुए थे। फिर भी,

'यह नहीं कि उनके इलाके के असामियों के साथ कोई खास रियायत की जाती हो, या इण्ड और वेगार की कड़ाई कुछ कम हो; मगर यह सारी बदनामी मुकुतारों के सिर जाती थी। रायसाहब की कीर्ति पर कोई कलक न लग सकता था।'³²

प्रेमचन्द की कुछ पुरानी मान्यताएँ 'गोदान' में ज्यों की त्यों हैं। जैसे गरीब किसान की आत्मा पाक साफ होती है। उसकी आत्मा पर थोड़े-से स्वार्थ की छाप जरूर पड़ गयी है, पर अमीर तो स्वार्थ और नीचता के पुतले हैं। गरीबों का आत्मिक जीवन उन्नत है, अमीरों का भौतिक जीवन उच्चतर है। रायसाहब ने होरी के सामने अपने दुखों का जो विस्तृत वर्णन किया है, उसमें यह दृष्टि साफ झलकती है। वह कहते हैं, 'मैं तो कभी-कभी सोचता हूँ कि अगर सरकार हमारे इलाके छीनकर हमें अपनी रोजी के लिए मेहनत करना सिखा दे, तो हमारे साथ महान उपकार करे, और यह तो निश्चय है कि अब सरकार भी हमारी रक्षा न करेगी। हमसे अब उसका कोई स्वार्थ नहीं निकलता। लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्द हमारे वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है।'³³

इस उपन्यास में प्रेमचन्द का प्रयास जमींदारों के आंतरिक खोखलेपन को दिखाना नहीं रहा है और न ही किसान-जमींदार का सबंध मात्र दिखाना रहा है। बल्कि उनका प्रयास किसान के आन्तरिक, भावात्मक और वैचारिक जीवन का चित्रण करना रहा है। प्रसंगवश भले ही सम्पूर्ण समाज का वर्णन कर दिया गया है, परन्तु उपन्यास की धुरी किसान का दैनिक जीवन है। अतः होरी का घर, पति-पत्नी के संबंध, उनका उठना-बैठना, चाल-चलन, उनकी भावात्मक स्थिति, आक्रोश

और राग-द्वेष की प्रवृत्ति का वर्णन ही अधिक है। अपनी स्थिति को समाज के ठोस सदस्यों में रखता हुआ होरी भोला को कहता है :

“अनाज तो सब-का-सब खलिहान में ही तुल गया। जमींदार ने अपना लिया, महाजन ने अपना लिया। मेरे लिए पाँच सेर अनाज बच रहा। यह भूसा तो मैंने रातों-रात ढोकर छिपा दिया था, नहीं तिनका भी न बचता। जमींदार तो एक ही है, मगर महाजन तीन-तीन हैं, सहुआइन अलग और मगरू अलग और दातादीन अलग। किसी का व्याज भी पूरा न चुका। जमींदार के भी आधे रुपये बाकी पड़ गए। सहुआइन से फिर रुपये उधार लिए तो काम चला।”³⁴

होरी का गाँव शहर के करीब है, अतः अपनी प्रकृति में कुछ विशिष्ट है। दमड़ी बसोर ने होरी से बाँस खरीदते समय कहा कि बाँस के भाव ज्यादा इसलिए हैं कि यह शहर के नजदीक है। वर्तमान भारत में ऐसे गाँव भी मौजूद थे जिन पर शहरी जीवन की छाया बहुत दूर तक नहीं पड़ती। किसान सिर्फ भोला-भाला और सद्भावों से भरा हुआ ही नहीं होता, वह स्वार्थी भी होता है। सयुक्त परिवार के मर्यादा प्रेमी होरी ने भी बाँस के रुपये भाइयों से छुपाकर लेने का प्रयास किया था। इस प्रसंग से होरी की एक किसान के रूप में ‘विश्वसनीय’ तस्वीर उभरी।

होरी ने भोला से गाय लेने का वचन ले लिया। प्रेमचन्द ने होरी के घर में गाय के प्रवेश की कथा धूम-धाम से कही। इतनी लगन से, परिवार के प्रत्येक सदस्य की अन्तर्वृत्तियों का चित्रण करते हुए, सबके मनोभावों और भावात्मक उद्गार को धैर्यपूर्वक सामने रखा गया है। यह किसान के साधारण जीवन को, जैसा कि वह है, महत्वपूर्ण मानने और उसका चित्रण करने के कारण हुआ है। अन्यथा ‘एक दिन होरी के घर गाय आ गयी’ कहकर कथाकार अन्य प्रसंगों के वर्णन में लग सकता था। जब गाय घर में आ गयी तो आश्वस्ति की साँस लेते हुए होरी ने कहा, ‘आज मेरे मन की बड़ी भारी लालसा पूरी हो गयी।’³⁵

होरी और धनिया की मन स्थिति के अंतर को रेखांकित करते हुए उन्होंने लिखा :

‘होरी सचमुच आपे में न था। गऊ उसके लिए केवल भक्ति और श्रद्धा की वस्तु नहीं, सजीव सम्पत्ति भी थी। वह उसे अपने द्वार की शोभा और अपने घर का गौरव बढ़ाना चाहता था। वह चाहता था, लोग गाय को द्वार पर बँधे देखकर पूछें—यह किसका घर है। लोग कह—होरी महतो का। धनिया इसके विपरीत सशक थी। वह गाय को सात परदों के अन्दर छिपाकर रखना चाहती थी। अगर गाय आठों पहर कोठरी में रह सकती, तो शायद वह उसे बाहर न निकालने देती। यो हर बात में होरी की जीत होती थी। वह अपने पक्ष पर अड जाता था और धनिया को दबना पड़ता था, लेकिन आज धनिया के सामने होरी की एक न चली।...’³⁶

इस अवसर पर सोना, रूपा, गोबर और यहाँ तक कि सारे गाँव के मनोभावों को प्रेमचन्द ने चित्रित कर दिया—महिन दातादीन की भी एक झलक मिल गयी। प्रेमचन्द ने ‘गोदान’ में एक-एक घटना को इतनी तन्मयता और सावधानी से चुना है

कि भारतीय किसान की सूक्ष्म जानकारी रखने वाले पाठक को भी सुखद आश्चर्य होता है। मसलन गाय खरीदने सबधी बातचीत का काम होरी का है, लेकिन भोला के यहाँ से गाय लाने का काम गोबर का है। किसान परिवारों में सामान्यतः ऐसा होता है गाय, बैल आदि खरीदने का काम तो घर का मुखिया करता है, लेकिन उसको पुराने मालिक के यहाँ से लाने का काम बड़ा लडका ही करता है और मुखिया परिवार व बाल-वच्चो के साथ, वच्चो की ही तरह नये सिर से प्रसन्न होता है। भोला के यहाँ से गोबर द्वारा गाय का लाना बहुत महत्वपूर्ण है। कृषक जीवन के ऐसे पक्षों के चित्रण में प्रेमचन्द ने 'गोदान' में ज्यादा रुचि दिखलायी है।

होरी की आर्थिक स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है

' इस फसल में सब कुछ खलिहान में तोल देने पर भी अभी उस पर कोई तीन सौ कर्ज था, जिस पर कई सौ रुपये मूद क बढ़ते जाते थे। मगरू माह से आज पाँच साल हुए, बैल के लिए साठ रुपये लिए थे, उसमें साठ दे चुका था, पर वह साठ रुपये ज्यों-के-त्यों बने हुए थे। दातादीन पंडित से तीस रुपये लेकर आलू बोए थे। आलू तो चोर छोद ले गए, और उस तीस के इन तीन वर्षों में सौ हो गए थे। दुलारी विधवा सहुआइन थी, जो गाँव में नोन, तेल, तमाखू की दुकान रखे हुए थी। बटवारे के समय उससे चालीस रुपये लेकर भाइयों को देना पड़ा था। उसके भी लगभग सौ रुपये हो गए थे, क्योंकि आने रुपये का ब्याज था। लगान के भी अभी पच्चीस रुपये बाकी पड़े हुए थे और दशहरे के दिन शगुन के रुपये का भी कोई प्रबन्ध करना था।'³⁷

ऐसी आर्थिक कठिनाइयों के बीच गाय खरीदना सचमुच कितने साहस, उत्साह, खुशी और चिंता की बात थी। गाय जब घर में आयी तो सारा गाँव उसे देखने आया, केवल होरी के भाई होरा और शोभा अनबन के कारण नहीं आए। भ्रातृ प्रेमी होरी का हृदय मसोसने लगा।

इधर प्रेमचन्द ने रायसाहब के घर महफिल करवायी है जिसमें शहर के रईस, उद्योगपति, बुद्धिजीवी और बड़े सरकारी कर्मचारी आते हैं। यहाँ उच्च बौद्धिक किस्म का वार्तालाप होता है। दर्शन के अध्यापक मि० मेहता कहते हैं—“...मैं चाहता हूँ, हमारा जीवन हमारे सिद्धान्तों के अनुकूल हो। आप कृषकों के शुभेच्छु हैं उन्हें तरह-तरह की रियायत देना चाहते हैं जमींदारों के अधिकार छीन लेना चाहते हैं, बल्कि उन्हें आप समाज का शत्रु कहते हैं, फिर भी आप जमींदार हैं। अगर आपकी धारणा है कि कृषकों के साथ रियायत होनी चाहिए, तो पहले आप खुद श्रुत करें—काश्तकारों को खेती नजराने लिये पट्टे लिख दें, बेगार बन्द कर दें, इजाफा लगान को तिलाजलि दे दें, चरावर जमीन छोड़ दें। मुझे उन लोग से जरा भी हमदर्दी नहीं है, जो बातें तो करते कम्युनिस्टों की सी, मगर जीवन है रईसों का-सा, उतना ही विलासमय, उतना ही स्वार्थ से भरा हुआ।”³⁸

इस उद्धरण को लेखक पात्र के मुँह से बोलवाने लगा है और थोड़ी-सी जबर्दस्ती भी करने लगा है। दूसरे यह कि बड़े लोगों की महफिल में ये बातें भी शामिल हो गयी हैं, जिससे जमींदार-विरोधी जनमत के वैचारिक प्रभुत्व का एहसास होता है

तथा यह भी कि हमारे जमींदार इतने चिक्ने घड़े हो गये हैं कि इन बातों का भी उन पर कोई खास असर नहीं पड़ता ।

प्रेमचन्द स्वाधीनता आंदोलन के सिपाही थे, इस कारण शराबबंदी के कायल थे और इस हेतु प्रचारार्थक कहानियाँ भी लिख चुके थे । लेकिन 'गोदान' में राय-साहब की पार्टी में शराब की दावत होती है । यही नहीं, मिस मालती, मूर्ख बनाकर 'विजली' सम्पादक पंडित ओवारनाथ को पिलाती भी है । मिर्जा खुर्शेद जब शिवार पर जाते हैं तो वहाँ सारे गाँव वालों को शराब पिलाते हैं । मजे की बात है कि इस मामले में लेखक चुप है, बल्कि शराब पिलाने के हक में है । इससे स्वाधीनता-आंदोलन की कुछ बातों के प्रति प्रेमचन्द के रवैये का भी पता चलता है ।

होरी के घर में गाय आ गयी, यानी उसकी एक बहुत छोटी, पर आधारभूत मानवीय लालसा पूरी हो गयी । इतनी कठिनाइयों और शोषण चक्र के बीच खुशी का मौका आ गया । आपाड़ में चर्पा हुई । किसान खेत जोतने वाले थे कि राय साहब ने सदेश भेजा कि जब तक लगान पूरा न चुक जायेगा, कोई खेत नहीं जोतेगा । यह विपत्ति सारे गाँव पर आयी, सबने अपने-अपने ढंग से उसे दूर करने का प्रयास किया । होरी ने चारों ओर नजर दोड़ाई । मगरू साहू दातादीन, दुलारी का वह कर्जदार था । बच गये शिगुरीसिंह जो कि गाँव के सबसे बड़े महाजन थे । 'वह शहर के एक बड़े महाजन के एजेंट थे । उनके नीचे कई आदमी और ये, जो आसपास के देहातों में धूम-धूमकर लेन-देन करते थे । इनके उपरान्त और भी कई छोटे-मोटे महाजन थे, जो दो आने रुपये व्याज पर बिना लिखा-पट्टी के रुपये देते थे । गाँव वालों को लेन-देन का कुछ ऐसा शौक था जिसके पास दस-बीस रुपये जमा हो जाते, वही महाजन बन बैठता था ।' 39

होरी उनके पास रुपये लेने पहुँचा । यहाँ प्रेमचन्द ने दिखाया है कि जमींदार और महाजन, सबकी आँखें गाय पर लगी हुई हैं । यानी ये लोग किसान की उस मामूली लालसा पर सबसे पहले आक्रमण करते हैं । शिगुरीसिंह ने होरी से कहा कि गाय दे दो और रुपये ले जाओ । इस प्रस्ताव का जितना प्रभाव होना था, वह हुआ । इसके साथ ही लेखक ने दिखाया है कि आपसी कलह, द्वेष और प्राकृतिक विपदा का प्रभाव भी किसान की छोटी-सी लालसा पर ही पड़ता है । होरी के भाई हीरा से एक दिन धनिया की कहा-सुनी हो गयी । उसने चुपके से गाय को माहुर खिला दिया और गाय मर गयी । 'होरी पण्डित दातादीन के पास दौड़ा । गाँव में पशु-चिकित्सा के वही आचार्य थे । पण्डित जी सोने जा रहे थे । दौड़े हुए आये । दम-कै-दम में सारा गाँव जमा हो गया ।' 40

इसके बाद पुलिस आयी । यहाँ पुलिस की निरकुशता की एक झलक दिखाई गयी है, इससे पुलिस की सामान्य कार्यपद्धति का एहसास होता है । गाँव के मुखिया और पुलिस के बीच रिश्तों के रूपों का बटवारा होता है, यह आम रिवाज है । यानेदार हीरा के घर की तलाशी लेना चाहता है और किसान तलाशी को बेइज्जती समझता है, अस्तु होरी रिश्तों के रूपों को तैयार हो जाता है । इसी समय धनिया का नाटकीय प्रवेश होता है ।

“मैं दमड़ी भी न दूंगी, चाहे मुझे हाकिम के इजलास तक ही चढ़ना पड़े। हम बाकी चुकाने को पचीस रुपये मांगते थे, किसी ने न दिया। आज अजुली भर रुपये ठनाठन निकाल के दे दिये। मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बाँट-बखरा होने वाला था, सभी के मुँह मीठे होते। ये हत्यारे गाँव के मुखिया हैं, गरीबों का खून चूसने वाले। सूद-व्याज, डेढ़ी-सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो। उस पर सुराज चाहिए। जेल जाने से सुराज न मिलेगा। सुराज मिलेगा धरम से, न्याय से।”⁴¹

धानेदार को जब होरी से रुपये न मिले, तो उसने मुखियों को पकड़ा और पचास रुपये वसूल किये। मुखियों ने जब आनाकानी की तो वह बोला : ‘तुमने अभी अघेर नहीं देखा। कहो तो वह भी दिखा दूँ। एक-एक को पाँच-चाँच साल के लिए भेजवा दूँ। यह मेरे बायें हाथ का खेल है। डाके में सारे गाँव को काले पानी भिजवा सकता हूँ। इस घोखे में न रहना।’⁴²

इन सारे सकटों के बीच होरी सोचता है कि जीवन में ऐसा एक भी दिन नहीं आया, कि लगान और महाजन को देकर भी कुछ बचा हो। इस पर होरा घर से भाग गया। उसकी खेती भी सभालनी है, नहीं तो लोग क्या कहेंगे। साथ ही गोबर और झुनिया का सबघ बढ़ता गया, जिससे झुनिया के पाँच महीने का गर्भ है और गोबर उसे घर पहुँचाकर शहर भाग गया। अभी तक होरी जमींदार, महाजन और पुलिस के अत्याचार से ही पीड़ित था, अब उसके सामने एक नया शक्तिशाली शत्रु था—बिरादरी। झुनिया को शरण देने के कारण होरी को जाति बाहर कर दिया गया। ‘होरी नम्र स्वभाव का आदमी था।’ पर समाज इतना बड़ा अनर्थ कैसे सह ले और उसकी मुटमर्दी तो देखो कि समझाने पर भी नहीं समझता। स्त्री-पुरुष दोनों जैसे समाज को चुनौती दे रहे हैं कि देखें, कोई उनका क्या कर लेता है। तो समाज भी दिखा देगा कि उसकी मर्यादा तोड़ने वाले सुख की नींद नहीं सो सकते।’⁴³

पचायत की बैठक हुई और पंचों ने होरी पर सौ रुपये नकद और तीस मन अनाज का जुर्माना लगाया, परिणामतः उसका घर रेहन रख दिया गया और खलिहान में ही सारा अनाज बिरादरी के लिए तुल गया। ‘बिरादरी का वह आतक था कि अपने सिर पर लादकर अनाज ढो रहा था, मानो अपने हाथों अपनी कन्न खोद रहा हो। जमींदार, साहूकार, सरकार किसका इतना रोब था? बल बाल-बच्चे क्या खाएंगे, इसकी चिन्ता प्राणों को सोख लेती थी, पर बिरादरी का भय विशाच की भाँति सिर पर सवार आँकुस दिये जा रहा था।’⁴⁴ फिर भी होरी और धनिया झुनिया का बच्चा पाकर खुश हैं।

इधर गोबर गाँव से भागकर शहर—लखनऊ आ गया। इससे नगरीकरण की प्रक्रिया का एहसास होता है। किसान किस तरह मजूर बनने के लिए विवश हो रहे हैं, होरी का पुत्र गोबर इस सामाजिक तथ्य की पुष्टि कर रहा है। नगरीकरण के साथ औद्योगीकरण भी शुरू हो रहा है। किसान बातें कर रहे हैं कि अगले साल शक्कर की मिल खुलने वाली है, मि० खन्ना उसे खोलते हैं। किसानों की ऊँख खरीदी

जा रही है। इस तरह गाँव और शहर के अन्त सबध स्पष्ट होते चलते हैं। गोबर मिर्जा खूँद के यहाँ 15 रुपए महीने का नौकर हो जाता है। शहर में आ जाने के बाद भी उसके स्वप्न गाँव के चारों ओर ही मडराते रहते हैं।

‘सबसे पहले वह एक पछाईं गाय लाएगा, जो चार-पाँच सेर दूध देगी और दादा से कहेगा, तुम गऊ माता की सेवा करो। इससे तुम्हारा लोक भी बनेगा, पर-लोक भी।’⁴⁵

होरी का अनाज तुल जाने के बाद उसका बुरा हाल था, यहाँ तक नौबत आयी, कि उसके घर में एक दिन खाना नहीं बना। हीरा की पत्नी ने सहायता की, तो घर का काम चला। वह गाय, जिसको देवी समझ कर लाया गया था, कितने सकटों को अपने साथ लायी। एक दिन भोला आमा और उसने गाय के दाम माँगे, जब न मिले तो वह होरी के बँल खोलकर ले गया।

इस सभ्यता में चोर के ऊपर भी चोर होता है। होरी से जब बिरादरी ने जुरमाना वसूल किया, तो इसकी खबर रायसाहब तक भी पहुँची। रायसाहब ने पच्चों को डाँटा और रुपये रायसाहब को सौंपने के लिए कहा। होरी के बँल चले गये, तो उसने ५० दातादीन के साझे में खेती की। इधर मिल खुल गया। किसानों की खड़ी ऊब खरीद ली गयी। रुपये के बक्त महाजन मिल वाले से मिल गये और रुपये पहले ही ले लिये। पटेश्वरी बचे हुए रुपये ले रहे थे। शोभा ने जब आनाकानी की तो वह बोला

‘...यह जो नित्य जुभा खेलते हो, वह एक रपट में निकल जायगा। मैं जमींदार या महाजन का नौकर नहीं हूँ, सरकार बहादुर का नौकर हूँ, जिसका दुनिया-भर में राज है और जो तुम्हारे महाजन और जमींदार दोनों का मालिक है।’⁴⁶

प्रेमचन्द ने दिखाया है कि हमारे रायसाहब और तात्लुकेदार ज्वालामुखी के मुह पर बैठे हुए हैं। उन पर लाखों रुपये का वर्जा है, विनासिता का उनके यहाँ साम्राज्य है, अकर्मण्यता उनकी नस नस में बस गयी है और कुल मर्यादा की रक्षा करने में उनकी जान निकल रही है। कहने को तो वे मालिक हैं, लेकिन उनकी कुँजी अब धीरे धीरे खना जैसे बैकरा के हाथ में है।

गोबर शहर में आकर कुछ आधुनिक हो गया है। ‘उसने अग्रेजी फंशन के बाल कटवा लिए हैं महीन घोंती और पम्प शू पहनता है। एक लाल ऊनी चादर खरीद ली और पान सिगरेट का शौकीन हो गया है। सभाओं में आने-जाने से उसे कुछ-कुछ राजनीतिक ज्ञान भी हो चला है। राष्ट्र और वर्ग का अर्थ समझने लगा है। सामाजिक रूढ़ियों की प्रतिष्ठा और लोक निन्दा का भय अब उसमें बहुत कम रह गया है।’⁴⁷

प्रेमचन्द मानते हैं कि (‘गोदान’ में) राजनीतिक ज्ञान अभी गाँवों तक किसानों में नहीं पहुँचा है। जो किसान शहर में आ गये हैं, चाहे वह मजदूर बनकर ही सही, उनका राजनीतिकीकरण हो रहा है। होरी को किसी प्रकार से आधुनिक राजनीति का ज्ञान नहीं है। न तो वह स्वाधीनता आंदोलन के बारे में जानता है, न उसके प्रति आशा का भाव है। बलराज को रूसी क्रांति की जानकारी थी, पर होरी को

गांधीजी के आन्दोलन का भी पता नहीं है। यह ज्ञान अभी तक रायसाहब, मि० खन्ना और मिस मालती जैसे लोगों तक ही सीमित है।

गोबर जब पहली बार शहर से गाँव आता है, तो बड़े रोब-दाब से आता है। वह समाज के परंपरागत नेताओं को चुनौती देता हुआ उत्साही युवक होता है। आते ही गाँव में युवकों का नेता बन जाता है और गाँव में चल रहे शोषण की पद्धति और प्रतिया का पर्दाफाश करता है। दातादीन से कहता है 'तुम्हारे घर में किस वान की कमी है महाजन, जिस जजमान के द्वार पर जाकर खड़े हो जाओ, कुछ न कुछ भार ही लाओगे। जनम में लो मरन में लो, सादी में लो, गमी में लो, खेती करते हो, लेन देन करते हो, दलाली करते हो, किसी से कुछ भूल-चूक हो जाय, तो डाँट लगाकर उसका घर लूट लेते हो। इतनी कमाई से पेट नहीं भरता ?' 48

ग्रामीण समाज गोबर का मूल्यांकन करता है कि गोबर शहर जाकर बड़ा चट हो गया है, कानून बघारना सीख गया है, अदब लिहाज भूलकर काफी निर्भिक—यानी उदड़ हो गया है। इसी उत्साह में प्रेमचन्द ने होली का वर्णन किया है। होली के पूरे उत्सव के साथ उन्होंने महाजन शिगुरीसिंह के शोषण चक्र का पर्दाफाश किया है। होली के अवसर पर की गयी नकल में असल की झाँकी प्रस्तुत की गयी है कि किस तरह महाजन दस रुपये उधार लिखता है और पाँच रुपये देता है, क्योंकि उनमें से एक रुपया नजराने का, एक तहरीर का एक कागद का, एक दस्तूरी का और एक रुपया सूद का काट लेता है।

प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में जमींदार को एक पतनोन्मुख शक्ति के रूप में चित्रित किया है, परन्तु महाजनो को कहीं भी कमजोर नहीं दिखाया है। उनकी बढ़ती हुई शक्ति का जिक्र किया है। यहाँ तक कि उद्योगपति खन्ना भी लेन देन करते हैं। यह महाजनों का घघा व्यापक रूप से चल रहा है। इसकी चुगल में होरी और शोभा ही नहीं, रायसाहब अमरपाल सिंह भी हैं। क्या वास्तव में महाजन ही समाज का मुख्य शत्रु है ?

प्रेमचन्द ने बहुत सूक्ष्म तरीके से होरी और गोबर की चेतना में फर्क दिखाया है। हालांकि होरी की ट्रेजडी उन्हें ज्यादा आकर्षित करती रही है, पर व्यापक इतिहास बोध के कारण उन्होंने दिखाया है कि गोबर अगला पात्र है। वास्तव में होरी समस्त भारतीय किसानों का प्रतिनिधि नहीं है, बल्कि एक ऐतिहासिक दौर में लुप्त होता हुआ, मिटता हुआ भारतीय किसान है। उसकी ट्रेजडी अनिवार्य है। पड़ित दातादीन महाजन है। उन्होंने होरी को तीस रुपये दिये थे, जो अब दो सौ हो गये हैं। गोबर एक रुपया सैकड़ा का ब्याज लगाकर सत्तर रुपये देने का प्रस्ताव रखता है। दातादीन उबल पड़ते हैं और अपने ब्राह्मणत्व की दुहाई देते हैं। 'दातादीन झल्लाए हुए लौट पड़े। गोबर अपनी जगह बैठा रहा। मगर होरी के पेट में घमं की त्राति मची हुई थी। अगर ठाकुर या वनिय के रुपये होते, तो उसे ज्यादा चिंता न रहती, लेकिन ब्राह्मण के रुपये।' 49

इसी तरह एक दिन होरी और धनिया से गोबर कहता है कि 'मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं।' 50 धनिया सोचती है कि आखिर गोबर में इतना स्वार्थीपन आया

कहाँ से ? उसकी नजर बार-बार झुनिया की सीख पर जाती है। होरी चिढ़ते हुए धनिया को समझाता है कि 'जब देखो तब तू झुनिया ही को दोष देती है। यह नहीं समझती कि अपना सोना खोटा तो सोनार का क्या दोष। गोबर उसे न ले जाता तो क्या आप से आप चली जाती ? सहर का दाना-पानी लगने से लौंडे की आँखें बरस गईं, ऐसा क्यों नहीं समझ लेती।' ⁵¹

वास्तव में यह दो जीवन दृष्टियों का अंतर है। होरी समुक्त परिवार की चेतना का व्यक्ति है, जबकि गोबर के जीवन में व्यक्तिवाद का प्रवेश होने लगा है। पिता-पुत्र के संबंधों के तनाव का कारण दृष्टि संबंधी यही भिन्नता है।

प्रेमचन्द ने शहर और गाँव दोनों जगह यह बताया कि इस समाज में धन की सत्ता है। मि० मेहता खन्ना से कहते हैं : 'लक्ष्मीपतिया की बदौलत ही हमारी बड़ी गरीब मस्याएँ चलती हैं। राष्ट्रीय आंदोलन को दो-तीन साल तक बिसने इतनी धन ने चलाया। इतनी धर्मशालाएँ और पाठशालाएँ बोन बनवा रहा है ? आज न ११ शासन सून बैंकरो के हाथ में है। सरकार उनके हाथ का खिलौना है।' ⁵²

गाँव में झिगुरीसिंह दातादीन से कहते हैं :

'कानून और न्याय उसका है, जिसके पास पैसा है, कानून तो है कि महाजन किमी आसामी के साथ कड़ाई न करे, कोई जमींदार किसी कास्तकार के साथ सख्ती न करे, मगर होता क्या है ? रोज ही देखते हो। जमींदार मुसक बधवा के पिटावाता है और महाजन लात जूते से बात करता है।' ⁵³

बुद्धिजीवी मेहता किसान-समस्या को दूसरी दृष्टि से देखते हैं। उनके अनुसार—'काश, ये आदमी ज्यादा और देवता कम होते, तो यो न ठुकराए जाते। देश में कुछ भी हो, क्रांति ही क्यों न आ जाए, इनसे कोई मतलब नहीं। कोई दल उनके सामने सबल के रूप में आये, उसके सामने सिर झुकाने को तैयार। उनको निरीहता जड़ता की हद तक पहुँच गई है जिसे कठोर आघात ही कर्मण्य बना सकता है।' ⁵⁴

होरी की दशा यह हो गई कि अंत में अपनी बेटी बेचनी पड़ी। रामसेवक नामक बूढ़े व्यक्ति से उसकी शादी कर दी गयी। होरी यह सबसे बड़ी हार थी। जीवन से लड़ते-लड़ते अंत में होरी की मृत्यु हो जाती है। वही महाजन पंडित दातादीन कहता है, गोदान करा दो। जिस गाय के लिए वह जीवन-भर सघर्ष करता रहा, पर नहीं मिली, मरने पर ब्राह्मण उसी 'गाय' का दान माँगता है। धनिया कहती है—'महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं। यही इनका गोदान है।' ⁵⁵

'और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।' ⁵⁵

वास्तव में 'गोदान' के अंत में करुण प्रसंग सिर्फ होरी की मौत ही नहीं है, जैसा होरी है, उसकी मौत की करुणा का एहसास तब होता है जब इसके कारण धनिया गिर पड़ती है। वह धनिया, जो किसी को कुछ नहीं समझती थी, आखिर उसकी शक्ति का स्रोत यह ढीला-ढाला गमखोर होरी ही था। धनिया की शक्ति में होरी की उपस्थिति का तेज निहित है।

अंतिम रचनाएँ

प्रेमचन्द ने अपने जीवन के अंतिम दिनों में जो रचनाएँ लिखी थीं, उनमें उनके साहित्य के नये मोड़ की सूचना मिलती है। प्रेमचन्द का चिंतन, जीवन दृष्टि और कलात्मकता की दृष्टि से 'कफन' पिछली परंपरा को नकारती हुई नये यथार्थवाद की घोषणा करती है।

इस कहानी में प्रेमचन्द का चित्रण बहुत महत्वपूर्ण है। गाँव जीवन की पृष्ठभूमि कहानी में है। मुख्य पात्र चमार है। समाज में निहित अमानवीयता की सीमा इस कहानी में है, जबकि धीसू और माधव में मानवीय भावों का चिह्न भी नहीं बचा है। उनके जीवन और पशुओं के जीवन में कोई अन्तर नहीं है। पेट भरना ही उनके होने की शर्त है। इस सदर्म में भी उनके पास कोई लम्बी योजना नहीं है। सामने पड़े आलुओं को खाना ही अभीष्ट है—कोई, चाहे वह उनका कितना ही बड़ा हितपी ब्यो न हो, मर भी जाये तो भी वे उसको (बुधिया को) बचाने का प्रयास नहीं करते हैं। मानवीय भावों के अभाव का हाल तो यह है कि वे बुधिया को मृत्यु को इस तरह लेते हैं जैसे यह कोई अतिसामान्य दैनिक घटना हो। अत्यंत गरीबी की हालत में भी वे मजदूरी करने नहीं जाते। जिस समाज में रात दिन मेहनत वालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी, और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी।⁵⁶ ऐसी पृष्ठभूमि से निकले हुए धीसू और माधव ऐसे पात्र हैं जिनको अपनी आवश्यकताओं का भी ज्ञान नहीं है। भयंकर अलगाव के शिकार ये पात्र पाठकों में दहशत के भाव पैदा करते हैं।

इस कहानी के मूल में बुधिया की अकाल मौत है। लेखक ने जानबूझकर उसकी मौत का वर्णन संक्षेप में, चलताऊ ढंग से किया है। फिर भी पृष्ठभूमि के संगीत की तरह मौत की छाया कहानी में मडराती रहती है। यह कहानी घटना के हर मोड़ को अर्थ देती है, और उसे बिखरने नहीं देती। इस मौत के साथ शराबखाने के दृश्य को मिलाकर देखने पर दोनों की तीव्रता का एहसास होता है।

प्रेमचन्द ने इन दोनों को नायक नहीं बनाया है लेकिन खलनायक भी नहीं बनाया है। उनकी पतनशीलता को रेखांकित किया है। इस कारण कहानी में पात्र महत्वपूर्ण नहीं रहते, वह सामाजिक यथार्थ महत्वपूर्ण हो जाता है जिससे कि उन पात्रों की उत्पत्ति हुई। लेखक उनका आदर्शिकरण करके उन्हें 'नायक' भी बना सकता था और बुधिया के हत्यारे दिखाकर खलनायक भी बना सकता था। दोनों स्थितियों में कहानी बहुत कमजोर होती।

पात्रों की स्थिति यह है कि वे अस्तित्व मात्र रह गये हैं। कहानी के तीनों पात्रों का सबंध सबंधहीन स्थिति में है। धीसू और माधव बभी बाप बेटे की तरह सामने नहीं आते और यहाँ तक कि बुधिया के प्रति भी दोनों के रूप में कोई विशेष अंतर नहीं लगता।

इस कहानी में प्रेमचन्द ने आशावाद को नहीं दिखाया है। बल्कि इसमें यथार्थवादी निराशा है। पिछली रचनाओं में प्रेमचन्द ने समाज को बदलने की व्यक्ति की शक्ति को रेखांकित किया है—उनमें यथार्थ से एक खास तरह का अज्ञान भी था। यह निराशा व्यवस्था के वास्तविक ज्ञान से पैदा हुई है, अतः इसमें व्यवस्था की क्रूरता का एहसास ज्यादा है। कुल मिलाकर यह प्रेमचन्द के परिवर्तित भाव-बोध को सूचित करता है। स्वाधीनता आंदोलन के विद्यमान रूप से उनका घटता हुआ असंतोष और नयी शक्तियों का अभाव इस कहानी के मूल में है।

मंगलसूत्र :

प्रेमचन्द की जीवनदृष्टि में 1934 से ही कुछ परिवर्तन होने लगे थे (जिसका जिक्र हमने पिछले अध्याय में किया है) उन्हीं का विकसित रूप उनकी अंतिम कृतियों में मिलता है।

‘मंगलसूत्र’ (1936) के मूल में एक नैतिक चिंता है। इसमें लेखक ने अपने जीवन और जीवनानुभवों को रेखांकित करने का प्रयास किया है और यह इस आतंक तथा एहसास के बीच किया है कि उनके अपने पिछले जीवन में कितना ‘आदर्शवादी मोह’ रहा था। इस अपूर्ण उपन्यास में इस मोह के टूटने का एहसास और दर्द है। उन्हें एकाएक अपने चिंतन, अपने युग और राजनीति से अलगाव का एहसास होता है। देवकुमार के आत्मचिंतन में पूरे गांधी युग की समीक्षा है। देवकुमार को प्रेमचन्द ने इस पतनोन्मुख समाज में ‘शुद्ध चेतना’ की तरह प्रस्तुत किया है।

इसमें उन्होंने स्वतंत्रता की नवीन व्याख्या की और नारी-स्वतंत्रता का समर्थन किया। ‘स्वतंत्रता’ की बुर्जुआ धारणा का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा कि ‘बाजार लगा हुआ है। जो चाहे वहाँ से अपनी इच्छा की चीज खरीद सकता है। मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसे हैं और सबके पास पैसे नहीं हैं तो सबका बराबर का अधिकार कैसे माना जाय।’⁵⁷

इसी तरह आदर्शवादी देवत्व की धारणा का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा, ‘हाँ, देवता हमेशा रहेंगे और हमेशा रहे हैं। उन्हें अब भी ससार धर्म और नीति पर चलना हुआ नजर आता है। वे अपने जीवन की आहुति देकर ससार से विदा हो जाते हैं। लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो? कायर कहो; आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे।’ देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर और भक्ति की भ्रांतियाँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्य ने अब तक इसका अंत कर दिया होता या समाज का ही अंत कर दिया होता जो इस दशा में जिंदा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिंदों के बीच में, उनसे सड़ने के लिए, हथियार बाँधना पड़ेगा।⁵⁸

वास्तव में प्रेमचन्द ने अपनी अंतिम रचनाओं में दिखाया है कि व्यवस्था कितनी भयावह और जटिल है, उसके मुकाबले आत्मगत तैयारी (विरोधी शक्तियाँ) कितनी कम या लगभग नगण्य हैं। ‘वफ़ा’ और ‘मंगलसूत्र’ का लेखक राष्ट्रीय आंदोलन की प्रकृति और प्रगति से काफी निराश लगता है। साथ ही विकल्प के रूप में

नयी शक्ति भी उनके सामने नहीं है। यह अविश्वास और आस्थाहीनता अंतिम रचनाओं में मुख्य रूप में मिलती है। यह प्रेमचन्द के 'आदर्शवाद' की पराजय है, जिसमें वह व्यक्ति को असौम्य शक्तियों और सभावनाओं का पुज मानते थे। हालांकि व्यक्ति की शक्ति का एहसास अब भी कम नहीं हुआ, फिर भी इस व्यवस्था की उनकी पहचान ज्यादा गहरी हुई है और पहचान की वृद्धि के साथ शक्ति की सीमा का भी पता चला है और लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता-सा लगता है कि इस व्यवस्था से लड़ने के लिए मात्र 'शक्ति' की ही जरूरत नहीं है, सम्भव विवेक और सामाजिक सक्रियता भी चाहिए।

सन्दर्भ

- 1 पूर्वग्रह' (मासिक) अक बीस, मई-जून, 1977 में प्रकाशित मुक्तिबोध का लेख—'मा की मार्कत प्रेमचन्द', पृ० 11
- 2 मानसरोवर, भाग 1, पृ० 54, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973
- 3 "उसकी आत्मा इस समय स्वीकार कर रही थी कि उस निर्दय प्रहार में कर्तव्य के भाव का लेश भी न था—केवल स्वार्थ था, कारगुजारी दिखाने की हवस और अफसरो को खुश करने की लिप्सा थी।" वही, पृ० 59
- 4 वही, पृ० 258
- 5 मानसरोवर, भाग 7, पृ० 68, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1976
6. कपन, ('आहुति' शीर्षक कहानी), पृ० 104-105, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद।
7. मानसरोवर, भाग 1, पृ० 303
- 8 मानसरोवर, भाग 2, पृ० 119, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1973
- 9 मानसरोवर, भाग 1, पृ० 163
- 10 गबन, पृ० 50
- 11 बलम का सिपाही, पृ० 445-446
- 12 गबा, पृ० 172, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1975
- 13 गबन, पृ० 27
- 14 ' सब कठपूरे के बगल में जमीन पर बैठे हुए थे। सभी के हाथों में हथकड़ियाँ थी, पैरों में जेड़ियाँ। कोई लेटा था, कोई बैठा था, कोई आपस में बातें कर रहा था। दो पजे लड़ा रहे थे। दो में किसी विषम पर बहम हो रही थी। सभी प्रसन्नचित्त थे। घबराहट, निराशा या शोक का किसी के चेहरे पर चिह्न भी न था।" गबन, पृ० 267
15. गबन, पृ० 2०9
16. कर्मभूमि, पृ० 5
17. वही, पृ० 125
- 18 वही, पृ० 144
19. वही पृ० 269
- 20 वही, पृ० 286
- 21 वही, पृ० 244

22. वही, पृ० 352
- 23 मानसरोवर, भाग 1, पृ० 330
- 24 "The appeal to national independence and national character is necessarily connected with a re awakening of national history, with memories of the past, of past greatness, of moments of national dishonour, whether this results in a progressive or reactionary ideology' 'The Historical Novel', pp 23 by Georg Luckacs, Penguin Books Ltd Harmondsworth, Middle sex, England 1976
- 25 मानसरोवर, भाग 1, पृ० 165
- 26 मानसरोवर, भाग 2, पृ० 165
- 27 वही, पृ० 151
- 28 मानसरोवर, भाग 1, पृ० 142
- 29 वही, पृ० 231
- 30 वही, पृ० 49
- 31 गोदान, पृ० 8 सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद 1976
- 32 वही, पृ० 13
- 33 वही, पृ० 15
- 34 वही, पृ० 21
- 35 वही, पृ० 33
- 36 वही, पृ० 33
- 37 वही, पृ० 32
- 38 वही, पृ० 46
39. वही, पृ० 46
- 40 वही, पृ० 90
41. वही, पृ० 97
- 42 वही, पृ० 98
- 43 वही, पृ० 106
- 44 वही, पृ० 108 109
- 45 वही, पृ० 113
- 46 वही, पृ० 155
- 47 वही, पृ० 168
- 48 वही, पृ० 177
- 49 वही, पृ० 184
- 50 वही, पृ० 189
- 51 गोदान, पृ० 203
- 52 वही, पृ० 199

- 53. वही, पृ० 205
- 54. वही, पृ० 257
- 55. वही, पृ० 300
- 56. कफन, पृ० 7
- 57. प्रेमचन्द स्मृति, पृ० 263
- 58. वही, पृ० 293

प्रेमचन्द के साहित्य में किसानों के आर्थिक शोषण की प्रक्रिया

प्रेमचन्द के साहित्य में उपनिवेशकालीन भारतीय किसान का चित्रण मिलता है। उनके साहित्य के कलात्मक पक्ष की समुचित व्याख्या करने के लिए उनके साहित्य के सामाजिक-आर्थिक पक्ष का अध्ययन भी अपेक्षित है। उनकी सज्जनात्मक कल्पना जिस सामाजिक यथार्थ के ज्ञान पर टिकी हुई है, उससे उनकी सज्जनात्मक कल्पना की शक्ति निर्धारित हुई है। प्रेमचन्द साहित्य में साहित्यालोचको और इतिहासकारों दोनों ने गहरी रुचि दिखाई है। साहित्यालोचकों ने प्रेमचन्द की सज्जनात्मक प्रतिभा को पारिभाषित करने का प्रयास किया है, जबकि इतिहासकारों ने तत्कालीन भारतीय समाज को समझने के लिए उनके साहित्य का उपयोग किया है। आलोचकों ने 'प्रेमाश्रम' की परिकल्पना की प्रशंसा या निंदा की, इतिहासकारों ने इस परिकल्पना के नौवें भारतीय किसान की वास्तविक हालत (जो 'प्रेमाश्रम' में चित्रित है) के चित्रण की दाद दी। तथ्य और कल्पना, इतिहास और परिकल्पना, समाज और कला का जो अन्तर्विरोध प्रेमचन्द की रचनाओं में मिलता है, उसे समुचित रीति से समझने के लिए प्रेमचन्द के विश्लेषणकर्ता में इतिहास और कला—दोनों की दृष्टियाँ अपेक्षित हैं। उसके लिए प्रेमचन्द का साहित्य न तो तथ्यों का तथ्यात्मक सङ्कलन है और न 'कालातीत कला दृष्टि' के दुर्लभ नमूने। प्रेमचन्द साहित्य के ऐतिहासिक आधार को समझकर ही उनके कलात्मक वैभव का मूल्यांकन किया जा सकता है।

प्रेमचन्द साहित्य केन्द्र में तत्कालीन भारतीय किसान है। उनकी सम्पूर्ण कला चेतना भारतीय किसान की जीवन पद्धति से प्रभावित और निर्धारित हुई है। उनके साहित्य का एक बड़े हिस्से का विषय क्षेत्र किसान जीवन से लिया गया है। उनकी सर्वोत्तम रचनाएँ वे ही मानी गयी हैं, जिनमें भारतीय किसान का चित्रण प्रमुख है। 'गोदान', 'प्रेमाश्रम', 'बर्मभूमि' जैसे उपन्यासों और 'पंच परमाङ्ग', 'मुक्तिमार्ग', 'पूँस की रात', 'कफन' जैसी कहानियों में भारतीय किसान जीवन के विविध पक्षों को ही उभार कर सामने रखा गया है। इससे उभरा जा जिस रचनाओं के विषय किसानों में सम्बन्धित नहीं हैं उनमें भी कहीं न कहीं किसान दृष्टि का उपयोग किया गया है। इसलिए भारतीय किसान के जीवन यथार्थ की वास्तविक और ऐतिहासिक स्थिति का विश्लेषण आवश्यक है। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में किसान को जिस 'जमीन' पर खड़ा किया है, उसकी पडताल आवश्यक है।

प्रेमचन्द मानते हैं कि किसान समाज का आधार होता है। समाज का उत्पादक वर्ग किसान है उसी की उन्नति से देश की उन्नति से देश की उन्नति सम्भव है।

उसकी बदहाली देश की बदहाली है। उपनिवेशिक भारत में किसान की हालत सबसे दयनीय है। सभी उसके शत्रु हैं, उसका कोई मित्र नहीं। तत्कालीन समाज में किसान "सबका नरम चारा है। पटवारी को नजराना और दस्तूरी न दे, तो गांव में रहना मुश्किल। जमींदार के चपरासी और कारिंदों का पेट न भरे तो निवाह न हो। यानेदार और कारिंदों तो जैसे उसके दामाद हैं। जब उनका दौरा गांव में हो जाय, किसानों का धरम है, वह उनका आदर-सत्कार करें, नगरनयाज दे, नहीं एक रिपोट में गांव का गांव बंध जाय। कभी कानूनगो आते हैं, कभी तहसीलदार, कभी डिप्टी, कभी जण्ट, कभी क्लर्क, कभी कमिशनर। किसान को उनके सामने हाथ बांधे हाजिर रहना चाहिए। उनके लिए रमद-चारे, अडे-मुर्गी दूध-घी का इन्तजाम करना चाहिए।" एक डाक्टर बुआ में दवाई डालने के लिए आने लगा है। एक दूसरा डाक्टर कभी-कभी आकर दोरी को देखता है लडकों का इम्तिहान लेने वाला इन्स्पेक्टर है, न जाने किस-जिम महार में के अफसर हैं, नहर के अलग, जंगल के अलग, ताड़ी-मराव के अलग, गांव-सुधार के अलग, सेती-विभाग के अलग। कहीं तक गिनाऊं। पादरी आ जाना है तो उसे भी रसद देना पड़ता है, नहीं शिकायत कर दे। और जो कहो कि इतने महकमों और इतने अफसरों से किसान का कुछ उपकार होता हो, तो नाम को नहीं। कभी जमींदार ने गांव पर हुल पीछे दो-दो रुपये चन्दा लगाया। किसी बड़े अफसर की दावत की थी। किसानों ने देन से इन्कार कर दिया। बस, उसने सारे गांव पर जाफा कर दिया। हाकिम भी जमींदार ही का पण्ड करते हैं। यह नहीं सोचते कि किसान भी आदमी हैं, उनके भी बाल-बच्चे हैं, उनकी भी इज्जत-आबरू है। और यह सब हमारे दबूपन का फल है।" ¹ ये विचार 'गोदान' के अन्तिम पृष्ठों में रामसेवक रखता है। एक तरह से किसान और स्वयं प्रेमचंद ने अपने जीवन के अनुभव और निरीक्षण का फल इन पंक्तियों में डाल दिया है। उपनिवेशवादी समाज में सबसे ज्यादा शोषित और पीड़ित अवस्था में होता है, तो वह किसान ही होता है।

प्रेमचंद उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में किसान की भूमिका को निर्णायक मानते हैं, लेकिन वे यह भी मानते हैं कि राष्ट्रीय पार्टियां और आधुनिक बुद्धिजीवी ही किसानों का नेतृत्व कर सकते हैं। उपनिवेशवाद के विरोध में किसानों की भूमिका के सन्दर्भ में फ्रेंज फेनन का मत है कि उपनिवेशिक देशों में मात्र किसान ही प्रांतिकारी होते हैं, क्योंकि उनके पास खोने के लिए कुछ नहीं होता जबकि पाने के लिए सभी कुछ होता है। ² प्रेमचंद की रचनाओं में किसानों की प्रांतिकारी कार्यवाही का चित्रण उतना नहीं मिलता, जितना उनकी बदहाली का मिलता है। उन्होंने किसानों की परिवर्तनकारी शक्ति की सम्भावनाओं का संकेत किया है। उनकी रचनाओं में ('कायाकल्प' और 'कर्मभूमि') किसानों और राष्ट्रीय नेताओं के सुसंगत, सही सम्बन्धों का भी चित्रण नहीं है। अमरकान्त किसानों को संगठित करने का प्रयास करता है, किसान अपनी चेतना के अनुरूप प्रतिक्रिया करते हैं। फिर भी ऐसा नहीं लगता कि दोनों में वह सम्बन्ध स्थापित हो गया है, जिसे प्रेमचंद अपना आदर्श मानते हैं। वास्तव में यह भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की सीमा है, जो

उनकी रचनाओं में व्यक्त हुई है। पुरुषोत्तमदास टडन, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने उस युग में किसानों को संगठित करने का प्रयास किया था। उनकी रचनाओं और भाषणों में भी वही कशमकश दिखाई देती है।

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में व्यवस्थित रूप से और विस्तार से किसानों की बड़हाली के कारणों का जिक्र किया है। उनकी रचनाओं का विश्लेषण करके हम किसानों के दोस्तों और दुश्मनों को ज्यादा अच्छी तरह से समझ सकते हैं। साहित्यिक कृति ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं होती, सर्जनात्मक कृति होती है, अतः कृति में से तथ्यों को निकालना जोखिम भरा काम होता है। रचनाकार तथ्यों के आधार पर नवीन कल्पना करता है। एक तरह से वह तथ्यों की भाषा का अनुवाद कल्पना की भाषा में करता है। हमारे सामने यह अनूदित सामग्री ही आती है। इस कल्पना की भाषा का हम पुनः तथ्यों की भाषा में अनुवाद करना होता है। इस अनुवाद में जरा-सी चूक होने पर कई गलत निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इसलिए कृति का अध्ययन करने के लिए कुछ प्रश्नों से शुरुआत की जानी चाहिए। इस अध्याय का मुख्य प्रश्न यह है कि प्रेमचन्द की रचनाओं में चित्रित किसान के शोषण का मुख्य रूप क्या है?

प्रेमचन्द की रचनाओं में किसान के शोषण की प्रकृति

किसानों का शोषण सामन्तवादी समाज में भी होता है और पूँजीवादी समाज में भी होता है, लेकिन उपनिवेशों में किसान के शोषण का रूप इन दोनों से अलग होता है। उपनिवेशवादी व्यवस्था में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शोषण करता है, सिर्फ किसान का ही शोषण नहीं करता। चूँकि उपनिवेशों में किसान ही ज्यादा रहते हैं या उनका ही शोषण मुख्य रूप से होता है, अतः किसान का शोषण राष्ट्रीय शोषण के रूप में सामने आता है। साम्राज्यवादी अंग्रेजों की आय का मुख्य स्रोत जमीन की मालगुजारी था। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में साम्राज्यवादियों द्वारा राष्ट्रीय शोषण का चित्रण मुख्य रूप से नहीं किया है (इस ओर संकेत अवश्य किया गया है), इस रूप में नहीं किया है, जैसे कि अंग्रेज भारत का शोषण कर रहे हैं। उनकी रचनाओं की मुख्य चिन्ता यह नहीं है कि अंग्रेजी पूँजी भारतीयों का शोषण कर रही है, कच्चा माल खरीदकर अंग्रेजी उद्योग-धन्धों को बढ़ाया जा रहा है, ऐसी ऐसी योजनाएँ बनायी जा रही हैं, जिससे भारतीय पूँजी इंग्लैंड जा रही है। उनकी रचनाओं में इन सबका संकेत तो अवश्य है, लेकिन संकेत ही है, विस्तार से इसको मुख्य बिन्दु नहीं बनाया गया है। उनकी मुख्य चिन्ता किसान का शोषण है। उन्होंने किसान के शोषकों को एक कड़ी के रूप में अंग्रेजी साम्राज्यवाद को देखा। उन्होंने यह भी दिखाया है कि किसान के शोषण का कारण ब्रिटिश साम्राज्यवादी ही हैं, उन्हीं के कारण जमींदार और मूदखोर—तथा इनकी नौकरशाही शोषण कर रही है। प्रेमचन्द ने ऊपर से राष्ट्रीय शोषक के रूप में साम्राज्यवाद को न देखकर, नीचे से—किसानों के शोषकों के रूप में साम्राज्यवाद को देखा। प्रेमचन्द

अन्द मानते हैं कि १९१९

१. एक वर्ग किसान है उसी की उन्नति से देश

प्रथमतः किसानों के पक्षधर थे, इसी कारण साम्राज्यवाद विरोधी थे। वे साम्राज्यवाद विरोधी थे, इसलिए किसानों के पक्षधर नहीं थे।

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में सम्पूर्ण भारत के किसानों के शोषण के विविध रूपों का चित्रण नहीं किया है। जैसे अंग्रेजों ने बंगाल व बिहार (आधुनिक) के कुछ हिस्से में किसानों को नील की खेती करने के लिए बाध्य किया था, या कुछ स्थानों पर जूट चाय आदि के अनिवार्य उत्पादन की व्यवस्था की थी, उनका चित्रण प्रेमचन्द की रचनाओं में नहीं है। यह साम्राज्यवादियों द्वारा किसानों का मीठा और नग्न शोषण है। भारत में भूमि-व्यवस्था के रैयतवारी प्रबन्ध में किसानों के शोषण की प्रक्रिया का चित्रण भी नहीं किया गया है। 'प्रेमाश्रम' में तो मायाशंकर अपने भाषण में कहता है कि राजा (जो कि अंग्रेज है) को कर लेने का अधिकार है, राजा और किसानों के बीच शोषकों की विशाल श्रेणियाँ बनो हुई हैं, उन्हें नहीं होना चाहिए। उन्होंने देशी भारत में किसानों का शोषण का चित्रण नहीं किया है। सिर्फ 'रंगभूमि' में किसानों की पीड़ाओं की सांकेतिक अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने मुख्य रूप से जमींदारी व्यवस्था में रह रहे उत्तरी भारत के किसानों की हालत का वर्णन किया है। विशेष रूप से रायबरेली, प्रतापगढ़, बनारस, लखनऊ, फैजाबाद के आसपास के किसानों को अपनी रचनाओं में उपस्थित किया है। 'इस्तमारी बन्दोबस्त' के अन्तर्गत किसानों के शोषण की प्रक्रिया का चित्रण उन्होंने किया है। 'प्रेमाश्रम' के अन्त में उन्होंने जमींदारहीन गाँव को आदर्श गाँव के रूप में उपस्थित किया है।

प्रेमचन्द प्राथमिक रूप से जमींदार विरोधी थे और इसी प्रक्रिया में, इसीलिए साम्राज्यवाद विरोधी भी थे। साम्राज्यवाद किसानों के शोषण की अदृश्य और मुख्य कड़ी 'कर्मभूमि', 'गोदान' जैसी रचनाओं में है।

प्रेमचन्द ने मुख्य रूप से शोषण के उन रूपों को सामने रखा, जो कि भारतीय किसान के दैनिक जीवन से सम्बद्ध थे, जिनका मूर्तिमान रूप किसान के सामने प्रत्यक्ष था, जिसे समझाने से किसान समझ सकता था। किसान के दैनिक अनुभवों से अलग, दूरस्थ साम्राज्यवादी नीतियों और रूपों को चित्रित करने का प्रयास प्रेमचन्द ने नहीं किया। मगनन 'गोदान' में किसान के शोषकों की कतार में खन्ना भी है, जो बैंकर है। रायसाहब बैंक से कर्ज लेना चाहते हैं, खन्ना उनसे कमशील माँगता है। जाहिर है कि रायसाहब जो कमीशन और सूद देंगे, वह होरी जैसे किसानों से ही वसूल होगा। इस तरह होरी के शोषण में बैंकों का भी हाथ हुआ। खन्ना शक्कर की मिल खोलता है, किसानों से गन्ने खरीदता है, इस तरह गुड का कार्य बन्द करवाता है। मिल के मनेजर से मिलकर सूदखोर झिगुरी सिंह किसानों के रुपये ले लेता है। शोषण के इस अप्रत्यक्ष में लगने वाले रूप को किसान अपनी व्यावहारिक बुद्धि में समझ सकता है। प्रेमचन्द ने इसे समझाया है। लेकिन, वही लोग थे, जिन्होंने इस बैंक को खोला, बैंक के माध्यम से भारतीय किसानों का अप्रत्यक्ष और 'सूदम' शोषण किस प्रकार सहा रहा है, साम्राज्यवादियों की जिन नवीन नीतियों के तहत बैंक-यूजी भारत में आ रही है, इस लाभ का अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम क्या होने जा रहा है—और होरी के व्यक्तिगत जीवन पर इन नीतियों का क्या

प्रभाव पड़ने जा रहा है—इन प्रश्नों और समस्याओं का चित्रण प्रेमचन्द की रचनाओं में नहीं मिलता। इन जटिल सवालों की दीवार की ओर प्रेमचन्द ने इशारा भर कर दिया है। ये सवाल उनकी रचनात्मक योजना के अंग नहीं बन पाए। इसी तरह 'बर्म-भूमि' में महामन्दी के दौर में भारतीय किसान की हालत का वर्णन मिलता है। यह मन्दी क्यों हुई? इस अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी संकट के कारण और परिणाम क्या होंगे? अत्यल्प और अत्यधिक उत्पादन में उत्पन्न संकट विश्व में कौन-सा वर्ग कर रहा है? इन सब बातों का विवरण 'कर्मभूमि' में नहीं है। इस संकट रूप का भारतीय किसानों पर जो प्रभाव पड़ा है, प्रेमचन्द ने उसी को रचनात्मक रूप प्रदान किया है। अतः कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द की रचनाओं में साम्राज्यवादियों के शोषण की सम्पूर्ण-प्रक्रिया नहीं मिलती है, किसान जिसे देख सके, उस शोषण को ही उन्होंने दिखाया है। रायमाह्व और खन्ना का व्यक्तित्व तो उनकी रचनाओं में है लेकिन इम्पीरियल बैंक के मालिकों का व्यक्तित्व 'गोदान' में नहीं है। उन्होंने शोषण की अव्यवस्था पर बल दिया है, शोषण के कारणों को उनकी तार्किक परिणति तक नहीं ले गये हैं।

उपनिवेशवादी शोषण और किसान

प्रेमचन्द की रचनाओं में किसान के आर्थिक, सामाजिक और मानवीय शोषण का स्वरूप मिलता है। उनके साहित्य के अध्ययन से सतही तौर पर यह लग सकता है कि उन्होंने जमींदारों के विरुद्ध अर्थात् सामन्ती शोषण के विरुद्ध ही जेहाद बोला है। उनकी राजनीतिक सामाजिक टिप्पणियों में साम्राज्यवाद विरोधी भाव उभर कर सामन आय हैं, उनके सर्जनात्मक साहित्य में सामन्तवाद विरोधी स्वर प्रमुखतः सुनायी देता है। प्रश्न यह उठता है कि जमींदारी-प्रथा का विरोध क्या सिर्फ सामन्तवाद विरोध ही है, या वह साम्राज्यवाद विरोध भी है? भारत में भूमि व्यवस्था का पिछला इतिहास देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इन जमींदारों की सृष्टि यहाँ अंग्रेजों ने की थी। अपने शासन की स्थायी बनाये रखने के लिए उन्हें भारतीय समाज के एक वर्ग का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक था। इस सामाजिक और राजनीतिक समर्थन के लिए जमींदारों को खड़ा किया गया। इतिहास गवाह है कि जमींदारों ने संकट के प्रत्येक अवसर पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का साथ दिया। "अंग्रेजों के आने से पहले भारत में एक परम्परा थी कि साल भर की उपज का एक हिस्सा राजा का भाग माना जाता था जो साँझ में खेती करने वाले किसान, जिनका जमीन पर समुक्त स्वामित्व होता था, या अपने गाँव का खुद प्रबन्ध करने वाला ग्रामीण समाज, खिराज या कर के रूप में शासक को दे देता था। सालाना पैदावार के घटने बढ़ने के साथ 'राजा का भाग' भी अपने आप घट-बढ़ जाता था। अंग्रेजों ने इस पुरानी परम्परा को खतम करके एक निश्चित नकद रकम के रूप में मालगुजारी लेना शुरू किया। यह रकम जमीन के हिसाब से तैयार की जाती थी, और साल भर में पैदावार चाहे कम हुई हो, या ज्यादा, जो रकम पहले तैयार कर दी गयी थी वही वसूल की जाती थी। और ज्यादातर मालगुजारी अलग-अलग व्यक्तियों पर लगायी गयी थी, जो या तो खुद खेती करने वाले कृषक थे या सरकार द्वारा नियुक्त किए गए जमींदार

थे। इसके बाद जो कस्तर बची थी, वह भारत में इंग्लैंड के ढंग की जमींदारी प्रथा और वहाँ की पूँजीवादी कानून-व्यवस्था जारी करके पूरी कर दी गयी। इस परिवर्तन के द्वारा व्यवहार में अंग्रेज विजेताओं की हुकूमत का सारी जमीन पर अन्तिम अधिकार कायम हो गया और किसान महज दूसरे की जमीन पर लगान देकर खेती करत वाला बन गया। लगान न देने पर उसे जमीन से बेदखल किया जा सकता था। या, अंग्रेज सरकार ने जमीनें कुछ ऐसे लोगों को दे दी जिनको उसमें जमींदार नामजद करना पसन्द किया। ये लोग भी सरकार की मर्जी से ही जमीन के मालिक थे, और मालगुजारी न देने पर उनसे भी सारी जमीन छीन ली जा सकती थी।³ वास्तव में भारत में यूरोपीय ढंग का सामन्तवाद कभी भी नहीं था। किसानों का जो शोषण ब्रिटिश भारत में जमींदारों द्वारा होता था, उस तरह का शोषण यहाँ कभी नहीं होता था। भारतीय इतिहासकारों में सामन्तवाद के भारतीय स्वरूप के सम्बन्ध में बहुत ग्रहमें हुई हैं।

एक तो, परम्परा से किसान जमीन का मालिक हुआ करता था। जमीन का लगान कर के रूप में लिया जाता था, न कि किराये के रूप में। अंग्रेजों ने जमीन की लगान को किराया बना दिया और इस तरह जमींदारों को किसानों को बेदखल करने का वैधानिक अधिकार दे दिया। मुगलों के समय में जमींदार का काम कर इकट्ठा करना हुआ करता था। सरकार द्वारा नियत निश्चित कर को ही वह इकट्ठा कर सकता था। उसमें से कमीशन के रूप में उसका हिस्सा उसे मिल जाता था, जबकि अंग्रेजों ने एक निश्चित मालगुजारी में सारी जमीन जमींदारों को दे दी। जमींदार किसानों से चाहे जितना लगान बमूल कर सकता है। इन जमींदारों ने बानूनी लगान के साथ-साथ देगार, शमून, नजराना आदि कई गैरकानूनी कर लेने शुरू किए। चूँकि इन जमींदारों की सृष्टि साम्राज्यवाद की नीति के अन्तर्गत हुई थी, अतः इनका विरोध साम्राज्यवाद की नीतियों का विरोध था। स्वाधीनता-आन्दोलन में जवाहर-लाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओं और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने किसान-जमींदार सघर्ष को टालने, शान्तिपूर्वक ढंग से सुलझाने का प्रयास किया और इस तरह उन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन में जमींदारों का भी सहयोग लेना चाहा।⁴ प्रेमचन्द ने कांग्रेस की इस नीति को हमेशा शक्ति नजर से देखा। उनकी रचनाओं में किसानों या जमींदारों के विरुद्ध सघर्ष राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष के आधारभूत अंग के रूप में आया है। 'बापाकल्प' और 'बर्मभूमि' में किसानों के आन्दोलन को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में जमींदारों को किसानों पर अनादर-पक्ष बोझ के रूप में चित्रित किया है। जमींदारों की न तो उत्पादन में कोई भूमिका है और न सामाजिक प्रगति में बल्कि वे उत्पादन में बाधा उपस्थित करने वाले हैं।

सामन्तवादी समाज और औपनिवेशिक समाज के जमींदारों की प्रकृति में बहुत अन्तर होता है। विशेष रूप से भारतीय सामन्तों और किसानों का सम्बन्ध भिन्न प्रकार का रहा है। सामन्तवाद में जमींदारी प्रतिष्ठा की वस्तु होती है, जमींदारों को कुछ मर्यादाएँ होती हैं, जिनका पालन वह करता है। आर्थिक दृष्टि से वह स्वतन्त्र होता है। उसमें किसानों के प्रति (शोषण के बावजूद या साथ ही) अनन्य

का भाव भी होता है। किमान से उसका व्यवितगत सम्बन्ध होता है। चूँकि वह परम्परागत रूप से जमींदार होता है, अतः परम्परा द्वारा प्राप्त अधिकारों का ही उपभोग करता है। जमीन का लगान वह अनाज के रूप में लेता है, अतः 'रूपये' का महत्व ऐसे समाज में कम होता है। ऐसे लोग अपनी सम्पत्ति का हिसाब बीघों के रूप में करते हैं। किसान की पैदावार का बड़ा हिस्सा स्थानीय उपभोग के लिए होता है। उसकी पैदावार से लगाकर लेन-देन का अधिकतर कार्य अनाज से ही हो जाता है। जमींदार किसान का आर्थिक शोषण करता है, उसे कोडों से पिटाता भी है, अपने गाँव से निवाल भी सकता है, लेकिन उसे बर्बाद नहीं करता। तंगी के अवसर पर वह किसान की मदद करता है, ताकि वह सभन जाय।

उपनिवेशवादी समाज में स्थितियों में आधारभूत परिवर्तन हो जाता है। ऐसे समाज में किसान-जमींदार के सामाजिक सम्बन्ध तो वही रहते हैं, लेकिन आर्थिक सम्बन्ध बदल जाते हैं। जमींदारों का अस्तित्व साम्राज्यवादियों की कृपा पर निर्भर करता है। कहने को तो वे कहते रहते हैं कि "प्रजा मेरे पैरों की धूल है। मुझे अधिकार है कि उसके साथ जैसा उचित समझूँ, वैसा सलूब करूँ। किसी को हमारे और हमारी प्रजा के बीच में बोलने का हक नहीं है।"⁵ लेकिन हकीकत यह है कि अंग्रेज हाकिम उन्हें पैरों की धूल के बराबर भी नहीं समझते। यहाँ तक कि देशी रियासतों के राजा (जैसे 'रगभूमि' में उदयपुर का राजा) पोलिटिकल एजेंट के सामने जाने से भी घबराता है। जमींदार किसानों का शोषण तो करते हैं, लेकिन शोषण का यह धन उनके पास नहीं रह पाता। जमींदार छोटा हो या बड़ा, उसे राज्याधिकारियों को प्रसन्न रखना पड़ता है। 'बलिदान' के जमींदार ओकारनाथ कहते हैं कि "तुम समझते होगे कि हम ये रूपये लेकर अपने घर में रख लेते हैं और चैन की बत्ती बजाते हैं। लेकिन हमारे ऊपर जो कुछ गुजराती है, हमी जानते हैं। कही यह चन्दा, कही वह इनाम। इनके मारे कचूमर निकल जाता है। बड़े दिन में सैंकड़ों रूपये डालियों में उड़ जाते हैं। जिसे डाली में दो, वही मुँह फुलाता है। जिन चीजों के लिए लड़के तरसकर रह जाते हैं, उन्हें बाहर मगाकर डालियों में सजाता हूँ। उस पर कानूनगो आ गए, कभी तहसीलदार, कभी डिप्टी साहब का लश्कर आ गया। सब मेरे मेहमान होते हैं। अगर न करूँ तो नक्कू यनू और सबकी आँखों का काँटा बन जाऊँ। साल में हजार-बारह सौ मोदी का इसी रसद खुराक के मद में देने पड़ते हैं। यह सब कहाँ से आवे? बस, यही जो चाहता है कि छोड़कर निकल जाऊँ। लेकिन हमें तो परमात्मा ने इसलिए बनाया है कि एक से रूपया सताकर लें और दूसरे को रो-रोकर दें, यही हमारा काम है।"⁶

लाला ओकारनाथ के इस वचन से जमींदारों की हैसियत स्पष्ट हो जाती है। अकेले ओकारनाथ की ही यह पीड़ा नहीं है, प्रेमचन्द साहित्य का प्रायः प्रत्येक जमींदार अपनी इस व्यथा को धुमा-फिराकर व्यक्त करता है। जमींदारों को लगता है कि उसे निरपराध किसानों को सताना पड़ता है, उनको सताने के पाप का भागी तो जमींदार होता है, लेकिन उससे जो आमदनी होती है उस पर उसका अधिकार नहीं होता। उसे अपनी मर्यादा का पालन करने के लिए हमेशा श्रृणु लेते रहना पड़ता

है। प्रेमचन्द साहित्य का प्रायः प्रत्येक जमींदार, तात्लुकेदार और रायसाहब कर्जदार है। 'गोदान' के रायसाहब कर्ज के लिए खन्ना की खुशामद करते हैं, 'प्रेमाश्रम' के रायसाहब पर भी कर्जा है। यहां तक कि कर्ज रईसों की शान में शामिल हो गया है। 'बड़े घर की बेटी' के तात्लुकेदार पिता का परिचय देते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है—“विशाल भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज, बहरी-शिकरे, झाड़-फानूस, आनरेरी मैजिस्ट्रेटी और श्रृण, जो एक प्रतिष्ठित तात्लुकेदार के भोग्य पदार्थ हैं, सभी यहाँ विद्यमान थे।” किसानों के इतने भयकर शोषण के बावजूद जमींदारों का कर्जदार रहना यह बताता है कि यह शोषण का स्वायत्त सामन्ती तरीका नहीं है, बल्कि उप-निवेशवादी तरीका है।

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में राज्य कर्मचारियों और पोलिटिकल एजेंट के दौरो का विस्तृत वर्णन किया है। ऐसे समय किसानों की जो दुर्गति होती है, उसके लिए जमींदारों को कतई दोष नहीं दिया जा सकता। 'रियासत का दीवान' में पोलिटिकल एजेंट आते हैं, उनके स्वायत्त के लिए जनता के रूपों की पानी की तरह बहाया जाता है। इसा उद्देश्य यह होता है कि एजेंट खुश हो जाये, ताकि सरकार के पास रियासत के पक्ष में रिपोर्ट लिख दे। इसके लिए किसानों से चन्दा लिया जाता है। “पुलिस गांव-गांव चन्दा उगाहती फिरती थी। रकम दीवान साहब नियत करते थे। वसूल करना पुलिस का काम था। फरियाद की कही सुनवाई न थी। चारों ओर ग्राहि-ग्राहि मची हुई थी। हजारों मजदूर सरकारी इमारतों, सजावट और सड़कों की मरम्मत में बेगार भर रहे थे। बंनियों से डण्डों के जोर से रसद जमा की जा रही थी।”¹⁸ आखिर किसलिए इतना अन्याय हुआ? इसलिए कि रियासत का अस्तित्व अंग्रेजी साम्राज्य के प्रतिनिधि पोलिटिकल एजेंट की प्रसन्नता पर निर्भर है। ऐसा कमजोर वर्ग अपनी आत्मरक्षा के लिए दूसरे पर अत्याचार करता है। 'कायाकल्प' के राजा विशाल सिंह को ठोकर मारते हुए ज़िम बहता है, “... तुम बागी का सिफारिश करता है, बागी को पनाह देता है। सरकार का दोस्त बनता है। अबी निकल जाओ। राजा और रंगत सब एक है। हम किसी पर भरोसा नहीं करता। अपने जोर का भरोसा है। राजा का काम बागियों को पकड़वाना, उनका पता लगाना है। उनका सिफारिश करना नहीं। अबी निकल जाओ।”¹⁹

प्रेमचन्द की रचनाओं में जमींदार एक पतनशील और कमजोर वर्ग के रूप में सामने आते हैं। जो सारतः कमजोर है, पराधीन है, लेकिन उपनिवेशवाद के अस्त्र के रूप में किसानों का निर्मम शोषण और अत्याचारी शासक है। उसके पक्ष से किसानों की रचना ही किसानों की तात्कालिक सहायता है। 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर अग्र्यन्त्र चूर ध्वनि है, लेकिन वह भी अपने सहपाठी डिप्टी ज्वालासिंह से ईर्ष्या करता है और वही न वही उसको अपने से 'बड़ा' मानता है। प्रेमचन्द की रचनाओं के सारे जमींदार अन्त में पराजित होते हुए, नष्ट होते हुए सामने आते हैं।

प्रेमचन्द की रचनाओं में दो शासकों की चेतना मौजूद है। सामान्य किसान भी समझता है कि जमींदार के ऊपर भी हाकिम का राज है, जहाँ फरियाद की जा सकती है। मुन्गू चौधरी बालिदा की धमकी का जवाब देते हुए बहता है कि

‘क्या हाकिम का राज नहीं है ?’¹⁰ अंग्रेजों ने उपनिवेशवादी न्याय व्यवस्था की भी स्थापना की थी, कुछ कानून बनाये थे, जिनका पालन करना आवश्यक था। हालांकि इस कानूनी लड़ाई में किसान अधिकतर पराजित ही होते थे, फिर भी वे जमींदारों के खिलाफ न्यायपालिका में फरियाद कर सकते थे।¹¹ ये दो शासकों की चेतना और उनका अस्तित्व प्रत्येक गाँव में मौजूद है। होरी के गाँव में रायसाहब का कारिन्दा नोखेराम भी रहता है और अंग्रेज सरकार का नोकर (पटवारी) पटेश्वरी भी रहता है। होरी के शोपण में इन दोनों की भूमिका होती है। तात्पर्य यह है कि प्रेमचन्द की रचनाओं में जमींदारों द्वारा किया गया किसानों का शोपण शुद्ध सामन्ती शोपण नहीं है, बल्कि उपनिवेशवादी शोपण है।

इसके अलावा उपनिवेशवाद में जमींदारी प्रतिष्ठा की वस्तु नहीं रह जाती, बल्कि लाभ की वस्तु बन जाती है। प्रत्येक व्यक्ति इसलिए जमींदार बनना चाहता है ताकि उसकी आय बड़े इसलिए नहीं कि उसकी गिनती सम्मानित और भद्र लोगों में की जाय। इसलिए वह अपनी जमींदारी की जमीन का हिसाब बीघा के रूप में न करके उपज से प्राप्त आमदनी के रूप में करता है। ‘प्रेमाश्रम’ में लखनपुर दो ढाई हजार सालाना आमदनी का गाँव है। इजाफा लगान का दावा आदि के द्वारा ज्ञानशंकर वहाँ चार हजार रुपये ‘कमाना’ चाहता है। इसी तरह राय कमलानन्द की आमदनी एक लाख रुपये वार्षिक थी। पुराने जमींदार की दृष्टि कुल मर्यादा की रक्षा पर रहती थी, नये जमींदार की दृष्टि लाभ पर केन्द्रित हो गयी। दृष्टि-परिवर्तन के साथ ही किसान जमींदार सम्बन्ध में भी परिवर्तन हो गया। ‘प्रेमाश्रम’ में मनोहर ने पुराने और नये मालिकों का जो अंतर बताया है वह इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। भैया, तब की बातें जान दो। तब साल साल की देन बाकी पड़ जाती थी। मुदा मालिक कभी कुड़की बेदखली नहीं करते थे। जब कोई काम-काज पड़ता था, तब हमको नेवता मिलता था। लड़कियों के ब्याह के लिए उनके यहाँ से लकड़ी चारा और 25 रुपये बँधा हुआ था। यह सब जानते ही नहीं। जब वह अपने लड़के की तरह पालते थे तो रेंयत भी हँसी खुशी उनकी बेगार करती थी। अब यह बातें तो गयी, बस एक न एक पच्चड़ लगा रहता है।¹²

इसका कारण यह है कि जमींदारों को जमींदार एक व्यवसाय समझता है। इस व्यवसाय की हितकर परम्पराओं का तो वह पालन करता है और अपने लिए (जमींदार के लिए) आर्थिक दृष्टि से अहितकर परम्परा का तोड़ देता है। यानि उसके व्यक्तित्व में सामन्तवादी और पूँजीवादी तत्त्वों का मिश्रण होता है। सम्पत्ति का रहस्य के राय साहब परम्पराओं के प्रति अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं ‘मेरे यहाँ कई पुश्तों से जन्माष्टमी का उत्सव मनाया जाता था। कई हजार रुपये पर पानी फिर जाता था। गाना होता था, दावें होती थी, रिश्तेदारों को न्याते दिये जाते थे, गरीबों को कपड़े बाँट जाते थे। बालिद साहब के बाद पहले ही साल में उत्सव बन्द कर दिया। फायदा क्या? मुफ्त में चार पाँच हजार की चपत पड़ती थी। अजी बड़ी दिलचस्पी थी। कस्बे में किसी के यहाँ शादी हो, सबकी मुसस से। पुश्ता से यह रस्म चली आती थी। बालिद तो दूसरों से

दरख्त मोल लेकर इस रस्म को निभाते थे। यी हिमावत या नहीं ? मैंने पौरन लकड़ी देना बन्द कर दिया।”¹³

लेकिन सारे जमींदारों का यह मानसिक-परिवर्तन नहीं हो पाया। उनकी मिथ्या मर्यादा चेतना उनके पतन का कारण बनी। ‘गोदान’ के रायसाहब खन्ना के पास रुपये उधार लेने जाते हैं और बड़ी देर तक खन्ना की खुशामद करते हैं। इसी बीच में मि० मेहता स्त्रियो के लिए व्यायामशाला बनवाने के लिए चन्दा लेने आते हैं। पूँजीवादी खन्ना साफ मना कर देते हैं। लेकिन रायसाहब को अपनी हैसियत देखनी पड़ती है और दस हजार रुपये चंदा दे देते हैं। इस तरह इन जमींदारों को अपने सामंती गौरव की रक्षा करनी पड़ती है लेकिन उनकी आय साम्राज्यवादियों की सेवा में खर्च हो जाती है।

उपनिवेशवादी समाज में राज्य और समाज में एक आंतरिक अलगाव होता है। राज्य और राजकीय व्यवस्था एक दूसरे देश के पूँजीपति वर्ग के हाथ में होती है, लेकिन राज्य सामाजिक जीवन में सामंती सामाजिक संबंधों को बनाए और बचाए रखता है। ऐसे समाज में किसानों के आर्थिक संबंध पूँजीवादी और सामाजिक संबंध सामंतीवादी होते हैं। ‘गोदान’ का होरी बास बेचते समय अपने भाइयों से छिपाकर रुपये ले लेना चाहता है, लेकिन होरी के घर से भाग जाने के बाद उसकी पत्नी पुनिया को आश्रय भी देना है।

इसके अलावा सामंती अर्थव्यवस्था स्थानीय और आत्मनिर्भर होती है। किसान जमींदार से खेत लेता है और उपज का चौथाई हिस्सा उसे दे देता है। लगान अनाज के रूप में लिया जाता है। जबकि उपनिवेशवाद में किसानों की आर्थिक अवस्था विश्व-अर्थव्यवस्था का अंग बन जाती है। लगान का रूप भी बदल जाता है। इसका प्रमाण है। शगुन, मजूराना, जुर्माना आदि सारी रस्में रुपयों से ही पूरी होती हैं। अब किसान अपने खेतों में उन जिनसों का उत्पादन करता है जिसे उसे रुपये मिलें। इसलिए मंडी के लिए उत्पादन होना लगता है। होरी के मर्ने की फसल मिल मालिक खन्ना खरीदता है, यही नहीं विश्व-अर्थव्यवस्था का सीधा प्रभाव प्रत्येक किसान की आर्थिक हालत पर पड़ता है। सन् 1929-30 की ‘महामंदी’ (जो कि यूरोपीय पूँजीवादी संकट का देन थी) का प्रभाव भारतीय किसानों पर भी पड़ा। यहाँ खोज के भाव उस दिन (29-30) में 40 माल पिछले भावों के बराबर हो गये। ‘कमैचूमि’ में प्रेमचंद ने महामंदी के इस व्यापक प्रभाव को दिखाया है। तारा अनाज तोन देने के बावजूद किसान इस हानत में नहीं है कि लगान दे सके। फसल बुर्को और बेदमती होती है। किसान जमींदारों के पास परियाद करने जाते हैं। जमींदार कहते हैं कि जब मरवार अपनी मालगुजारी में कमी नहीं करती तो हम लगान कैसे कम कर सकते हैं? प्रेमचंद की रचनाओं में किसान के जिन शोषण का चित्रण दिया गया है वह साम्राज्यवादी शोषण का ही रूप है। जमींदार तो उनके लिए आड़ है। किसान उन्हें ही अपना मुख्य सन्तुष्टि का स्रोत रखते रहें और इस तरह साम्राज्य गुरीला रहे, यह अर्थशास्त्रियों की नीति थी। प्रेमचंद जैसे बुद्धिशोधियों ने इस आड़ को हथीपथ बनाकर दे दी।

औपनिवेशिक तंत्र और राजकर्मचारी

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में साम्राज्यवाद के अमूर्त और अदृश्य रूप का ही चित्रण नहीं किया है, बल्कि उसे ठोस और अनुभवगत रूप में उपस्थित किया है। इस तरह किसानों के शोषण में लगे साम्राज्यवादी तंत्र को उघाड़ कर सामने रखा है। इस प्रक्रिया में उन्होंने हाकिम बचहरी, पुलिस और तहसील की कार्य-पद्धति को चित्रित किया है। अंग्रेज इन्हीं के माध्यम से किसानों का शोषण करते हैं। लेकिन ये राजकर्मचारी 'माध्यम' मात्र नहीं हैं, बल्कि इनका भी अपना अलग अस्तित्व है। प्रेमचन्द ने इनकी दोहरी और जटिल भूमिका को स्पष्ट किया है। एक तरफ तो उन्होंने यह दिखाया है कि सहृदय और मानवीय राजकर्मचारी भी इस व्यवस्था में अत्याचार करने के लिए बाध्य हैं,¹⁴ दूसरी तरफ यह भी दिखाया गया है कि किसानों की बदहाली में इनकी स्वार्थपरता और अमानवीयता का हाथ कम नहीं है। 'प्रेमाश्रम' में इस जटिल प्रक्रिया का विस्तृत चित्रण मिलता है।

किसानों का परिचय जिन सरकारी कर्मचारियों से होता है, प्रेमचन्द ने उन्हीं कर्मचारियों का चित्रण विस्तार से किया है। जिन कर्मचारियों को किसान नहीं जानते, उनका चित्रण प्रेमचन्द भी नहीं करते। सरकारी कर्मचारियों से किसानों का सामना या तो बचहरी में होता है, या गाँवों में होने वाले हाकिमों के दौरे में होता है, या फिर पुलिस के रूप में होता है। इसके अलावा पटवारी के रूप में एक कर्मचारी गाँव में निवास भी करता है। प्रेमचन्द ने इन सबके स्वतंत्र व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए भी किसानों के साथ उनके संबंध पर ज्यादा ध्यान केन्द्रित किया है।

किसानों के लिए ये कर्मचारी हिमक जन्तु से कम नहीं होते। कार्तिक मास के बाद हाकिमों के दौरे होते हैं। इनका उद्देश्य किसानों की स्थिति की जानकारी करना होता है। लेकिन यहाँ आकर ये लूट मचा देते हैं। "जितना खा सकते हैं, खाते हैं, बार-बार खाते हैं, और जो नहीं खा सकते, वह घर भेजते हैं। धी से भरे हुए बरस्टर, दूध से भरे हुए मटक, उपल और लकड़ी, घास और चारे से सदी हुई गाड़ियाँ शहरों में आन लगती हैं।"¹⁵ इस सब सामूहिक लूट के अलावा इनकी वे सभी अधिकार मिलते हैं, जो जमींदार के पास हैं—जिनमें बेगार, दंड आदि शामिल हैं। जमींदार के नौकर और पुलिस इनकी सहायता करती है। जिस तरह जमींदार से ज्यादा जमींदार का कारिदा किसानों पर अत्याचार करता है, उसी प्रकार अफसर से ज्यादा अफसरी शान उसके मातहतों में होती है। किसान के लिए हाकिम का चपरासी यम के दूत से कम भयावह नहीं होता। 'प्रेमाश्रम' के अलावा 'कर्मभूमि', 'गवर्न', 'गोदान' और अनेक कहानियों में प्रेमचन्द ने ब्रिटिश नौकरशाही का चित्रण किया है।

प्रेमचन्द ने अंग्रेज और देशी हाकिमों में भी अन्तर करने का प्रयास किया है। 'प्रेमाश्रम' का मनोहर चाहता है इजाफा लगान का दावा देशी हाकिमों की इजलास में पेश हुआ करे तो अच्छा है, क्योंकि "हाकिम सोचें आप भी तो जमींदार होते हैं, इसलिए वह जमींदारों का पक्ष करते हैं।"¹⁶ प्रेमचन्द ने हाकिमों को सिर्फ

किसानों के शोषक के रूप में चित्रित नहीं किया है, बल्कि उसे राष्ट्रीय और मानवीय शोषक के रूप में चित्रित किया है। सरकारी नौकरी करने वाले युवक का चारित्रिक पतन दिखाते हुए प्रेमचन्द ने अनेक कहानियाँ लिखी हैं। सरकारी नौकरी में धन-दौलत मिलती है, लेकिन उसे अपनी आत्मा को बेचना पड़ता है। उसके व्यक्तिगत विचारों और भावनाओं का नाश हो जाता है, क्योंकि उसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पुर्जों के रूप में काम करना होता है। जबकि देश-सेवा में लीन व्यक्ति का जीवन निर्धनता परन्तु आत्मिक स्वाधीनता से बीतता है। दो मित्रों का भिन्न विकास इसी कारण होता है। 'कर्मभूमि' के अमर और सलीम में एक देश सेवक और राजकर्मचारी का अंतर है। 'डिफ्टी के रुपये' में कैलाश और नईम के माध्यम से प्रेमचन्द ने इस अन्तर को स्पष्ट किया है। इस तरह का जीवन जीने वाला अंततः 'भाड़े का टट्टू' हो जाता है।

ये राजकर्मचारी जिस तरह स्वाधीनता-आंदोलन का दमन करते हैं, उसी तरह किसानों का भी शोषण करते हैं। जमींदार-किसान संघर्ष में अक्सर ये हाकिम जमींदारों का ही पक्ष लेते हैं, क्योंकि ये खुद भी जमींदार होते हैं। एक स्तर पर हालांकि राजकर्मचारियों और जमींदारों में अन्तर्विरोध होता है, लेकिन यह उनका मिश्रतापूर्ण अन्तर्विरोध होता है। अक्सर अधिक सहूलियतें एक दूसरे को देकर ये मित्र बन जाते हैं। पटवारी, कानूनगो, तहसीलदार आदि के रूप में ये किसानों के प्रत्यक्ष शोषक हैं और न्यायाधीश के रूप में अप्रत्यक्ष।

प्रेमचन्द की रचनाओं में कचहरी एक संस्था है, जहाँ न्याय के नाम पर न्याय का गला घाटा जाता है। उनकी रचनाओं में कचहरी का वर्णन एक खास प्रकार के वितृष्णा भाव में किया हुआ मिलता है। यहाँ कचहरी का अर्थ है—रिश्वतखोरी, घोखा-घड़ी, बेईमानी और झूठ। इसमें न्यायाधीश और वकील से लगाकर अमले तक शामिल हैं। 'नमक का दारोगा' एक भ्रष्ट घनी पड़ित अलोपीदीन को गिरफ्तार करके कचहरी में ले जाता है। यहाँ 'पड़ित अलोपीदीन' इस अगाध घन के सिंह थे। अधिकारी वर्ग उनके भक्त, अमले उनके सेवक, वकील-मुहत्तार उनके आज्ञापालक और अरदली, चपरासी और चौकीदार उनके बिना मोल के गुलाम थे। उन्हें देखते ही लोग चारों तरफ से दौड़े।¹⁷ 'ईश्वरीय न्याय', 'पंच परमेश्वर' जैसी कहानियों में ही नहीं, 'प्रेमाश्रम', 'गबन' जैसे उपन्यासों में प्रेमचन्द ने इस न्याय-व्यवस्था की न्याय-विरोधी भूमिका को रेखांकित किया है।

प्रेमचन्द की रचनाओं में पुलिस का भी वर्णन मिलता है। पुलिस ब्रिटिश राज्य के आन्तरिक शत्रुओं का दमन करती है और न्याय-व्यवस्था लागू करती है। स्वाधीनता-आन्दोलन के इस युग में पुलिस दमन का दूसरा नाम था। राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों को पुलिस को ज्यादातियों का सामना सबसे पहले करना पड़ता था। प्रेमचन्द ने इस दृष्टि से भी पुलिस का वर्णन किया है। लेकिन 'अमन चैन' के दिनों में भी पुलिस सश्रिय रहती थी। झूठे मुकद्दमे बनाकर किसी को पसा देना पुलिस के लिए बाएँ हाथ का खेल है। 'प्रेमाश्रम' में दारोगा कहता है—“मैं दयालुकर नहीं हूँ, मेरा नाम मूरआलम है। चारों ओर एक बार खुदा को भी पसा दूँ।”¹⁸ यँ

तो 'प्रेमाश्रम' से 'गोदान' तक की रचना-यात्रा में प्रेमचन्द में बहुत परिवर्तन हुए हैं, लेकिन पुलिस की कार्यपद्धति में कोई परिवर्तन नहीं होता। 'गोदान' के धानेदार पंचों को धमकाते हुए कहते हैं, "तुमने अभी अधेर नहीं देखा। कटो तो वह भी दिखा दू। एक-एक को पाँच-पाँच साल के लिए भेजवा दूँ। यह मेरे बाएँ हाथ का सेल है। डाके में सारे गाँव की काले पानी भेजवा सकता हूँ। इस घोखे में न रहना।" 19

फसल के समय पुलिस भी गाँव में जाकर झूठे-सच्चे डाकों की तहकीकात करती है और इस वहाने रिश्वत लेती है। रिश्वत लेना पुलिस विभाग में आम बात है। 'उपदेश' कहानी में इसका चित्रण है। 'प्रेमाश्रम' में गौस खाँ की हत्या मनोहर ने की थी। उसने अपना जुर्म कबूल भी कर लिया, लेकिन पुलिस न सारे गाँव के आदमियों पर न केवल मुकद्दमा चलाया, बल्कि सजा भी करवा दी। उपन्यास में तो प्रेमशकर की सहायता से सब बच गये, अन्यथा उन्हें सजा तो काटनी ही पड़ती। 'कर्मभूमि' में किसानों से जबर्दस्ती लगान वसूल करने के लिए पुलिस आती है और कुर्क आदि के माध्यम से लगान वसूल करवाती है। जमींदार से मिलकर पुलिस जमींदार विरोधी किसानों को झूठे मुकद्दमे में फँसाकर जेल भिजवाती है। 'प्रेमाश्रम' में सुक्खू चौधरी को दो साल की सजा पुलिस ने ही दिलवायी थी। पुलिस की इन करतूतों के कारण ही भारतीय किसान सिपाही से जितना डरता है उतना शैतान से भी नहीं डरता। उसके इस आतंक के विरुद्ध प्रेमचन्द का साहित्य घृणा और क्रोध का भाव जाग्रत करता है।

प्रेमचन्द के सपूर्ण साहित्य में सेना का चित्रण नहीं मिलता। 'कर्मभूमि' में एक बार कुछ गोरे सिपाही जहर आते हैं, जो मुन्नी का अपमान करते हैं, लेकिन इसके अलावा वही भी सेना की भूमिका नहीं दिखायी गयी है। निश्चय ही यह प्रेमचन्द की रचनात्मक याजना का अंग नहीं बन पायी थी।

किसानों का शोषण—जमींदारों द्वारा

प्रेमचन्द ने किसानों के शोषण का वर्णन या चित्रण करते समय हमेशा इस तथ्य को रेखांकित करन का प्रयास किया है कि समकालीन समाज में किसानों की स्थिति और भूमिका क्या है और क्या होनी चाहिए? उन्होंने प्रमुखतः किसानों की बदहाली का विवरण किया है। जब भी उनका कोई शहरी पात्र गाँव में जाता है और जिसमें मानवीय भावनाएँ हों, वह इसी तथ्य को रेखांकित करता है कि किसानों की दशा अत्यंत करुण है। यहाँ तक कि गोबर भी शहर जाकर जब वापस आता है तो उसे यह हीनावस्था खलती है। गाँववासियों को इसमें कोई खास बात नजर न आती हो, क्योंकि यह हीनावस्था उनकी दैनिक जिन्दगी का इतना अंग बन चुकी है कि वे इसे ही प्राकृतिक और सहज अवस्था मान लेते हैं। "गोबर को उतनी देर में घर की परिस्थिति का अन्दाज हो गया था। धनिया की गाड़ी में कई पेयद लगे हुए थे। सोना की साड़ी सिर पर फटी हुई थी और उसमें से उसके बाल दिखाई दे रहे थे। रूपा की धोती में चारों तरफ झालरें-सी लटक रही थीं। सभी के चेहरे रुखे, किसी की देह पर चिकनाहट नहीं। जिधर देखो, विपन्नता का साम्राज्य था।" 20

निश्चल और आदर्शवादी युवक मायाशकर ने अपने इलाके का दौरा किया और उसे जो प्राथमिक ज्ञान हुआ, वह यह कि "चारों तरफ तबाही छाई हुई थी। ऐसा विरला ही कोई घर था जिसमें धातु के बर्तन दिखायी देते हों। कितने घरों में लोहे के तवे तक न थे। मिट्टी के बर्तनों को छोड़कर झोपड़े में और कुछ दिखाई न देता था। न ओढ़ना, न बिछौना, यहाँ तक कि बहुत-से घरों में खाटों तक न थी। और वह पर ही क्या थे ! एक एक, दो-दो छोटी कोठरियाँ थी। एक मनुष्यों के लिए एक पशुओं के लिए। उसी कोठरी में खाना, सोना, बैठना—सब कुछ होता था। बस्तियाँ इतनी घनी थी कि गाँव में खुली हुई जगह दिखाई ही नहीं देती थी। किसी के द्वार पर सहन नहीं, हवा और प्रकाश का शहरो की घनी बस्तियों में भी इतना अभाव न होगा। जा किसान बहुत सम्पन्न समझे जाते थे उनके बदन पर सावित कपड़ न थे, उन्हें भी एक जून चबैना पर ही काटना पड़ता था। वह भी ऋण के बोझ से दबे हुए थे। अच्छे जानवरों को देखने को आँखें तरस जाती थी। जहाँ देखो छोटे-छोटे मरिचक, दुर्बल बेल दिखाई देते थे और वेत में रंगते और चरनियों पर आँधते थे। कितने ही ऐसे गाँव थे जहाँ दूध तक न मयस्सर होता था।" ²¹ प्रेमचन्द ने जिस आत्मीय कण्ठा से इस दृश्य का वर्णन किया है, उसमें उनका व्यक्तिगत अनुभव भी शामिल लगता है। मायाशकर को जैसे प्रेमचन्द अपनी आँखों में किसानों की हालत दिखा रहे हों। किसानों की वास्तविक हालत सबधी इस भावबोध के कथन उनकी रचनाओं में जगह-जगह मिल जायेंगे।

निश्चय ही चितक प्रेमचन्द ने उनकी स्थिति को देखकर ही इस स्थिति के कारणों पर विचार किया होगा। इसी प्रक्रिया में उन्होंने बहुत सारे कारणों की ओर संकेत किया है। शायद यही कारण है कि उन्होंने किसानों की बदहाली के प्राथमिक और मौलिक कारणों को अलग-अलग करके नहीं दिखाया है। उन्होंने सारे कारणों के सामूहिक प्रभाव—किमान की बदहाली—पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। 'गोदान' के अंतिम पृष्ठों में रामसेवक ने किसान की जो हालत बयान की है, उसके पीछे यही दृष्टि रही है।

फिर भी, किमान की बदहाली का मुख्य कारण लगान है। किसान के शोषण का मुख्य च्यान यही बढ़ी हुई लगान और इससे संबंधित अन्य कानूनी तथा गैरकानूनी कर है। अपनी सर्जनात्मक रचनाओं की पृष्ठभूमि वर्णित करते हुए वे अवसर इस ओर हल्के से इशारा कर देते हैं। रचनाकार तो इसे हल्के पुलके ढग से ही बताता है, लेकिन पाठक पर उमका प्रभाव दुगुने वेग से होता है। 'गूस की रान' कहानी में हल्कू की पीड़ा (जिससे बड़ी आमानी से बचा जा सकता है) का कारण क्या है। उसकी पत्नी कहती है—'न जाने कितनी बाकी है जोकिमी तरह चुकने में ही नहीं आती। मैं कहती हूँ, तुम क्यों नहीं सेती छोड़ देते ? मर-मर कर काम करो, उपाज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई। बाकी चुकाने के लिए तो हमारा जन्म हुआ है।' ²² हल्कू ने कम्बल खरीदने के लिए तीन रुपये बचाकर (या कि छुपाकर) रखे थे, उसे जमींदारी का महता ले गया। 'गोदान' की घनिष्टा सोचती है कि—'यद्यपि अपने विवाहित जीवन के इन बीम वर्षों में उसे अच्छी तरह अनुभव हो गया था

कि चाहे कितनी ही कतर-ब्योत बरो, कितना ही पेट-ता बाटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दाँत से पकड़ो, मगर लगान वेवाक होना मुश्किल है।²³

प्रेमचन्द न भूमि-कर (जिमम गैरकानूनी कर भी शामिल है) को किसान के शोषण का मुख्य माध्यम माना है। श्री रजनी पामदत्त न अंग्रेजी राज में किसानों की हालत का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि उन पर तीन तरह के बोझ हैं—1. सरकारी मालगुजारी का बोझ, 2. जमींदारों के लगान का बोझ और 3. साहूकार के सूद का बोझ। उन्होंने लिखा है 'फिर भी, यह अनुमान भी, उमड़े साथ नमक कर का बोझ जोड़ दाँत पर, 20 रुपये की किसान तक पहुँच जाता है। इसके मुकाबले में किसानों की औसत आमदनी भी देखिए। ब्रिटिश बैंकिंग जाँच कमेटी के बहुमत की रिपोर्ट में अनुमान लगाया गया है कि ब्रिटिश भारत में किसान की औसत आमदनी 42 रुपये सालाना से ज्यादा नहीं बैठती।'²⁴ पंडित जवाहरलाल नेहरू न लिखा है, अवध में कुछ जमींदार किसानों से 50 से ज्यादा गैरकानूनी कर वसूल करते हैं।²⁵ नेहरू ने भी किसानों की बदहाली के तीन प्रमुख कारण बताये हैं—

1. राज्य व अनुचित कानून, जो किसान-विरोधी है।
2. जमींदार उनके एजेंट और पुलिस का अत्याचार।
3. किसानों का अज्ञान और उनकी रुढ़िवादिता।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने किसानों के बीच काम करते हुए इन्हीं तीन मुख्य बिन्दुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है।

ब्रिटिश भारत में भूमि संबंधी कानून में कभी भी एकरूपता नहीं रही है। रैयतवारी और जमींदारी भूमि व्यवस्था तो अलग थी ही, जमींदारी प्रथा में भी कई स्थानीय असमानताएँ विद्यमान थी। उन्हें देखकर ही किसानों की लगान संबंधी समस्याओं की प्रकृति को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। 'बंगाल टर्नेसी एक्ट आव 1859' के अनुसार 12 बरस तक लगातार जोतने पर सिकमी जमीन पर किसान का मोरूसी अधिकार हो जाता है लेकिन 'अवध रेंट एक्ट आव 1886' में इस तरह का कोई प्रावधान नहीं है। अतः अवध में सिकमी जमीन कभी भी मोरूसी नहीं होती।²⁶ मोरूसी जमीन वह कहलाती है जिस पर किसान का स्थायी अधिकार होता है, उसका लगान निश्चित होता है और पिता की मृत्यु के बाद पुत्र को उसी लगान से जमीन जोतने का अधिकार मिल जाता है। सिकमी जमीन पूरी तरह जमींदार के अधिकार में होती है उसे वह चाहे जब, चाहे जितनी लगान में, चाहे जिस किसान को दे सकता है। ऐसे स्थानों पर किसानों और जमींदारों के संघर्ष का मुख्य बिन्दु यही होता है। जमींदार चाहता है कि किसी न किसी तरीके से किसानों को उनके मोरूसी अधिकारों से वंचित कर दे। 'प्रेमाश्रम' में जानशंकर इसी तरह से अपनी आमदनी बढ़ाना चाहता है। अगर मोरूसी किसान का लगान बकाया हो, तो वह उस पर बकाया लगान का दावा करके उसे खेत से बेदखल करना चाहता है। 'गोदान' में नोखेराम भी होरी को इसी आधार पर धमकाना चाहते हैं। अक्सर जमींदार किसानों को लगान की रसीद नहीं देते। 'गोदान' में नोखेराम भी रसीद नहीं देता। 'प्रेमाश्रम' में भी गौस खाँ आम किसानों को लगान

कै रसीद नहीं देता। जब भी किसी किसान को जमींदार दंडित करना चाहता है, उस पर बकाया लगान का दावा कर देता है, इस तरह लगान दो तीन बार वसूल कर लेता है। पंडित नेहरू ने भी इस तथ्य की ओर इशारा किया है।²⁷ नोविराम जब वेदखली की घमकी देता है तो गोबर उससे कहता है 'मैं अदानत में तुमसे गगाजली उठवाकर रुपए दूंगा इसी गाँव में एक सौ सहादतें दिलाकर साबित कर दूंगा कि तुम रसीद नहीं देते। सीधे सादे किसान हैं कुछ बोलत नहीं तो तुमने समझ लिया कि सब काठ के डल्लू हैं।'²⁸ किसानों से जब एक ही खेत का लगान दो तीन बार वसूल किया जाता है तब एक स्थिति ऐसी आती है जब वह रुपये नहीं जुटा पाता और उस तरह उसे मोरूमी खेत से वेदखन कर दिया जाता है और उसी खेत को सिकमी बनाकर नजराने और लगान बढ़ाकर हमारे निमान को दे दिया जाता है। इससे किसान खेतिहर मजदूर बनने के लिए मजबूर कर दिया जाता है।

इसके अलावा जमींदार किसानों पर बकाया लगान का दावा ऐस नाजुक अवसरों पर करने की ताकत रहता है जब किसान सबसे ज्यादा सक्कट में होते हैं या जब वे किसी भी तरह में रुपये जुटा पाने में असमर्थ दिखते हैं। 'प्रमाथ्रम' में गौत की हत्या के मामले में गाँव के लगभग सभी मद जेल में थे फलतः फसल नहीं बोयी गयी। इसलिए उपज नहीं हुई। कारिदा ने चूँत तक सत्र किया और उसके बाद बकाया लगान का दावा कर दिया। इसी की देरी से, नालिश हो गयी, किंतु गाँव में रुपये का बंदोबस्त न हो सका। उच्चदारी करने वाला भी कोई न निकला। सबको विश्वास था कि एकतरफा डिप्री होगी और सब के सब वेदखल हो जायेंगे। फँस और कर्तार बगलें वजाते फिरते थे। अब मैदान मार दिया है। खाँ साहब गये तो क्या, गाँव साफ हो गया। कोई दाखिलदार आसामी रहेगा ही नहीं जितनी चाहे जमीन की दर बढ़ा सकता है। हजार की जगह दो हजार वसूल हाने।²⁹ 'प्रमाथ्रम' के किसान का यह नाजुक सक्कट तो नेच्छक ने मुक्कू चौधरी से कटवा दिया लेकिन साथ ही यह भी प्रकट कर दिया कि एस समय में सारे किसान वेदखल कर दिये जाते हैं। यह प्रमवाद का रचना कौशल और मयाधवादी जीवन दृष्टि का सफल नमूना है। 'गोदान' में रायसाहब ने बकाया लगान की माँग तब की जब बरसात हुई थी और किसान बीज बोने में निग्न जा रहे थे। जाहिर है कि ऐसी मकदम मूदधोर महाजन ही किसानों के 'उद्धारक' (?) के रूप में सामने आता है और जमींदार के आश्रमण से बचकर महाजन की चुंगल में फँस जाते हैं। महामदी के दौर में जमींदारों ने मोरूमी किसानों को वेदखल करने का फिर प्रयास किया। 'कर्म भूमि' में इसका वर्णन मिलता है।

बानूनी लगान को बढ़ाने के लिए जमींदार इजाफा लगान का दावा भी कर सकता है। इससे लिए यह दिखाना जरूरी होता है कि सिचाई आदि की सुविधाओं के द्वारा जमीन की उत्पादन क्षमता में वृद्धि हुई है और इससे लिए जमींदार न बिकेय प्रदान किया है। 'प्रमाथ्रम' में जानशकर इजाफा लगान का दावा भी करता है। सघनपुर के बारे में जानशकर साबित है, 'यहाँ कई हला की सीर थी, एक कच्चा पर सुन्दर मकान भी था और सबसे बड़ी बात यह है कि यहाँ इजाफा लगा

की बड़ी गुजाइश थी। थोड़े उद्योग से उसका नफा दूना हो सकता था। दो चार कच्चे कुएँ खुदवाकर इजाफे की कानूनी शत पूरी की जा सकती थी।³⁰ तात्पर्य यह है कि इजाफा लगान का दावा जमींदारों के नग्न शोषण का एक रूप है।

इधर तो जमींदार यह प्रयास करते रहते हैं कि जमीन को सिकमी बना दिया जाय उधर किसान इस चिन्ता में लगे रहते हैं कि किसी तरह सिकमी जमीन पर मौरूसी अधिकार प्राप्त कर लें। इसके लिए वह गाँव के कारिगारों की खुशामद करता है उसको रिश्वत देता रहता है और कुछ लोग किसानों के विरुद्ध जमींदार से मिल भी जाते हैं। गुबखू चौधरी (प्रमाथम) दातादीन (गोदान) ऐसे ही किसान हैं, जो निजी हित रक्षा के लिए किसानों के सामूहिक हित पर चोट करते हैं। जमींदार या कारिदा इमी प्रलोभन के द्वारा उन्हें अपने भाग्य मिलाये हुए रहता है। लेकिन जब किसान यह देखता है कि उसका मौरूसी हक छीना जा रहा है तो वह मरने मारने पर उताव्र हो जाता है। किसान जमींदारों के बीच छिटपुट हिंसा का तात्कालिक कारण अक्सर यही रहा है। प्रमचंद ने भूमि फरस से संबंधित समस्याओं को निश्चित करते हुए यह प्रकट किया है कि जमींदार उत्पादन में एक बहुत बड़ी बाधा है और जमीन पर तात्कालिक स्वामित्व जमींदारों का और वास्तविक स्वामित्व ब्रिटिश सरकार का है। इसी में किसानों की मांग भी रेखांकित होती है और वह है कि जमीन का मालिक उस जोतन वाला ही होना चाहिए।

जिन स्थानों पर मौरूसी जमीन बिल्कुल नहीं है (जैसे कि अवध में) वहाँ लगान की समस्या ज्यादा टेढ़ी है। सिकमी जमीन को जमींदार किसान को दवाने के अस्त्र के रूप में काम में लेता है। अब कोई किसान जमींदार की किसी आज्ञा का उल्लंघन करता है उसका बूँट तोड़ने के लिए या उसे दंड देने के लिए उसके सिकमी खेत छुड़ाने की धमकी देता है या छुड़ा लेता है। मनोहर जब जमींदार को रुपये सेर घी देने से इकार कर देता है तो गोस खाँ उससे सिकमी खेत छुड़ाकर दूसरे आसामी को दे देता है। बलिदान कहानी में सिकमी खेत के लगान की समस्या आती है। गिरधारी के पिता की मृत्यु के बाद खेत पर जमींदार ने फिर अधिकार कर लिया। उसका पिता न 20 वर्ष तक खेत जात थे। वह 8 रुपये बीघा लगान देता था। जमींदार ने अपनी तरफ से उदारता दिखात हुए गिरधारी से कहा कि वह 100/ नजराना और 10 रुपये बीघा लगान दे। उसने फिर उदारता दिखायी और कहा कि लगान पुराना रहने दते हैं लेकिन नजराना देना पड़गा। गिरधारी नजराना देने में असमर्थ है और जमींदार ने खेत दूसरे आसामी को दे दिया। नजराना के ये 100/- अवघ हैं।

खेता की लगान की अधिकता ही किसान को ऋण लेने के लिए मजबूर करती है। इसलिए महाजनी शोषण भी सामंती शोषण का ही अंग है, जो उपनिवेशवादी दौर में खूब फला फूला।

प्रश्न यह उठता है कि क्या जमींदार के शोषण का जरिया सिर्फ लगान ही है? नहीं और भी है। लगान किसान के शोषण का कानूनी रूप है इसके अलावा कुछ परंपरागत रूप भी हैं जो भारतीय किसान सदिया से देता आया है अतः उसे

भी वैध मानता है। प्रेमचन्द की रचनाओं में जमींदारों के उन तमाम हथकड़ों का चित्रण मिलता है, जिनसे वे किसानों का शोषण करते हैं। उत्पादन में जमींदार की कोई भूमिका नहीं होती, फिर भी वह ठाट-बाट से रहता है। न केवल वह बल्कि उसके माते रिश्तेदार भी कुछ काम नहीं करते और किसानों पर तरह तरह के अत्याचार करते रहते हैं। गायत्री ने इन मुक्तखोर सबंधियों की शिकायत की है।³¹ इन निठले और निकम्मे लोगों का भरण-पोषण किसानों के शोषण से ही होता है।

'गोदान' में रायसाहब के यहाँ एक पार्टी है और साथ ही रामलीला का आयोजन किया गया है। इसके लिए 'शगुन' के नाम पर 'बीस हजार' रुपये इकट्ठा करना है। होरी को भी पाँच रुपये देने हैं, जिसकी चिंता उसे मताती है। 'कर्मभूमि' में जमींदार महंत जी हैं। उनके यहाँ तो एक न एक त्योहार लगा ही रहता है। "कभी ठाकुरजी का जन्म है, कभी व्याह है, कभी यज्ञोपवीत है कभी झूला है, कभी जल विहार है। असामियों को इन अवसरों पर बेगार देनी पड़ती थी, भेंट-भ्योछावर, पूजा चढ़ावा आदि नामों से दस्तूरी चुबानी पड़ती थी, लेकिन धर्म के मुआमले में बोन मुह खोलता?"³² जिस समय राजा विशालसिंह का तिलक होता है, उस समय भी किसानों से बेगार के अलावा नकद रुपये वसूल किये जाते हैं। किसान से हल के पीछे 10 रुपये वसूल करने का निश्चय किया गया। "जिसने खुशी में दिये, उसका तो 10 रुपये ही म गला छूटा। जिसने हीले-हुवाले किए, कानून बधारा, उसे 10 रुपये के बदले 20 रुपये, 30 रुपये, 40 रुपये देने पड़े।"³³ इसके अलावा जब अंग्रेज अधिकारी या पोलिटिकल एजेंट का दौरा होता है तब किसानों से चढ़ा वसूल किया जाता है। 'रियासत का दीवान' में "पुलिस गाँव गाँव चन्दा उगाहती फिरती थी। रकम दीवान साहब निपट करते थे। वसूल करना पुलिस का काम था। परियाद की कही सुनवाई न थी। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी।"³⁴ नजराना, शगुन, जुमाना, दस्तूरी, चन्दा के अलावा भी किसानों से नकद रकम लेने के और भी तरीके हैं। गाँव की सम्पूर्ण जमीन का मालिक जमींदार होता है। अतः द्वार पर खूँटा गाढ़ने के लिए भी नजराना देना पड़ेगा। छप्पर ढालन पर भी नजराना देना है। गाँव के तालाब से मिट्टी खोदने पर भी कुछ न कुछ देना ही पड़ेगा।

इस सीधे शोषण के अलावा कुछ अन्य रूप हैं जिनसे किसानों का शोषण होता है। बेगार इनमें से मुख्य है। प्रत्येक गाँव में कुछ ऐसी जमीन होती है, जिसे 'सीर' कहा जाता है। उस जमीन की सम्पूर्ण उपज जमींदार की होती है, लेकिन उसमें उत्पादन का सारा कार्य बेगार से करवाया जाता है। जमींदार के प्रशासनिक, सामाजिक या घरेलू—प्रत्येक काम के लिए वह किसी भी व्यक्ति को बेगार में पकड़ सकता है। 'कायाकल्प' में राजा विशालसिंह के राजतिलक के अवसर पर हजारों लोगों को बेगार करने के लिए बाध्य कर दिया गया। जमींदार के घोड़ा के लिए घास बेगार में आती है (उपदेश), उनकी डाक लाने ल जाने का काम भी बेगार में होता है ('उपदेश', प्रेमाश्रम)। नाई और कहार का काम तो बेगार करना ही है। 'प्रेमाश्रम' में बेगार के भय से कहार गाँव छोड़कर चले गये। नाई जमींदार की मालिश करता है (नशा), पैर दबाना है, विस्तर बिछाता है, कहार पैर धोता है

आदि । रामलीला का अवसर हो (गोदान) या धार्मिक उत्सव (प्रेमाश्रम) या राज तिलक (कायाकल्प) या पोलिटिकल एजेंट का स्वागत (रियासत का दीवान) प्रत्येक अवसर पर बेगार लेना जमींदार का हक बन गया सा लगता है । यहाँ तक कि कुछ ऐसे लोगों से भी बेगार ली जाती है जो सिर्फ गाँव में निवास करते हैं । विधवा की बुढ़िया गोड़िन से इसलिए बेगार ली जाती है कि वह जमींदार के गाँव में रहती है । वह भाड़ के सहारे जीती थी । वह पड़ितजी के गाँव में रहती थी इसलिए उन्हें उसमें सभी प्रकार की बेगार देने का पूरा अधिकार था ।³⁵ और इस बेगार के बदले उसे खाना भी नहीं मिलता था अतः जिस दिन उसे बेगार करनी पड़ती थी उस दिन उस भूखे ही रहना पड़ता था । कायाकल्प में भी बेगार करने वाले चमारों ने जब खाना माँगा तो उन्हें शारीरिक यातना सहनी पड़ी । गोदान में रायसाहब भी बेगारों को खाना (तब) देने के पक्ष में नहीं था । प्रमचंद ने बेगार को जमींदार के अत्यंत सहज साधारण और परंपरागत अधिकार के रूप में चित्रित किया है । जहाँ भी प्रमचंद जमींदारों को उपस्थित करते हैं वहाँ बेगार का वर्णन अवश्य करते हैं । बेगार के बिना जमींदार जमींदार ही नहीं लगता चाहे वह कितना ही छोटा जमींदार क्यों न हो ।

प्रेमाश्रम में जमींदार के शोषण का एक और रूप भी चित्रित किया गया है । एक तो जमींदार किसानों से कुछ खरीदता नहीं उसे मुफ्त में लाना अपना अधिकार समझता है । कारिदा गोस खाँ गाँव में आकर दस सेर दूध की माँग करता है । उसके रुपये देने के बारे में न तो वह सोचता है और न किसान सोचते हैं दाना तो उनके बाद की बात है । यदि कभी किसी वस्तु के रुपये देने ही पड़ें तो वह बाजार भाव से बहुत कम रुपये देता है और अगर किसान के पास वह वस्तु नहीं है तो वह बाजार से अधिक मूल्य देकर खरीदता है और तब जमींदार को जमींदार द्वारा नियत मूल्य में देता है । लाला जटाशंकर की बरसी के अवसर पर भी लाला है । बाजार भाव दस छटाक का है जबकि जमींदार रुपये का सेर भी लगा । चाहे भी हो या न हो नियत राशि का भी लेकर जमींदार को दाना ही पड़गा क्योंकि जमींदार के खेत जातते हैं । चपरासी बड़ी सरलता से कहता है जो चाहो करो पर सरकार का हुक्म तो मानना ही पड़गा । लालमज में 30/ रुपये दे आया हूँ । वहाँ गाँव में एक भस भी नहीं है । लोग बाजार से ही लेकर दोगे । पड़ाव में 20/ रुपये दिये हैं । वहाँ भी जानते हो किसी के भँस नहीं है ।⁶

जमींदार के शोषण का ये रूप है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जमींदार खुद करता है । ये सारा धन जमींदारों की जेब में जाता है । अर्थात् लोग उसमें शरीक नहीं होते । लेकिन इस जमींदारी व्यवस्था में जमींदारी व्यवस्था को चलाने वाले कुछ और लोग भी होते हैं जिनका किसानों के शोषण में हाथ रहता है ।

कारिदा मुस्तार चपरासी

प्रमचंद एक जागरूक और यथार्थवादी रचनाकार रहे हैं । इसलिए जमींदारी व्यवस्था को आलोचना करते हुए उन्होंने सिर्फ जमींदारों की ही आलोचना नहीं की

बल्कि इस व्यवस्था के भागीदार प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति की भूमिका को रेखांकित किया। राजनीतिज्ञों ने जहाँ जमींदारों की आलोचना तक ही अपने को सीमित रखा, वहाँ प्रेमचन्द ने किसानों के शोषण के लिए कारिदा, मुक्तार और यहाँ तक कि चपरासी को भी जिम्मेदार ठहराया। प्रेमचन्द मानते हैं कि कारिदा ही 'वास्तविक' जमींदार होता है। जमींदार कारिदों की नजर से ही गाँव की प्रत्येक समस्या को देखता है और किसानों के बारे में अपनी दृष्टि तय करता है। उत्तरी भारत में इन पदों पर ब्राह्मण, कायस्थ, बनिया आदि उच्च जातियों के लोग ही रहे हैं। चपरासी, पहरेदार, सहना जैसे पदों पर तथाकथित नीची जातियों के लोग भी पहुँच जाते हैं। लेकिन उनके रीति और अत्याचार में उनकी जातिर्मा आड़े नहीं आती। अपने मुक्तार को हास्य के रूप में ध्वंश का पाय बनाती हुई गायत्री उसकी सामाजिक स्थिति को रेखांकित करती हुई कहती है—“क्या कहूँ, मेरे पुरखों ने भी बिना खेत की खेती, बिना जमीन की जमींदारी, बिना धन की महाजनी प्रथा निकाली होती, तो मैं भी आपकी ही तरह चैन करती।”³⁷

जमींदारी व्यवस्था में लोभी और स्वार्थी लोग जमींदारों के यहाँ ही नौकरी करना चाहते हैं। यथायं में रियासत की नौकरी मूल-सम्पत्ति का घर है। रहने के लिए सुन्दर बगला है, जिसमें बहुमूल्य विछोना बिछा हुआ था। सैकड़ों दीर्घ की सीर, कई नौकर-चाकर, कितना ही चपरासी, सवारी के लिए एक सुन्दर डागन, सुख ठाट-बाट के सारे सामान उपस्थित।³⁸ इसके अलावा जमींदार की तरह कारिदा भी किसी से, कभी भी, किसी काम के लिए बेगार ले सकता है और लेता है। 'इसी से और कहीं की 30 रुपये की नौकरी छोड़कर भी जमींदारों की कारिदगिरी लोग 8 रुपये, 10 रुपये में स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि 8 रुपये, 10 रुपये का कारिदा साल में 800 रुपये, 1000 रुपये में ऊपर कमाता है।'³⁹ 'उपदेश' का बाबूलाल स्पष्ट कहता है कि "जो किसान उनकी (कारिदों की—रा०) मुट्ठी गरम करते हैं, उन्हें मालिक के सामने सीधा और जो कुछ नहीं देते, उन्हें बदमाश और सरकश बतलाते हैं। किसानों की बात-बात के लिए चूसते हैं, किसान छान छवाना चाहे तो उन्हें दे, दरवाजे पर एक खूँटा तक गाड़ना चाहे तो उन्हें पूजे, एक छप्पर उठाने के लिए दस रुपये जमींदार को नजराना दे तो दो रुपये मुंशीजी को जरूर ही देने होंगे। कारिदे को धी-दूध मुप्त खिलावे, कहीं-कहीं तो गेहूँ-चावल तक मुप्त में हजम कर जाते हैं। जमींदार को किसानों को चूसते ही हैं, कारिदे भी कम नहीं चूसते। जमींदार तीन पाव के भाव में रुपये का सेर भर घी ले, तो मुंशीजी को अपने घर अपने साले-बहनों-इसों के लिए अठारह छटाक चाहिए ही। तनिक-तनिक सी बात के लिए डाट और जुर्माना देते-देते किसानों की नाक में दम हो जाता है।'⁴⁰ होरी घनिया को समझाते हुए भी लगभग इसी तरह की बातें कहता है।⁴¹

मदनपुर (श्रेमाश्रम) में कारिदा गौस खाँ का निरंकुश शासन है। मनोहर जमींदार को रुपये सेर घी देने से इंकार कर देता है। गौस खाँ को लगता है कि उसका आतंक कुछ कम हो गया है। वह जानशकर से जब मनोहर की शिकायत करता है तो सिर्फ यही घटना नहीं बताता, बल्कि उस घटना को पुनः सृजित करके

कहता है 'हज़र, कुछ न पूछिए, गिरधर महाराज भाग न खड़े हों तो इनके जान की खीरियत नहीं थी।'⁴² ज्ञानशंकर के अत्यधिक कोप में गौस खाँ की इन उक्तियों की भूमिका भी कम नहीं थी। गौस की हत्या के बाद फँजू और कर्तार भी कम अत्याचार नहीं करते।

प्रत्येक कारिदा में स्वभावतः जमींदार बनने की आकांक्षा रहती है। जमींदार बनने की यह आकांक्षा उनमें विश्वासघात, धोखाधड़ी, स्वार्थपरता, नीचता आदि दुर्गुणों को पैदा करती है। उन्हें स्वामिभक्ति और ईमानदारी की शिक्षा भी दी जाती है। अतः उसके हृदय में आन्तरिक संघर्ष होता रहता है। वह कभी स्वामिभक्ति से प्रेरित होता है और कभी स्वार्थ से संचालित होता है। अतः में किसी एक प्रवृत्ति की विजय हो जाती है और अक्सर स्वार्थ की विजय होती है। चूँकि सभी कारिदे जमींदार बनना चाहते हैं, अतः उनमें आपस में ईर्ष्या द्वेष और वैमनस्य की भावना रहती है। कुछ चतुर-चालाक लोग मालिक के प्रति वफादारी का बाना पहनकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर ने यही तरीका अपनाया था। ऐसे नौकरों के खिलाफ सभी एकजुट हो जाते हैं और यदि ऐसे कारिदा पर विपत्ति आती है तो सभी आनन्द लेते हैं। 'ईश्वरीय न्याय' के सत्यनारायण के प्रति उनके सहकर्मियों का यही व्यवहार रहा है।

अक्सर जमींदार यह जान लेता है कि कारिदे उनके साथ विश्वासघात कर रहे हैं। विध्वंस' के जमींदार इसलिए स्वयं सारे काम-काज करते हैं। लेकिन जानने-समझते हुए भी गायत्री खुद काम नहीं कर सकती। वह इन पर निर्भर होने के लिए बाध्य है। वह देखती है कि "उसके इन्नाके में सर्वत्र लूट मची हुई थी, कारिदे असामियों को नोचे खाते थे। सोचती, क्या इन सब मुह्तारों और कारिदों को जबाब दे दूँ? मगर काम कौन करेगा? और यही क्या मालूम है कि इनकी जगह जो नये लोग आयेंगे, वे इनसे ज्यादा बेकनीयत होंगे।"⁴³ इस प्रक्रिया में प्रेमचन्द ने यह दिखाया है कि अगर कोई जमींदार सेवामावी और परोपकारी हो, जो किसानों को कष्ट न भी देना चाहे, तब भी सारी व्यवस्था ऐसी है कि वह किसानों की कोई मदद नहीं कर सकता। 'वायाकल्प' के राजा विशालसिंह में भी आदर्शवादी आकांक्षाएँ थी, लेकिन प्रजा पर उतने ही अत्याचार हुए (वर्तिका ज्यादा हुए) जितने किमी भी अन्य जमींदार के अधीन होते।

जमींदार प्रजा के इन संचालका और व्यवस्थापकों का चित्रण करके वस्तुगत रूप से प्रेमचन्द ने दिखाया है कि जमींदारी उन्मूलन के बिना किसानों की हित चिंता करना खयाली पुलाव है क्योंकि 'यह सबघ ही ऐसा है कि एक ओर तो प्रजा में भय, अविश्वास और आत्महीनता के भावों को पुष्ट करता है और दूसरी ओर जमींदारों को अभिमानी, निर्दय और निरकुश बना देता है।'⁴⁴ इसलिए प्रश्न मात्र किसी जमींदार के ईमानदार, दयालु या परोपकारी होने का नहीं है, और न किसी जमींदार विशेष के निरकुश, अत्याचारी या घृत होने का है, प्रश्न उन परिस्थितियों और उन सामाजिक संघर्षों का है, जिन्हें मिटाकर ही किसानों का भला हो सकता है। प्रेमचन्द ने जमींदार के नौकरों के अत्याचारों का वर्णन इस दृष्टि से किया है

जैसे ये अत्याचार जमींदारी के अन्दर भी अवाछित हैं। उन्हें दूर किया जा सकता है या करना चाहिए।

महाजन, और किसान का शोषण

महाजनों द्वारा किसानों का शोषण, शोषण का सामंती रूप है। उपनिवेशवादी युग में भारत में यह घघा खूब फूला-फला। उत्तरी भारत में उस जमाने में शायद ही कोई किसान बचा हो, जिस पर कर्ज न हो। ज़िम्मेदारों के पास कुछ रुपये इकट्ठे हो गये, वही महाजन बन बैठता है, क्योंकि उद्योग-धंधों के विकास की संभावनाओं को प्रयत्नपूर्वक अंग्रेजों ने रोक रखा था। फिर ब्याज की दर 25 रुपये सैकड़ा थी। उस पर नजराने की रकम अलग, लिखाई अलग, दलाली अलग, अदालत का खर्च अलग। ये सब रकमें भी किसी न किसी तरह महाजन ही की जेब में जाती थी। यही कारण है कि यहाँ लेन-देन का घघा इतनी तरक्की पर है। वकील, डाक्टर, सरकारी कर्मचारी, जमींदार, कोई भी जिसके पास कुछ फालतू धन हो, यह व्यवसाय कर सकता है।¹⁴⁵ स्वयं होरी ने भी कुछ दिन महाजनी की थी। शहर में जाकर गोबर ने भी कुछ दिनों तक थोड़े-बहुत रुपये उधार देकर ब्याज कमाया था।

महाजनों के शोषण के भीषण हथकड़ा का अनुभव करते हुए प्रेमचंद ने इसे 'महाजनी सभ्यता' का ही नाम दिया है। 'गोदान' में उन्होंने इनके शोषण के तरीकों को चित्रित किया है। प्रेमचंद ने महाजनों के चरित्र को उपस्थित किया है। उनके चरित्र की कुछ मूलभूत विशेषताएँ होती हैं। एक तो ये बला के वजूस होते हैं। 'तगादा' के महाजन की मनोवृत्ति का चित्रण प्रेमचंद ने यूनं किया है—'लहने का बाप तगादा है। इसी सिद्धांत के वह अनन्य भक्त थे। जलपान के बाद सध्या तक वह बराबर तगादा करते रहते थे। इसमें एक तो घर का भोजन बचता था, दूसरे असामियों के माथे दूध, पूरी, मिठाई आदि पदार्थ खाने को मिल जाते थे। एक वक्त को भोजन बच जाना कोई साधारण बात नहीं है। एक भोजन का एक आना भी रख लें, तो केवल इसी मद में उन्होंने अपने तीस वर्षों के महाजनी जीवन में कोई आठ सौ रुपये बचा लिए थे। फिर लौटते समय दूसरी बेला के लिए भी दूध, दही, तेन, तरकारी, उपले-ईधन मिल जाते थे। बहुधा सध्या का भोजन भी न करना पड़ता था।'¹⁴⁶ 'बेटी का धन' में महाजन की तस्वीर यों उतारी गयी है, "झगड़ू साहू धाने की बमानों की एक मोटी ऐनक लगाए वहीं खाता फँलाए हुक्का पी रहे थे, और दीपक के धुंधले प्रकाश में उन अक्षरों को पढ़ने की व्यर्थ चेष्टा में लगे थे, जिनमें स्याही की विफायत की गई थी। बार-बार ऐनक को साफ करते और आँख मलते, पर विराग की बत्ती उबस ना या बाहरी बत्ती लगाना शायद इसलिए उचित नहीं समझते थे कि तेल का अपव्यय होगा।'¹⁴⁷

उनके साहित्य का प्रत्येक महाजन इसी सीमा तक कजूस होता है। ब्याज की एक पाई भी उससे छुड़वाना असंभव है। यूनं उसे 'कजूस' भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सामाजिक नैतिकता और धार्मिक मामलों में वह पर्याप्त उदार होता है। उसके जीवन के भी कुछ सिद्धांत होते हैं। ये 'धार्मिकता' और 'सिद्धांतवादिता'

उसके शोषण का छिपाने उस सत्य बनाने के साधन हैं। दागडू साहू ने चौधरी की बेटी के गहन गिरवी नहीं रखे और बिना गिरवी रख ही चौधरी को रुपये उधार दे दिये। तगादा के सेठ चेताराम ने अनेक रुपया की हानि सहकर भी मुसलमान युवती के हाथ से पान नहीं छाना और इस तरह अपन धर्म की रक्षा की। महाजनी सठ दान पुण्य के मामल में पर्याप्त उदारता का परिचय देते हैं। उनके दान से कई धर्म शालाएँ और कई आश्रम चलते हैं। महाजना के बापों व विरोधी-संदिग्धने वाले इस रूप को प्रमचद न बारीकी से एक साथ दिखाया है और इसकी एकता को चित्रित किया है।

उनकी धार्मिकता का मर्म हमारे तब समझ में आता है जब कोई व्यक्ति इनके रूप धन से इबार करता है। ऐसे सबूत के समय यही धर्म महाजना के पक्ष में खड़ा हो जाता है। अगर सूदखोर ब्राह्मण हुआ तो धर्म उसके लिए ब्रह्मास्त्र के समान उपयोगी साबित होता है। सवा सेर गहू में शकर रुपये देने में आनाकानी करता है तो विप्रजी कहते हैं यहाँ न दाग भगवान व घर तो दाग ? 48 इस धर्मकी के भय से शकर सवा सेर गहू के बदले 60/ रुपये देने के लिए तैयार हो गया। यही नहीं जम भर गुलामी की।

गोदान में प० दातादीन के रुपया का हिसाब करते हुए गोबर उन्हें 70/ रुपये धन के लिए तैयार हो जाता है। दातादीन कानून नहीं जानते। उन्होंने होरी की धार्मिक चेतना को उकसाते हुए कहा सुनत हा होरी गोबर का पैसला ? मैं अपने दो सौ छोड़ व सत्तर रुपये ल लू नहीं अदालत करूँ। इस तरह का व्यवहार हुआ तो कौन दिन ससार चलगा ? और तुम बठ सुन रहे हो मगर यह समझ लो मैं ब्राह्मण हूँ मेरे रुपये हजम करके तुम चैन पाओगे। मैंने ये सत्तर रुपये भी छोड़े अदालत भी न जाऊंगा जाऊँ। अगर मैं ब्राह्मण हूँ तो अपने पूरे दो सौ रुपये लेकर दिखा दूँगा। और तुम मेरे द्वार पर आओगे और हाथ बाँधकर दोगे। इस धर्मकी का आशातीत फल होता है और होरी रुपये देने के लिए तैयार हो जाता है। सद गति का दुखी चमार अपने अनुभव को यो बयान करता है कि और सबके रुपये मारे जाते हैं ब्राह्मण के रुपये भला कोई मार तो ल। घर भर का सत्पानाश हो हो जाए पाँव गल गल कर गिरन लगे। 50 प्रमचद ने स्पष्ट रूप से दिखाया है कि धर्म महाजनी शोषण का बड़ा भारी रक्षक है इसी कारण प्रत्येक महाजन धर्म की रक्षा में खड़ा मिलता है। पुनज में का सरकार उसने तगादे का सबसे विश्वसनीय सहायी है।

गोदान में किसानों के शोषण के लिए सूदखोरों को ही मुख्य रूप से जिम्मेदार ठहराया गया है। गोदान में जमींदार तो एक ही है मगर महाजन तीन तीन हैं सहूआइन अलग और मगरू अलग और दातादीन पंडित अलग। 51 इनके अलावा सबसे बड़े महाजन थे शिगुरी सिंह। वह शहर के एक बड़े महाजन के एजेंट थे। उनके नीचे कई आदमी और थ जो आस पास के देहातो में घूम घूमकर

लेन-देन करते थे। इनके उपरान्त और भी कई छोटे-मोटे महाजन थे जो दो आने रुपये ब्याज पर बिना लिखापड़ी के रुपए देते थे।⁵²

इन महाजनो के शोपण का आधार जमींदारो व्यवस्था में निहित है। किसानों का शोपण करने के लिए जमींदार कभी इजाफा लगान का दावा कर। है, कभी बकाया लगान का दावा करता है। जमींदार ऐसे नाजुक समय पर किसानों से लगान मांगते हैं, जब उनके पास रुपये नहीं होते। ऐम नाजुक समय में महाजन किसानों का हमदर्द व रक्षक बनकर खड़ा होता है। 'गोदान' में रायसाहब न आसाढ में रुपये मांगे। किसान महाजनो के पास दौड़े। महाजनो ने वृषा' करते हुए मनमाने सूद पर रुपये दिये। किसानों पर जब भी जमींदार आर्थिक चोट करता है, तब ही महाजन रक्षक (?) के रूप में दिखायी देता है और "कजं वह मेहमान है जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता।"⁵³ महाजन शोपण करता है और साथ में एहसान भी जताता है। अगर महाजन रुपये न दे, तो किसान वेदखण कर दिया जाता है। 'बेटी का घन' के महाजन से लगाकर 'गोदान' के दातादीन तक सभी एहसान जताते हुए आते हैं। धानेदार को रिश्वत देने के लिए अंगुरीसिंह ने रुपये दिये, तब भी इसी रूप में। होरी के पास बेल नहीं है, दातादीन आता है और वे साथ में खेती करने का प्रस्ताव रखता है। खेत मजदूरी होरी करेगा, बीज और बेल दातादीन देंगे। फसल दोनों की आधी-आधी होगी। इस प्रस्ताव को रखने के लिए दातादीन जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, वह दृष्टव्य है। 'मेरे देखते तुम्हारे खेत कैसे परतो रहेंगे? बल में तुम्हारी बोआई करा दूंगा। अभी खेत में कुछ तरी है। उपज दस दिन पीछे होगी, इसके सिवा और कोई बात नहीं। हमारा तुम्हारा आधा सासा रहेगा। इसमें न तुम्हें कोई टोटा है, न मुझे। मैं आज बड़े बड़े सोचा, तो चित्त बड़ा दुखी हुआ कि जुते-जुनाए खेत परतो रह जाते हैं।'⁵⁴ कितनी उदारता, कितनी ममता और अपनत्व से भरा हुआ अधिकार भाव इन शब्दों से व्यक्त होता हुआ प्रतीत होता है। जीवन की सकटपूर्ण घड़ियों में घड़ियाल के ऐसे आंसू महाजन ही बहा सकता है।

प्रेमचन्द ने महाजनो के शोपण के तरीकों के साथ-साथ शोपण की मात्रा का भी चित्रण किया है। होली के पर्व का उपयोग करते हुए 'नवल' के माध्यम में रचनाकार ने महाजनी शोपण का पर्दाफाश किया। महाजन के पास एक किसान 10/- रुपये उधार लेने जाता है। महाजन उसे पाँच रुपये देता है और कहता है कि ये दस रुपये हैं, घर जाकर गिन लेता। किसान जब जिद करता है तो महाजन बताता है—

'एक रुपया नजराने का हुआ कि नहीं ?'

'हाँ, सरकार !'

'एक तहरीर का ?'

'हाँ, सरकार !'

'एक कागद का ?'

'हाँ, सरकार !'

‘एक दस्तूरी का ?’

‘हाँ, सरकार !’

‘एक सूद का ?’

‘हाँ, सरकार !’

‘पाँच नकद, दस हुए कि नहीं ?’ ”

आधी रकम पहले से ही महाजन हड़प जाता है, उसके बाद किसान के पास आधी (पाँच) रकम भी नहीं बचती । क्योंकि कुछ और रस्मे भी होती हैं । हास्य का पुट देते हुए किसान कहता है—‘नहीं सरकार, एक रुपया छोटी ठकुराइन के नजराने का, एक रुपया बड़ी ठकुराइन के नजराने का, एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने को, एक बड़ी ठकुराइन के पान खाने को । बाकी बचा एक, वह आपकी क्रिया-कर्म के लिए ।’⁵⁴

दातादीन न होरी को 30/- रुपये दिय थे, जिसके ब्याज सहित 200/- रुपये हो गये । मगरू न पहले-पहले 50/- रुपये दिये थे । पाँच-छ साल बाद तीन सौ रुपये वसूल करने पहुँचे । इसी तरह दुलारी और झिगुरी सिंह भी चार-पाँच गुना रुपया वसूल करते हैं । अबसर किसान रुपये अदा नहीं कर पाते, उनके खेत महाजनों के हाथ में आते जाते हैं और खेत मजूरों की सख्या बढ़ती जाती है । ‘सवा सेर गेहूँ’ में प्रेमचन्द ने दिखाया है कि विप्रजी से शकर ने सवा सेर गेहूँ लिया, बदले में उसने खलिहानी अधिक दे दी । सात वर्ष बाद उसका साढ़े पाँच मन गेहूँ बना लिया । ‘हिस्साब लगाया तो गेहूँ का दाम 60/- रुपये हुए । 60/- रुपये का दस्तावेज लिखा गया । 3 रुपये सँकड़े सूद । साल भर म न देन पर सूद का दर साढ़े तीन रुपये सँकड़े, बारह आने का स्टाम्प, एक रुपया दस्तावेज की तहरीर शकर को ऊपर से देनी पड़ी ।’⁵⁵ साल भर शकर ने मेहनत की और 60 रुपये जमा किये । फिर भी 15 रुपये ब्याज के बाकी रह गये । तीन वर्ष बाद 120 रुपये हो गये । इसके बदले में शकर को बहुआ मजूर बना लिया गया । शकर की मजूरी नहीं और रुपये का ब्याज नहीं । बीस वर्षों तक शकर न मजूरी की, उसके बाद शकर मर गया । 120 रुपये फिर भी बने रहे । विप्रजी ने “उसने जवान बेटे की गर्दन पकड़ी । आज तक वह विप्रजी के यहाँ काम करता है । उसका उद्धार कब होगा, होगा भी या नहीं, ईश्वर ही जाने ।

पाठक ! इस वृत्तांत को कपोल-कल्पित न समझिए । यह सत्य घटना है । ऐसे शकरो और ऐसे विप्रो से दुनिया खाली नहीं है ।’⁵⁶

प्रेमचन्द ने दिखाया है किसान खेतिहर मजदूर और बहुआ मजदूर बनते जा रहे हैं और यह उनके भाग्य का दोष नहीं है, बल्कि इस समाज व्यवस्था में कुछ ऐसी सामाजिक शक्तियाँ हैं, जो इसके लिए जिम्मेदार हैं । जमींदार और महाजन—कभी अलग-अलग और कभी मिलकर किसान को इस हालत में पहुँचा रहे हैं ।

धार्मिक शोषण

भारतीय किसान प्रकृति से धर्मभीरु रहा है । ईश्वर की न्यायप्रियता और दयालुता में उसका पक्का विश्वास होता है । प्रेमचन्द ईश्वर के अस्तित्व को नहीं

मानते। फिर भी उन्होंने किसानों की इस धर्मभीरु प्रवृत्ति को उनका रुढ़िवाद कहकर उनकी हँसी नहीं उड़ायी है। हालाँकि अपनी धर्मभीरुता के हाथों ही वह सुटता है लेकिन इसी कारण अन्याय से उसे स्वाभाविक घृणा भी होती है। अन्यायी को दंड देने का कार्य ईश्वर का है और भाग्य पर भरोसा करके सन्तोष धारण कर लेता है। प्रेमचन्द ने किसानों की इस प्रवृत्ति की आलोचना भी की है, फिर भी उनकी रचना का मुख्य बिन्दु उन लोगों की आलोचना करना रहा है जो किसान की इस प्रकृति की आद में शोषण करते हैं।

प्रेमचन्द ने धर्म के शोषक रूप का चित्रण किया है। धर्म सिर्फ चेतना का एक रूप मात्र नहीं है, बल्कि उसका वास्तविक सामाजिक सदस्य है। हिन्दू धर्म में ब्राह्मण का ब्राह्मणवाद अन्य जातियों का शोषण करता है। प्रेमचन्द ने ब्राह्मण को सिर्फ किसान के शोषक के रूप में ही नहीं देखा है बल्कि उसको गणना उन्होंने राष्ट्रीय शोषक में की है। इसलिए मध्यवर्गीय जीवन पर लिखी गयी रचनाओं में भी पंडितों के सुटेरेपन को व्यंग्य का पात्र बनाया गया है। प्रेमचन्द न जब इनकी मानव-विरोधी भूमिका को हास्य-व्यंग्य का आलवन बनाया तो बहुत से ब्राह्मणवादी ब्राह्मणों ने प्रेमचन्द पर ब्राह्मण-विरोधी होने का आरोप लगाया। लेकिन उनकी रचनाओं का वस्तुगत अध्ययन इस धारणा का खंडन करता है। उन्होंने कई उज्ज्वल और गरिमामय ब्राह्मण पात्रों को उभारा है, सिर्फ शोषण करने वालों की निन्दा की है।

'गोदान' के दातादीन पुरोहितगिरी की आर्थिक व्याख्या करते हुए कहता है, "तुम जजमानी को भीख ममझो मैं तो उस जमींदारी ममझता हूँ बग़र। जमींदारी मिट जाय, बक़र टूट जाय, लेकिन जजमानी अत तक यनी रहेगी। अब तक हिन्दू जाति रहेगी, तब तक ब्राह्मण भी रहेगे और जजमानी भी रहेगी। सहालग में मजे से घर बैठे सौ दो सौ पटकार लेत हैं। कभी भाग लड गया तो चार-पाँच सौ मार लिया। कपड़े, वरतन भोजन अलग। वही न वही नित ही वार-पराजन पडा ही रहता है। कुछ न मिले तब भी एक दा घाल और दो-चार आन दक्षिणा मिल ही जाते हैं।" 57

गोबर ने दातादीन पर व्यंग्य करते ब्राह्मणों के जजमानी शोषण की प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया है। तुम्हारे घर में किम बात की बनी है महाराज, जिस जजमान के द्वार पर जाकर खड़े हो जाओ कुछ न कुछ मार ही लाओगे। जन्म में लो मरन में लो, सादी में लो, गमी में लो, सेती करते हो, लेनदेन करते हो, दलाली करते हो, किसी से कुछ भूल चूक हो जाय, तो डाँड लगाकर उसका घर जूटते हो इतनी कमाई से पेट नहीं भरता ? 58

ब्राह्मण भारतीय किसान का परंपरागत शोषक है। सैकड़ों वर्षों से भारतीय समाज में ऐसी परंपराएँ चल रही हैं, जिसके कारण ब्राह्मण का शोषण वैध बन गया है। किसान इस शोषण को शोषण नहीं समझता और न पंडितजी ही इसे शोषण समझते हैं। प्रेमचन्द ने इस परंपरागत शोषण को शोषण के रूप में दिखाया है। पंडे पुजारियों का यह शोषण 'दान' के रूप में होता है। इसमें देने वाला लेने वाले पर

कोई उपकार नहीं करता, बल्कि उल्टे लेने वाला दान लेकर देने वाले पर उपकार करता है।

भारतीय जाति-व्यवस्था का आधार भी धार्मिक रहा है, जिसके अनुसार ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ होता है। उसको वन्द्य देने से ज्यादा पाप लगता है। दुखी चमार भी मानता है कि 'और सबके रुपये मारे जाते हैं, ब्राह्मण के रुपये भला कोई मार तो ले। घर घर का सत्पानाश हो जाए, पाँच गज-गल कर गिरन लगे।' ⁵⁹ आधुनिक कानून के विरुद्ध अपने ब्राह्मणत्व को दातादीन भी खड़ा करता है। दातादीन ने होरी को तीस रुपये कर्ज दिये थे, वे ब्याज मिलाकर दो सौ हो गये। गोबर कानूनी ब्याज देना चाहता है। दातादीन कहता है, "सुनते हो होरी, गोबर का फँसला ? मैं अपने दो सौ छोड़के सत्तर रुपए ले लूँ, नहीं अदालत करूँ। इस तरह का व्यवहार हुआ तो कौन दिन सत्तर चलेगा ? और तुम बैठे सुन रहे हो, मगर यह समझ लो, मैं ब्राह्मण हूँ। मेरे रुपए हजम करके तुम चैन न पाओगे। मैंने ये सत्तर रुपए भी छोड़े, अदालत भी न जाऊँगा, जाओ। अगर मैं ब्राह्मण हूँ तो अपने पूरे दो सौ रुपए लेकर दिखा दूँगा और तुम मेरे द्वार पर आओग और हाथ बाँधकर दोगे।" ⁶⁰ इस धमकी का वांछित परिणाम निकलता है और होरी दो सौ रुपये देने के लिए राजी हो जाता है। यह शोषण महाजनी शोषण है, लेकिन बिना ब्राह्मणत्व की ढाल के यह संभव नहीं था।

'सवा सेर गेहूँ' में विप्रजी ने सवा सेर गेहूँ के बदले में शकर से सात साल बाद साढ़े पाँच मन गेहूँ की माँग की। 60 रुपये का नकद स्टाम्प लिखवाया गया और शकर ने जब आनाकानी की, तो धर्म की आड़ ली गयी, परलोक का भय दिखाया गया। 60 रुपये अदा करने के बाद भी ब्याज के 15 रुपये शकर पर बच गये, जो तीन साल बाद 120 रुपये हो गये। जिसके बदले 20 वर्ष तक (आजीवन) बधुआ मजदूरी करनी पड़ी और उसकी मृत्यु के बाद उसका लड़का बधुआ मजदूर बना। ब्राह्मणों का वैचारिक प्रभुत्व ऐसे लोगों में विद्रोह के भाव भी नहीं जगाने देता।

धर्म की तरह बिरादरी भी किसान का शोषण करती है। बिरादरी का भय जहाँ एक तरफ सामाजिक जीवन को अनुशासनबद्ध रखता है, वहीं मनुष्य की स्वतंत्रता का हनन भी करता है। 'गोदान' में गोबर और झुनिया के संघर्ष से बिरादरी को एतराज है। होरी झुनिया को अपने यहाँ आश्रय देता है। बिरादरी के पक्ष में होरी के इस कर्म पर डाँड लगा दी। उसे सौ रुपये नकद और तीस मन अनाज देना था। होरी ने अपना घर गिरवी रखा और खलिहान की सारी उपज भी दे दी। इस पर मार्मिक टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है 'बिरादरी का भय था कि अपने सिर पर लादकर अनाज ढो रहा था, मानो अपने हाथों अपनी कब्र खोद रहा हो। जमींदार, साहूकार, सरकार, किसका इतना रोव था ? कल बाल-बच्चे क्या खायेंगे, इसकी चिन्ता प्राणों की सोखे लेती थी, पर बिरादरी का भय विशाच की भाँति सिर पर सवार अकुश दिये जा रहा था। बिरादरी से पूषक जीवन की वह कोई कल्पना ही न कर सकता था। शादी-व्याह मुहन-छेदन, जन्म-मरण सब कुछ बिरादरी के हाथ में है। बिरादरी उसके जीवन में वृक्ष की भाँति जड़

जमाए हुए धो और उमकी नसें उसके रोम रोम में बिधी हुई थी। विरादरी से निकलकर उसका जीवन विशृंखल हो जायेगा—तार-तार हो जायेगा।”⁶¹

‘खून-सकंदे’ में पादरियो के साथ रह चुके पुत्र को मौ-चाप विरादरी के भय से अपने साथ नहीं रख सकते। ‘पंच-परमेश्वर’ में प्रेमचन्द ने न्याय की जो आदर्श परिकल्पना की थी, ‘गोदान’ में आकर उमका रूप बदल जाता है। ‘गोदान’ में विरादरी की पचायत से पहले ही चार-पांच मुखिया मिलकर फंसला कर लेते हैं, जो पचायत में घोषित होता है। होरी का यह बंधन पचायत का उपहास करता हुआ सा लगता है—‘तू क्यों झोपती है धनिया। पंच में परमेश्वर रहते हैं। उनका जो न्याय है, वह सिर-आँखों पर।’⁶²

प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में किसान के शोषण को सामूहिक और सज्ज-नात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने किसान के शोषकों को अलग-अलग रूप से बताते हुए भी उनके कृत्य के सामूहिक प्रभाव को प्रस्तुत किया है। उनके शोषण के आधार अलग-अलग होते हैं। ब्राह्मण किसान की ‘मिथ्या चेतना’ के बल पर शोषण करता है, पुलिस डंडे के बल से, कचहरी कानून की मदद से, विरादरी सामूहिक दबाव से और जमींदार सभी हथकंडों से शोषण करता है। ‘गोदान’ में एक स्थान पर किसान के बहुत सारे शोषक एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं। होरा ने होरी की गाय को माहुर खिलाकर मार डाला। सारे गाँव में हंगामा हुआ। रामसाहब का कार्रदा नोहराम आया, पंडित दातादीन आया, महाजन क्षिगुरीसिंह आये, सरकार के पटवारी पटेश्वरी भी आये। सभी ने अपने-अपने ढंग से प्रतिक्रियाएँ की। पंडित दातादीन बोले—‘यह बात साबित हो गयी, तो उसे हत्या लगगी। पुलिस कुछ करे या न करे, घर में तो बिना दण्ड दिए न रहेगा।’⁶³ इसके बाद पुलिस आयी। पंडित जी, कार्रदा पटवारी आदि गाँव के मुखिया की भूमिका निभाने लगे और थानेदार को रिश्तत दिलाने का प्रयत्न करने लगे। एवाएक क्षिगुरीसिंह ‘महाजन’ बन गये और तीस रुपये उधार दिए। इस रिश्तत का आधा थानेदार का और आधा मुखियों का तय हुआ। धनिया के पराक्रम से हारी के रुपये बच गये। थानेदार ने मुखियों से रुपये वसूल किये।

प्रेमचन्द ने दिखाया है कि धर्म, महाजन और जमींदार एक स्थान पर आकर मिल जाते हैं। ये तीन होते हुए भी एक ही सामन्ती शोषण के तीन रूप हैं। ‘कर्म-भूमि’ के जमींदार पुजारी जी हैं, पंडित दातादीन महाजन भी हैं, विप्रजी भी महाजन हैं। गाँव में आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से सम्पन्न लोग ही मुखिया, महाजन, पंडित, कार्रदा, पटवारी जैसे पदों पर होते हैं। इनमें से प्रत्येक आदमी एक से अधिक शोषक की भूमिका निभाता है। इस जटिल प्रक्रिया में शोषकों और शोषितों की अलग अलग श्रेणियाँ बन गयी हैं। गाँव के सामाजिक जीवन में भी इनको अलग से पहचाना जा सकता है।

प्रेमचन्द ने शोषण की इस प्रक्रिया का विमर्श करत हुए किसी एक व्यक्ति को जिम्मेदार नहीं ठहराया है, बल्कि शोषण के इस सम्पूर्ण तंत्र को इसने लिए उत्तरदायी बताया है। उन्होंने यह भी दिखाया है कि किसी भी कानून से इनकी

रक्षा नहीं हो सकती। महाजन शिगुरोसिंह कानून की ओकात बताते हुए कहता है— कानून और पाप उसका है जिसके पास पैसा है। कानून तो है कि महाजन किसी आमामी के साथ बड़ाई न करे कोई जमींदार किसी काश्तकार के साथ सख्ती न करे मगर होता क्या है रोज ही देखते हो। जमींदार मुसक बघवा के पिटवाता है और महाजन लात और जूते से बात करता है। जो किसान पोढ़ा है उससे न जमींदार बोलता है न महाजन। एस आदमिया से हम मिल जाते हैं और उनकी मदद से दूसरे आदमियों की गदन दवाते हैं। कचहरी-अदालत उसी के साथ है जिसके पास पैसा है। हम लागा को धबरान की कोई बात नहीं। 61

किसानों में बग चेतना

यहां यह प्रश्न भी उठता है कि किसानों के इस शोषण के प्रति स्वयं किसानों की धारणा क्या है? किसानों की वांछित चेतना और वास्तविक चेतना के बीच क्या सम्बन्ध है? क्या प्रमचंद के किसान पात्र अपने शोषण को शोषण के रूप में जानते हैं? शोषण के खिलाफ किसानों के संघर्ष का स्तर क्या है? इसके पीछे लेखक और पात्र की चेतना से सम्बंधित सो दमकास्त्रीय समस्या जुड़ी हुई है।

प्रमचंद ने यह दिखाया है कि किसानों के शोषण कर्ता बाहर समाज में ही नहीं है (समाज में तो है ही) बल्कि उसके आधार किसानों के व्यक्तित्व में समा चुके हैं। उसके व्यक्तित्व में निहित मिथ्या चेतना ही उसके शोषण का मुख्य कारण है। किसान को इस शोषण से मुक्त करने के लिए पहला कार्य उसको इस मिथ्या चेतना से मुक्ति दिलाना है तभी वह अपने शोषकों का शोषकों के रूप में पहचानेगा। अभी तो वह उन्हें अपना परम हितपा और उद्धारक मानता है। सम्पूर्ण गोदान में होरी को इस तथ्य का पता नहीं है कि उसकी बदहाली के लिए जिम्मेदार लोग कौन कौन हैं। अपना बन्हावनी को वह तकदीर का करतब मानकर सन्तोष कर लेता है। जब तक किसान अपने शोषकों को अपने दुश्मन के रूप में नहीं पहचानेगा तब तक न तो वह इनके खिलाफ संघर्ष करेगा और न ही संघर्ष के लिए अन्य किसानों को संगठित ही करेगा। इस तरह इस प्रारम्भिक कार्य के बिना उसके शोषण का कभी अंत नहीं होगा। अतः प्रमचंद ने अपने साहित्य में किसानों में जागृति फैलाने और उनको संगठित करने की अनिवार्यता पर बल दिया है। इसलिए उन्होंने सजनात्मक साहित्य के केन्द्र में किसानों के शोषण की इस भीषण प्रक्रिया का अनुभव गत चित्रण किया है ताकि किसान अपने दोस्ती और दुश्मनी को अच्छी तरह से पहचान सके।

चूँकि किसानों को अपने शोषण की सुसंगत जानकारी नहीं है अतः उनमें आपस में संगठन और एकता नहीं है। संगठन और एकता के अभाव में उनका मनमाना शोषण होता रहता है। प्रमाश्रम में कभी कभी इस एकता का आभास होता है लेकिन परीक्षा की नाजुक घड़िया में यह एकता बिखर जाती है। बाढ़ प्लग आदि प्राकृतिक संकट के समय तो उनमें एकता होती है लेकिन व्यापक रूप से सामंतीवाद विरोधी संघर्ष की स्थायी एकता नहीं हो पाती। स्वाधीनता आन्दोलन के इस युग में

राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों ने किसानों में जागृति फैलाने का प्रयास किया था, प्रेमचन्द ने कायाकल्प, कर्मभूमि आदि उपन्यासों और कुछ कहानियों में इन प्रयासों का वर्णन किया है। इनमें राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों की चेतना और किसानों की परम्परागत चेतना में टकराव होता है। उस युग में ही चेतनाओं की इस टकराहट का चित्रण प्रेमचन्द ने किया है। लेकिन प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में किसान की पीड़ाओं का चित्रण गहराई से चित्रण किया है, उनका उनके सघनों का नहीं।

ऐसा नहीं है कि किसानों को अपने शोषण का बिलकुल ही ज्ञान नहीं है। किसान अपनी आपसी, अनौपचारिक बातचीत में इसका जिक्र करते हैं, नकल आदि के माध्यम से उस पर व्यंग्य भी करते हैं। लेकिन इससे बचा भी जा सकता है, इसी समुक्त चेतना उनमें नहीं होती है। इसी कारण अन्य वर्ग के बुद्धिजीवियों की जरूरत पड़ती है, जो किसानों समझित करें।

किसान अपने शोषण के बड़े भाग को वैध और परम्परानुमोदित मानता है। पण्डित-मुजारियों द्वारा दिये जा रहे शोषण को वह शोषण नहीं मानता, बल्कि जजमानी आदि देकर वह उपकृत होता है। 'सद्गति' का बुझी चमार पण्डित जी की वेगार करते-करते मर जाता है, लेकिन उसमें एक क्षण के लिए भी पण्डित जी के लिए घृणा या शोध का भाव नहीं आता, उल्टे वह पण्डितों का गुणगान करता रहता है। पण्डित जी जिनका ही उसका अपमान करते हैं उसका ही उसमें आत्मधिकार की भावना बढ़ती जाती है।

ब्राह्मण जय महाजन के रूप में शोषण करता है, तब भी किसान अपनी धार्मिक चेतना से मंत्रबुर हो जाता है और शोषण का विरोध नहीं कर पाता। 'सच्चा सेर गेहूँ' के शेर के मन में विप्रजी के लाभ के प्रति हल्वे से आश्चर्य, भय, क्रोध का भाव जागृत होता है, लेकिन परलोक भय से उसका क्रोध क्रियाशील नहीं हो पाता, बल्कि झुलझाहट में बदलकर रह जाता है। 'गोदान' के दातादीन से होरी भी इसी कारण दबता रहता है।

महाजन शोषण में किसान पीड़ित तो बहुत होता है, लेकिन यह अवसर 'उपहार' के रूप में आता है। अवसर जमींदार ने अपने या अन्य किसी आकस्मिक और अनिवार्य घटने के लिए वह महाजन की शरण में जाता है। रुपये लेते वक़्त किसान को महाजन की विरोधी करनी पड़ती है, और महाजन भी एहसास करता हुआ बर्बाद होता है। इसलिए महाजनो के प्रति घृणा और प्रेम का मिश्रित भाव किसानों के मन में रहता है। प्रेमचन्द ने इसका चित्रण किया है।

जमींदार और सरदार द्वारा दिये गये अधिकांश शोषण को किसान कानूनी मानता है, अतः विर मुकाफर स्वीकार करता है। लगान, वेगार आदि को वह उनका परम्परागत और वैधानिक अधिकार मानता है, इसलिए कभी उसका विरोध नहीं करता। किसानों ने मात्र विद्रोह तब किया है जब शोषण की सीमा वैध और परम्परानुमोदित सीमा में बहुत भंग बढ़ जाती है। सामान्यतः किसान गमखार होता है। मनोहर द्वारा शोष की हत्या का सांस्कृतिक कारण किसानों का अपमान है। सरकारी कर्मचारियों द्वारा भी जाने बानी रिश्वत मागने का विरोध करता * २०

लिए कारिदा को गाली देते हुए किसान जमींदार का गुणगान करता रहता है। प्रेमचन्द ने इस वैध शोषण को अवैध बताया है। 'नशा' में एक पात्र कहता है, "वह लोग तो असामियों पर इसी दावे से शासन करते हैं कि ईश्वर ने असामियों को उनकी सेवा के लिए ही पैदा किया है। असामी भी यही ममज्ञता है। अगर उसे सुझा दिया जाय कि जमींदार और असामी में कोई मौलिक भेद नहीं है, तो जमींदारों का कहो पता न लगे।" 65

प्रेमचन्द का साहित्य इसी जनताविरु भावबोध पर टिका हुआ है कि मनुष्य और मनुष्य बराबर है। एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण अवैध है, गलत है—चाहे उसके समर्थन में कितने ही पवित्र सिद्धान्तों को खड़ा किया गया हो।

- 20 गोदान, पृ० 174
- 21 प्रेमाश्रम, पृ० 433 (संस्करण 1963)
- 22 मानसरोवर, भाग-1, पृ० 157
23. गोदान पृ० 7
- 24 भारत वर्तमान और भावी, पृ० 97
25. Selected Works of Jawaharlal Nehru Volume 3, pp 376
- 26 'Agrarian Unrest in North India', pp 43, by M H Siddiqi, Vikas Publishing House, New Delhi 1978
27. "Another great difficulty is the practice of many zamindars not to give any receipts for the rent paid to them This is illegal but is none the less a very prevalent practice and a tenant can do little against it" Selected Works of Jawaharlal Nehru', Volume 5, pp 78
- 2 गोदान पृ० 187
29. प्रेमाश्रम, पृ० 262
30. वही, पृ० 69
- 31 ' एक दर्जन नातेदार द्वार पर डटे पड़े रहते हैं। एक महाशय नाते में मेरे मामू होते हैं, वे सुबह में शाम तक मछलियों का शिकार किया करते हैं। दूसरे महाशय मेरी फूफी के सुपुत्र हैं, वे मेरे ससुर के समय से ही वहाँ रहते हैं। उनका काम मुहल्ले-भर की स्त्रियों को घूरना और उनसे दिल्लगी करना है। एक तीसरे महाशय मेरी ननद के छोटे देवर हैं, रिश्तों के बाजार के दलाल हैं। इस काम से जो समय बचता है वह भग पीने-पिलाने में लगाते हैं। इन लोगों में बड़ा भारी गुण यह है कि सन्तोषी हैं। आनन्द में भोजन-वस्त्र मिलता जाय, इसका सिवा उन्हें कोई चिन्ता नहीं।"—प्रेमाश्रम, पृ० 88
- 32 कर्मभूमि, पृ० 288-289
- 33 कामाकल्प, पृ० 106
- 34 मानसरोवर, भाग-2, पृ० 168-169
- 35 मानसरोवर, भाग 8, पृ० 187
- 36 प्रेमाश्रम पृ० 8
37. वही, पृ० 145
- 38 मानसरोवर, भाग 6, पृ० 229
- 39 मानसरोवर, भाग-8, पृ० 300
- 40 वही, पृ० 300
- 41 "यह इसी सलामी की वरकत है, कि द्वार पर मईया डाल ली और किसी ने कुछ नहीं कहा। घूरे न द्वार पर खूँटा गाड़ा था, जिस पर कारिन्दों ने दो रुपये डाँड ले लिये थे। सलैया से कितनी मिट्टी हमने खादी, कारिन्दों ने कुछ नहीं कहा। दूसरा खोदे तो नजर देनी पड़े।" गोदान, पृ० 16

42. प्रेमाश्रम, पृ० 20 यही नहीं, वह यह भी कहता है कि "हज़ून् मौल्सी आसामी है। यह सब जर्मोदार को कुछ नहीं समझते, उनमें एक का नाम मनोहर है। बीस बीघे जोतता है और कुल 50 रुपये लगान देता है। आज उसी आराजी का किसी दूसरे अमामी से बन्दोबस्त हो सकता तो 100 रुपये कही नहीं गये थे।" यही, पृ० 20
43. प्रेमाश्रम, पृ० 142
44. यही, पृ० 87
45. मानमरोवर, भाग-3, पृ० 173
46. मानमरोवर, भाग-4, पृ० 27
47. मानमरोवर, भाग-8, पृ० 35-36
48. मानमरोवर, भाग-4, पृ० 190
49. गोदान, पृ० 184
50. मानमरोवर, भाग-4, पृ० 22
51. गोदान, पृ० 21
52. यही, पृ० 86
53. यही, पृ० 87
54. यही, पृ० 182
55. मानमरोवर, भाग-4, पृ० 191
56. यही, पृ० 195
57. गोदान, पृ० 206
58. यही, पृ० 177
59. मानमरोवर, भाग-4, पृ० 22
60. गोदान, पृ० 184
61. यही, पृ० 108-109
62. यही, पृ० 108
63. यही, पृ० 93
64. यही, पृ० 205
65. मानमरोवर, भाग-1, पृ० 116

प्रेमचन्द के साहित्य में किसानों का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन

प्रेमचन्द ने भारतीय किसान जीवन के समग्र यथार्थ का चित्रण किया है। उन्होंने सिर्फ किसानों के आर्थिक शोषण का ही वर्णन नहीं किया है। अपने साहित्य में उन्होंने भारतीय किसान की एक बोधगम्य पहचान कायम करने का प्रयास किया है। किसान की इस बोधगम्य पहचान को उपस्थित करने के लिए उन उन्होंने उसके सामाजिक सदर्भ में उपस्थित किया है। प्रेमचन्द का किसान सिर्फ स्वाधीनता आंदोलन में हिस्सा ही नहीं लेता, सिर्फ जमींदार, महाजन या नोकरशाही से सघर्ष करता और उनके जुल्म सहता हुआ ही दिखायी नहीं देता, बल्कि परिवार में, विरादरी में, सहयोगियों के साथ व्यवहार करता हुआ भी हमारे सामने आता है। ऐसी स्थितियों में भी प्रेमचन्द ने उसे उपस्थित किया है, जब वह जमींदार के आतंक से मुक्त होकर अपने अनुसार जीवन जीता है। जीवन के इस पक्ष को प्रेमचन्द ने बड़ी सौंदर्यवादी तल्लीनता से चित्रित किया है। विधवा के शरण में किसान का निर्मल जीवन किस मधुर गति से चलता है इसे प्रेमचन्द ने अनदेखा नहीं किया है। हालांकि प्रेमचन्द मानते हैं कि ऐसे दुर्लभ क्षण किसान जीवन में बहुत ही कम आते हैं फिर भी ऐसे क्षणों का महत्त्व उसके जीवन में बहुत होता है।

प्रेमचन्द की रचनाओं में उपनिवेशवादी भारतीय किसानों का चित्रण है। उपनिवेशों में राज्य और समाज में प्रभाव होता है। राज्य पर साम्राज्यवादियों का आधिपत्य रहता है और सामाजिक जीवन में सामंती शक्तियों का प्रभुत्व रहता है। राज्य और समाज के इस अलगाव के साथ ही संघर्ष भी होता है। जहाँ पर भी राज्य और समाज में टक्कर होती है, वहाँ पर राज्य ही शक्तिशाली साबित होता है। प्रेमचन्द ने किसानों के सामाजिक जीवन का चित्रण करते हुए दिखाया है कि राज्य के अधिकारी सामाजिक जीवन में भी 'प्रतिष्ठा' और 'सम्मान' के अधिकारी होते हैं। 'प्रेमाश्रम' में डिप्टी ज्वालासिंह जब गाँव का दौरा करते हैं, उस समय का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने इसका पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत किया है 'उन्हें देखते ही स्त्रियाँ अपने अधमजे बर्तन छोड़ छोड़कर घरों में घुमी। बालक-बूढ़ भी इधर-उधर दबक गये। कोई द्वार पर कूड़ा उठाने लगा, कोई रास्ते में पड़ी हुई खाट उठाने लगा। ज्वालासिंह गाँव का भ्रमण करते हुए सुबखू चौधरी के कोरहू आड़े में आकर खड़े हो गये। सुबखू चारपाई लेने दौड़े। गौस खाँ ने एक आदमी को कुर्सी लाने के

लिए चौपाल दोड़ाया। लोगों ने चारों ओर से आ-आकर ज्वालासिंह को घेर लिया। अमंगल के भय से सबके चेहरे पर हवाईयाँ उड़ रही थी।¹ किसान जीवन में मिलने वाली प्रतिष्ठा में भी राज्य का हाथ महत्वपूर्ण होता है। गाँव-बिरादरी में तो व्यापश्रिय, परोपकारी और सज्जन व्यक्ति का सम्मान होता है। लेकिन जिसके पास पैसा होता है, इज्जत उसी की ज्यादा होती है। 'बलिदान' कहानी में प्रेमचन्द ने लिखा है, "मोजे बेला के मगरू ठाकुर जय से कासटिबिल हो गए हैं, उनका नाम मंगलसिंह हो गया है। अब उन्हें कोई मगरू कहने का साहस नहीं कर सकता। बल्लू अहीर ने जब से इसके के घानेदार से मित्रता कर ली है और गाँव का मुखिया हो गया है, उसका नाम बालिकादीन हो गया है। अब उसे कोई बल्लू बहे तो आँखें लाल-पोली करता है।"² गाँव में प्रतिष्ठा के परम्परागत कारण भी मौजूद हैं—जैसे बड़े बूढ़े को सम्मान दिया जाता है, साधु-प्रकृति के होरी जैसे लोगों को भी सम्मान मिलता है, धनी किसानों का भी लोग आदर करते हैं, साथ ही राज-काज में महायक व्यक्ति भी सम्मान के अधिकारी होते हैं। 'बेटी का धन' के सुखू चौधरी का गाँव में इतना सम्मान इसलिए भी है कि वह हाकिम-दुक्काम से बात कर लेता है। जबकि अन्य लोगो में इतना साहस नहीं है। 'गोदान' में गाँव और बिरादरी के मुखिया जमींदार, हाकिम व घानेदार से मिले हुए हैं, निर्णायक क्षणों में कभी-कभी यह सबध उजागर होता रहता है।

सरकारी कर्मचारियों से संबंधित व्यक्तियों के 'सम्मान' के पीछे भय और दबी हुई घृणा है, लेकिन ईमानदार व्यक्तियों को जो सम्मान मिलता है, उसमें परंपरागत श्रद्धा का भाव काम करता है। 'प्रेमाश्रम' के बादिर मिया इसी तरह का सम्मानित पात्र है। प्रेमशहर के प्रति भी गाँव के लोगो के मन में श्रेष्ठता की चेतना के साथ श्रद्धा का भाव है। किसानों के सामाजिक जीवन में इस सम्मान के भाव की बहुत बड़ी भूमिका होती है। इससे व्यक्ति में आत्मीय अधिकार का भाव आ जाता है, जिसके कारण वह किसी के व्यक्तिगत मामले में भी दखल दे सकता है। 'गोदान' में होरी जब धनिया को पीटता है, तो इसी अधिकार भाव से पंडित दाता-दीन होरी को डाँटते हैं। ऐसी आत्मीय डाँट का प्रतिकार नहीं किया जाता, इसलिए होरी भी प्रतिकार नहीं करता। किसान जीवन में कोई भी मसला इतना व्यक्तिगत होता भी नहीं कि उसमें दूसरे लोग दखल न दे सकें।

किसान के सामाजिक जीवन में अंग्रेजी साम्राज्यवाद का यह दखल अप्रत्यक्ष है। साथ ही प्रेमचन्द ने यह भी दिखाया है कि स्वयं अंग्रेजों का किसानों से प्रत्यक्ष सामाजिक संबंध नहीं है। 'रणभूमि' का मि० क्लार्क या 'कायाकल्प' का मि० जिम—किसी का किसानों के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार नहीं है। व जनता में घुलना-मिलना नहीं चाहते। शमश जाति का दम उन्हें मिलने नहीं देता। फिर भाषा की दीवार भी बीच में आती। किसानों का सामाजिक जीवन कई अर्थों में स्वायत्त है और सामंती शक्तियों के नीचे छटपटा रहा है। प्रेमचन्द ने किसान जीवन के सामाजिक पहलुओं का चित्रण करते हुए मूलतः उनमें निहित सामंती परंपराओं, प्रथाओं और मूल्यों की आलोचना की है और समता के आधार पर निर्मित सामाजिक

सबधो की वकालत की है। पारिवारिक सबधो—जिनमे पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि शामिल है—मे भी उन्होने समान अधिकार पर बल दिया है और असमान सबधो से उत्पन्न दुखद प्रसंगो को आलोचनात्मक रूप मे उपस्थित किया है।

प्रेमचन्द ने स्वतन्त्र रूप से किसान जीवन के सांस्कृतिक पहलुओ को नही दिखाया है। किसान जीवन की सांस्कृतिक विरलता पर मुग्ध दृष्टि उनकी नही रही है। उनके लिए सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का आर्थिक और राजनीतिक जीवन से गहरा सबध है। प्रेमचन्द ने इस सबध को कही भी अनदेखा नही किया है, इस तरह किसान सस्कृति को स्वायत्त ढंग मे प्रस्तुत नही किया है। पणेश्वर नाथ रेणु आदि आचलिक उपन्यासकारो मे किसानो की आचलिक सस्कृति, लोकगीत, मुहावरो व लोकोक्तियो से भरी भाषा आदि के प्रति मुग्धता और क्षेत्रीयता का भाव मिलता है। रेणु मे सांस्कृतिक जीवन प्रमुख रूप से उभरकर आता है। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओ मे समाज और सस्कृति को इतना महत्व नही दिया है। कही-कही तो ऐसा भी लगता है कि प्रेमचन्द ने किसानो की सांस्कृतिक विशिष्टता की उपेक्षा की है। 'गोदान' मे होली का चित्रण करते हुए भी प्रेमचन्द ने 'नकल' के माध्यम से किसानो के शोषको की खिल्ली उडाने मे ज्यादा रुचि दिखायी है। होली की उमग मे भी उनके रचनाकार ने गाँव मे बगै-सबधो पर दृष्टि जमाये रखी है और सामाजिक असमानता को रेखांकित किया है। त्योहार का बड़ा उत्सव उसी के यहाँ होता है, जो धनी किसान हैं। 'गोदान' मे प्रेमचन्द ने बताया है कि अबबर होली की हुडदग नोबेराम आदि के यहाँ ही होती है, इस बार 'विशिष्टता' (गोबर शहर हो आया है) के कारण गोबर के यहाँ हो रही है। इस तरह प्रेमचन्द ने सांस्कृतिक जीवन के चित्रण का भी उपयोग किया है। वे कही भी, किसी भी दृश्य से इतने मुग्ध नही हो जाते कि गाँव की आर्थिक-सामाजिक संरचना को भूल जायें।

इसके अलावा प्रेमचन्द ने किसानो को आचलिक और स्थानीय रूप मे वही भी उपस्थित नही किया है, बल्कि इस रूप मे उपस्थित किया है कि यह किसान क्षेत्रीय विशिष्टताओ से ऊपर उठकर भारतीय किसान का प्रतिनिधि बन सके। उनकी रचना का प्रयाम यही रहा है। इसलिए उनके किसान पात्रो मे किसानो की विशेषीकृत सामाजिक स्थितियाँ नही हैं, बल्कि जानबूझकर उन्होने उन विशेषीकृत बातो को हटा दिया है, ताकि पात्र टिपिकल बन सकें। 'पद्म-परमेश्वर' के शुभमन शेख या अलगू चौधरी से लगाकर, होरी महतो तक कोई भी क्षेत्रीय पात्र नही है, यहाँ तक कि उनकी जाति या धर्म की सीमाओ को भी प्रेमचन्द ने तोड़कर रख दिया है। उन्होने सामाजिक जीवन के उन्ही पहलुओ को उठाया है, जो कि टिपिकल परिस्थितियाँ पैदा कर सकें।

प्रेमचन्द की रचनाओ के तात्कालिक पाठक शिक्षित मध्यवर्ग के रहे हैं। उनको किसान जीवन से परिचित करवाना रचना का प्राथमिक लक्ष्य भी रहा है। इसलिए उन्होने किसानो को इस रूप मे उपस्थित किया है, जिससे यह लगे कि किसान भी शिक्षित लोगो के समान ही मनुष्य हैं। उनमे भी हर्ष, प्रेम, घृणा, द्वेष जैसे मानवीय भाव उसी तरह से हैं, जिस तरह शिक्षित लोगो मे होते हैं। किसान

कोई अजूबा नहीं है, कोई रहस्य नहीं है। इस तथ्य को उन्होंने रेखांकित किया है। दूसरे उन्होंने शिक्षित वर्ग के सापेक्ष किसानों की अलग पहचान भी बायम करन का प्रयास किया है। उन्होंने इस अति तर भी किसानों का चित्रण नहीं किया है कि किसान और मध्यवर्ग में तो कोई फर्क ही नहीं है। इसलिए जहाँ भी उन्होंने किसानों के विशिष्ट पक्ष को उठाया है, वहाँ उसकी तुलना मध्यवर्ग से की है। इसी द्वन्द्वात्मक रूप में प्रेमचन्द के किसान पात्र हमारे सामने आते हैं।

प्रेमचन्द न किसान के सामाजिक जीवन का चित्रण करते हुए उनके प्रति आभोचनात्मक दृष्टि अपनाया है। न तो किसानों की सरलता की दुहाई दी है न उनके शोषण पर भावुक आँसू ही बहाये हैं। उन्होंने अपनी जनतांत्रिक जीवन दृष्टि से किसानों की सामाजिक परंपराओं को उपस्थित किया है उसमें निहित अमानवीय तत्वों की आलाचना की है और सत्तावादी संघर्षों के लिए सुझाव दिए हैं।

किसान के अन्य वर्गों में सामाजिक संघर्ष

प्रेमचन्द किसान को समाज का आधारभूत और उत्पादक वर्ग मानते हैं। उनके लिए किसान की उन्नति ही देश की उन्नति है और किसान की बदहाली ही देश की बदहाली है। किसान का जीवन ही सारे देश के अन्य वर्गों के जीवन को निर्धारित करता है। उन्होंने अपने साहित्य में किसान को केंद्र बनाकर सारे समाज का चित्रण किया है। प्रेमचन्द न भारतीय समाज में वर्गीय संघर्षों को कई रूपों में चित्रित किया है। वर्गों में विभाजित समाज में वर्गों के बीच सिर्फ आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष ही नहीं हात, सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष भी हाते हैं। किसानों के कुछ वर्गों में केवल आर्थिक संघर्ष है, लेकिन कुछ में आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक संघर्ष भी है। किसान संघर्षों की इस जटिलता को निवाहता है। प्रेमचन्द ने इस बारीकी से चित्रित किया है।

(क) जमींदार किसान प्रेमचन्द ने दिखाया है कि एक वर्ग से दूसरे वर्ग के संघर्ष इन्होंने और सुलझे हुए नहीं है बल्कि कई स्तरों और रूपों में संघर्षों की जटिल प्रक्रिया है। प्रेमचन्द साहित्य में किसान और जमींदार के संघर्षों का विवेचन सबसे अधिक हुआ है। जमींदार किसान का शोषण करता है उसे अपनी आज्ञा मानने के लिए विभिन्न तरीकों से मजबूर करता है। यह उनका आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष है। लेकिन उनमें सिर्फ यही संघर्ष नहीं है। 'गोदान' में प्रेमचन्द ने दिखाया है कि रायसाहब एक दिन होरी को बँठाकर अपनी निजी पीड़ाओं को सुना रहे हैं। उस समय रायसाहब और होरी का संघर्ष अत्यंत आत्मीय और मानवीय लगता है। यह सही है कि इस आत्मीयता में रायसाहब का स्वार्थ छिपा हुआ है, लेकिन इसमें कम से कम यह तो प्रकट होता ही है कि रायसाहब और होरी के बीच संप्रेषणहीनता की स्थिति नहीं है। प्रेमचन्द में लाला प्रभाशंकर मनोहर और कादिर जैम किसानों से उनके घरलू जीवन के घावों में घुसताछ करता है और उनका सुख-दुख के प्रति मानवीय जिज्ञासा और सहानुभूति का भाव रखते हैं। गाँवों में रहने वाले छोटे जमींदारों और किसानों के बीच यह संघर्ष ज्यादा गहरा होता है, जबकि शहरी

में रहने वाले बड़े जमींदारों और किसानों के बीच सीधा सम्प्रैपण कम ही होता था। प्रेमचन्द ने यह भी दिखाया है कि जमींदार और किसान का यह सामाजिक संबंध अब टूट रहा है और शोषण पर आधारित आर्थिक संबंध ही बच रहा है। नये जमींदार ज्ञानशक्ती का किसानों के साथ वही संबंध नहीं है, जो पुराने जमींदार प्रभाशक्ती का रहा है। दोनों के अंतर के माध्यम से हम जमींदार-किसान के बदलते हुए रिश्ता को पहचान सकते हैं।

वास्तव में यहाँ किसान और जमींदार के सामाजिक संबंध कुछ निश्चित परंपराओं पर आधारित रहे हैं। आसामी की लड़की की शादी के अवसर पर जमींदार लकड़ी आदि से सहायता करता था।¹³ भोज आदि अवसरों पर भी जमींदार किसान की मदद करता था। इसके बदले में किसान भी मालिक के यहाँ शादी-गमों के अवसरों पर शरीर होते और बेगार आदि के द्वारा उनकी सहायता करते। एक तरह से देखा जाय तो बेगार यहाँ आर्थिक शोषण का ही एक रूप नहीं रहा है, बल्कि इससे सामाजिक संबंधों की अभिव्यक्ति होती है। 'प्रेमाश्रम' का मनोहर नये जमींदारों की शिकायत करते हुए परंपरागत संबंधों को इसी तरह सामने रखता है।¹⁴

प्रेमचन्द ने दिखाया है कि जमींदार के यहाँ होने वाले प्रत्येक सामाजिक या सांस्कृतिक उत्सव में किसान हिस्सा लेते हैं। इस अवसर पर हालांकि किसानों का आर्थिक शोषण होता है। 'गोदान' में रायसाहब ने रामलीला का आयोजन किया और शगुन के रूप में आसामिया से रुपये वसूल किए। होरी को भी शगुन के 5/- रुपये देने की चिंता सताती है। 'कर्मभूमि' में जमींदार महंतजी हैं, अतः ठाकुर से संबंधित प्रत्येक अवसर पर आसामिया को उपस्थित होना होता है।¹⁵ हालांकि प्रेमचन्द ने इन संबंधों के आर्थिक परिणामों पर ही ज्यादा ध्यान केन्द्रित किया है लेकिन ऐसे अवसरों पर किसानों की उपस्थिति उनके सामाजिक संबंधों को रेखांकित करती है। पूजावादी समाज में मजदूर और मिल मालिक का जैसा निर्व्यक्तित्व संबंध होता है वैसे संबंध किसान और जमींदार का नहीं है। किसान और जमींदार के बीच एक स्तर पर वैयक्तिक सम्बन्ध भावना भी होती है और इस अर्थ में यह पूजावादी सम्बन्ध नहीं है। उपनिवेशिक समाज का मूल तत्त्व इन सम्बन्धों में भी मिलता है। यहाँ उनके सम्बन्धों के वस्तु और रूप में जबरदस्ती अतिविरोध है। वस्तु तत्त्व तो उनके बीच शुद्ध आर्थिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति करता है लेकिन रूप परंपरागत सामाजिक सम्बन्धों का आवरण बनाए रखने के लिए मजबूर है। इस अर्थ में यह शुद्ध सामंती सम्बन्ध भी नहीं है जहाँ उमंग में आकर, स्वच्छा से किसान ऐसे उत्सवों में हिस्सा लेते हैं।

प्रेमचन्द ने यह दिखाया है कि जमींदार और किसान का सामाजिक सम्बन्ध असमानता पर आधारित है। इन सम्बन्धों में जमींदार श्रेष्ठ है' की धारणा काम करती है। जमींदार के घर पर होने वाले प्रत्येक सामाजिक उत्सव में किसान शारीरिक रूप से उपस्थित होता है लेकिन किसान के घर पर होने वाले उत्सव—त्यौहारों में जमींदार कभी भी उपस्थित नहीं होता। प्रेमचन्द ने ऐसी एक भी स्थिति का वर्णन नहीं किया है जहाँ सामाजिक उत्सवों में कोई जमींदार किसी किसान के घर

गया हो। इसके अलावा जमींदार के घर पर भी किसान दूसरे दर्जे का मेहमान होता है। उससे घर का आदमी समझ कर बेगार ली जाती है और निचले वर्ग का समझ-कर बाहर बंठाया जाता है। उसके लिए अलग से सस्ता खाना तैयार करवाया जाता है। इस तरह प्रेमचन्द ने इसे बार-बार रेखांकित किया है कि जमींदार और किसान का सम्बन्ध हर हालत में मालिक और सेवक का सम्बन्ध है, इसलिए उन्होंने जगह-जगह इस सम्बन्ध की आलोचना की है।

(ख) महाजन और किसान जमींदारों के समान महाजन कोई सामाजिक वर्ग नहीं है। उसकी आर्थिक भूमिका और राजनीतिक प्रभाव तो होता है, लेकिन सामाजिक जीवन में उसकी विशिष्ट भूमिका नहीं होती। महाजन एक महाजन के रूप में किसी भी सामाजिक कार्य में भाग नहीं लेता। प्रेमचन्द ने दिखाया है कि किसानों से महाजनों का आर्थिक सबध तो होता है, लेकिन सामाजिक सम्बन्ध नहीं होता। गाँव में रहने मात्र से जो एक भाईचारे का भाव जाग्रत हो जाता है, उसी के कारण वह गाँव के सामाजिक जीवन में हिस्सा लेता है, या फिर महाजन और किसान एक ही जाति के हुए तो उस जातिगत सबध के अनुरूप व्यवहार करता है। यही कारण है कि 'गोदान' में होरी (किसान) दुलारी सह्याइन (महाजन) से भोजी का सम्बन्ध जोड़कर मजाक कर लेता है। दातादीन को ब्राह्मण मानकर होरी उसे यजमानी देता रहता है। 'बेटी का धन' के महाजन झगड़ू साहू ने सुक्यू चौधरी की बेटी गगाजली के गहने गिरवी नहीं रखे, क्योंकि गाँव के नाते से गगाजली जैसी सुक्यू की बेटी है वैसे ही झगड़ू की भी है। और 'शास्त्र में बेटी के गाँव का पेड़ देखना मना है।'⁶ इस तरह किसान के सामाजिक जीवन में महाजन विरादरी का सदस्य, कुटुम्ब का सदस्य या गाँव के आम निवासी के रूप में हिस्सा लेता है, लेकिन महाजन के रूप में कभी हिस्सा नहीं लेता। अतः उनके सामाजिक सम्बन्धों में वह असमानता नहीं पाई जाती जो जमींदार-किसान सम्बन्धों में मिलती है।

(ग) शहर से किसान का सामाजिक सम्बन्ध प्रेमचन्द ने दिखाया है कि शहर से किसानों का कोई सामाजिक सम्बन्ध नहीं है, बल्कि आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्ध है। यह आर्थिक-व्यापारिक सम्बन्ध भी सीधा नहीं है, बल्कि बिचौलियों के माध्यम से है। 'पंच-परमेश्वर' में समझू साहू नामक बनिया शहर से माल लाकर गाँव में बेचता है। 'गोदान' में शक्कर मील के एजेंट आकर किसानों की ऋण खरीदते हैं। इस तरह के पात्रों का चित्रण प्रेमचन्द ने जगह-जगह किया है। गोबर शहर में मजदूरी करने जाता है। 'ईदगाह' में गाँव के लोग नमाज पढ़ने शहर की ईदगाह में जाते हैं। लेकिन गाँव वालों का यह झुण्ड सड़कों पर अजनबी की तरह चला चलता है। वहाँ उनका सम्बन्ध सिर्फ दुकानदारों से होता है, जहाँ से उन्हें खरीददारी करनी होती है। इसके अलावा 'प्रेमाश्रम' में कुछ राजकर्मचारी दोरे पर गाँव में आते हैं जिनमें किसानों को यातना ही मिलती है। लेकिन कहीं भी, किसी भी पात्र से वह सामाजिक सम्बन्ध बनता हुआ नहीं दिखाया गया है, जिससे शहरी लोग किसानों के सुख दुःख में हिस्सा ले रहे हों।

(घ) बुद्धिजीवी और किसान . इस अर्थ में बुद्धिजीवियों ने कुछ काम जरूर

किये हैं। प्रेमचन्द ने बुद्धिजीवियों और किसानों के बनते हुए सामाजिक-राजनीतिक सम्बन्धों का जगह-जगह चित्रण किया है। 'गोदान' में मेहता और मालती गाँव में जाते हैं और एक दिन होरी के यहाँ रुकते भी हैं। मेहता किसानों से खेती के बारे में बातचीत करते हैं, मालती ग्रामीण स्त्रियों को स्वास्थ्य सम्बन्धी कुछ निर्देश देती है। इसके अलावा प्रेमचन्द साहित्य में ऐसे आदर्शवादी युवक सामाजिक कार्यकर्ताओं की कमी नहीं है, जो किसानों के बीच जाकर भाषण देते हैं, सामाजिक बुराईयों को दूर करने का प्रयास करते हैं और उन्हें राजनीतिक रूप से संगठित करते हैं। इन सब कामों के लिए वे कई-कई दिनों के लिए गाँव में जाकर रहते हैं। 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर स्थायी रूप से हाजीपुर में रहने लगते हैं। 'रगभूमि' में विनय उदयपुर रियासत के गाँवों में काम करता है और एक वर्ष तक सोफिया के साथ भीलों के गाँव में रहता है। 'कायाकल्प' का चक्रधर सन्यासी बनकर गाँव-गाँव घूमता है और किसानों की सेवा करता है। 'कर्मभूमि' का अमरकांत चमारों के गाँव में कुछ दिनों के लिए रहता है, उनकी सामाजिक बुराईयों को दूर करने का प्रयास करता है, उनके बच्चों को पढ़ाता है और लगान-बन्दी आन्दोलन में किसानों का नेतृत्व करता है। किसानों के साथ ये लोग समता के आधार पर सामाजिक सम्बन्ध बनाते हैं, लेकिन प्रेमचन्द ने यह भी दिखाया है कि इनके सम्बन्ध समुचित नहीं हैं। ये सम्बन्ध आदर्शवाद और कर्तव्य भाव पर टिके हुए हैं। ऐसे सभी पात्रों का भावात्मक लगाव शहर के अपने अन्य साथियों के साथ है। अतः ये शहर और गाँव के बीच झूलते रहते हैं। फिर भी लेखक की नजर में उनका यह आदर्शवादी प्रयास भी सराहनीय है। उनका वहाँ जाना और किसानों की स्थिति से परिचित होना, उन्हें संगठित करने का प्रयास करना सराहनीय है, भले ही वे इसमें पूर्ण सफल न हो पाये हों।

प्रेमचन्द ने यह भी दिखाया है कि स्वाधीनता-आन्दोलन के प्रभाव से, और बुद्धिजीवियों की भूमिका से गाँव में किसानों के आपसी सामाजिक सम्बन्धों में भी बदलाव आ रहा है। 'समर यात्रा' में कोदई चौधरी और नोहरी में फिर से आत्मीय सम्बन्ध हो जाते हैं। 'लाग डाँट' में जोखू भगत और बेचन चौधरी की तीन पीढ़ियों की अदावत समाप्त हो जाती है और उनमें मेल हो जाता है। इस तरह प्रेमचन्द ने किसान और बुद्धिजीवी के इस सम्बन्ध को पर्याप्त महत्त्व दिया है।

किसानों के आपसी सम्बन्ध :

प्रेमचन्द ने दिखाया है कि किसानों के सामाजिक सम्बन्ध बहुत कम लोगों से हैं। इसके कई कारण हैं। एक तो किसान शारीरिक रूप से राष्ट्रीय जीवन से अलग-थलग दूरस्थ गाँवों में रहते हैं, जहाँ यातायात और सम्प्रेषण के आधुनिक साधनों का अभाव है। रेल, बस आदि आवागमन के आधुनिक साधनों का दैनिक उपयोग प्रेमचन्द के किसान नहीं करते। वे या तो पैदल चलते हैं, या फिर बैलगाड़ी से सफर करते हैं। प्रेमचन्द की रचनाओं में किसी गाँव से बस या रेल नहीं चलती, सिर्फ रगभूमि में विनय की रेल-यात्रा का संक्षिप्त-सा वर्णन मिलता है। रेडियो, समाचार आदि सम्प्रेषण के आधुनिक साधनों से भी किसान परिचित नहीं हैं—अतः

विश्व के घटना-क्रम की जानकारी किसानों को नहीं मिलती। अतः उनका जीवन-विवेक प्रचलित प्रथाओं और अनुभवगत निरीक्षण से निमित्त होता है। 'प्रेमाश्रम' का बलराज जरूर अखबार की बात करता है, जिसमें हसी क्रांति की खबरें छपती हैं, लेकिन यह प्रतिनिधि किसान का प्रातिनिधिक अनुभव नहीं है, बल्कि लेखक ने अपनी जानकारी का आरोपण पात्र (बलराज) पर कर दिया है। इसके अलावा प्रेमचन्द के किसान निरक्षर हैं—अतः अक्षरों की विशाल दुनिया से किसान अपरिचित है। बाहरी दुनिया का ज्ञान उन्हें श्रुतपरंपरा से मिलता है जो अधिकतर विकृत और अधूरा होता है। गाँव में शिक्षित व्यक्ति या तो सरकारी कर्मचारी होते हैं, या फिर पंडित और सूदखोर महाजन। किसान ठीक से हिसाब करना भी नहीं जानते और इस कारण भी उन्हें पटवारी और महाजन का शिकार होना पड़ता है। इन सब कारणों से किसानों की दुनिया की भौगोलिक और सामाजिक जानकारी बहुत सीमित होती है। उन्हें ज्यादा से ज्यादा अपने जिले की जानकारी होती है, जहाँ या तो उनकी रिश्तेदारी होती है या कचहरी और व्यापारिक कामों के लिए नजदीक के बड़े कस्बे में जाना होता है। अक्सर किसान नजदीक के गाँवों में ही अपने बच्चों की शादियाँ करता है, नाकि आने-जान में अधिक असुविधा न हो। चूँकि राष्ट्रीय जीवन से किसान अलग-थलग रहते हैं, अतः राष्ट्रीय श्रमविभाजन की अन्तर्निर्भरता से भी प्रभावित नहीं होते। उपनिवेशी समाज में रहने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र का उन पर प्रभाव पड़ता है लेकिन वे इस ओर सजग नहीं होते।

भारतीय किसान के सामाजिक जीवन की अपनी लम्बी परंपरा रही है। भारतीय समाज व्यवस्था के इस परंपरागत स्वरूप और उपनिवेशी राज्य व्यवस्था के दबाव से उत्पन्न द्वन्द्व, तनाव और संघर्ष की अभिव्यक्ति प्रेमचन्द की रचनाओं में हुई है। प्रेमचन्द ने किसान के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष के चित्रण में इस अन्तर्विरोध को केन्द्रीय महत्त्व प्रदान किया है। उपनिवेशी व्यवस्था ने भारतीय समाज के परंपरागत ढाँचे को कई जगहों से तोड़ा है या तोड़ने का प्रयास किया है या व्यवस्था के दबाव से यह ढाँचा टूटा है। उनकी रचनाओं में इस टूटन की प्रक्रिया और परंपरागत समाज का इस टूटन के प्रति किया गया प्रतिरोध अभिव्यक्त हुआ है। प्रेमचन्द ने उस वंशमकश को वाणी दी है, जब सामाजिक जीवन के परंपरागत मूल्य नाममात्र के लिए बच रहे हैं और भीतर ही भीतर उपनिवेशी जीवन मूल्य उनका स्थान ले रहे हैं। इस तरह प्रेमचन्द ने भारतीय किसान के सामाजिक जीवन को स्थिर रूप में चित्रित नहीं किया है, बल्कि उसके सक्रमणकालीन गतिशील रूप को चित्रित किया है।

किसान अपनी जीवन-वृद्धि के कारण परंपरागत रूप में ही जीवन जीना चाहता है। वह वही कार्य करना चाहता है, जो अब तक होता आया है। उसे किसी नये कार्य को करने में बाप-दादों का नाम डूब जाने का खतरा लगता है। इसी कारण किसान पुराणपथी होता है। लेकिन समकालीन समाज (प्रेमचन्द कालीन) में उस पर अधिक दबाव इतने ज्यादा पड़ रहे हैं कि वह परंपराओं का पालन करने में अपने को असमर्थ पाता है, पसल एक विशेष प्रकार का अपराध-बोध और पराजय

उपस्थित किया है। उन्होंने इस समस्या को इस रूप में चित्रित किया है जिससे ब्राह्मण और शूद्र के बीच की अमानता पर चोट पड़े।

ब्राह्मणों के बाद समाज में दूसरा स्थान क्षत्रियों का है जो आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली है। इनका काम समाज की रक्षा करना है। ये अधिकतर जमींदार होते हैं और परंपरा से 'राज्य' को भोगने वाला वर्ग है। इनके बाद वैश्य जातियाँ आती हैं, जो व्यापारिक और आर्थिक कर्म करती रहती हैं। हिन्दू समाज में निम्न जातियाँ अछूत मानी जाती हैं। इनका काम समाज की अन्य जातियों की सेवा करना है। ये सदियों तक खुद भी अपने को इसी काम के लिए नियुक्त मानते हैं। स्वाधीनता आन्दोलन और समाज सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप इनमें भी समानता की संस्कृति का उदय हो रहा है—इस ओर प्रेमचन्द ने भी ध्यान दिया है। गाँधी जी ने अछूतों के लिए नारा देकर इसे राजनीतिक कार्य के समान महत्व दिया था। इस युग में बड़े पैमाने पर अछूतों के मंदिर-प्रवेश की समस्या भी उठ खड़ी हुई थी। प्रेमचन्द ने अछूतों के मंदिर प्रवेश की समस्या को अलग ढंग से उठाया है। प्रेमचन्द धर्म को शोषण का गढ़ मानते हैं इसलिए अछूतों के मंदिर में प्रवेश अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने अछूतों की इस इच्छा को मानवीय बताते हुए और गवर्नों की आलोचना करते हुए भी इस दोनों की 'मिथ्याचेतना' ही माना है। अछूतों के उद्धार के लिए प्रेमचन्द समानता और सवाभाव को आवश्यक मानते हैं। 'मन' कहानी का एक अछूत पात्र अछूतों के उद्धार करने वालों को कहता है, "हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं जो रात दिन नशे में डूबे रहते हैं, माँस के बिना कौर नहीं उठाते, और कितने ही ऐसे हैं, जो एक अक्षर भी नहीं पढ़ें हैं, पर आपको उनके साथ भोजन करते देखते हैं। उनसे विवाह-संबंध करने में आपको कदाचित् इकार न होगा। जब आप खुद अज्ञान में पड़े हुए हैं, तो हमारा उद्धार कैसे कर सकते हैं? आपका हृदय अभी तक अभिमान से भरा हुआ है। आइए, अभी कुछ दिन और अपनी आत्मा का परिष्कार कीजिए।"⁸ 'कर्मभूमि' का नायक अमर बहुत दिनों तक समानता के इसी वांछित भाव से चमारों के गाँव में रहता है और उनके बच्चों को पढ़ाता है। ठाकुर का कुआँ में दिखाया गया है कि कैसे गाँवों में चमारों को कुएँ से पानी लेने की भी स्वतंत्रता नहीं है। 'मंदिर' जैसी कहानियों में अछूतों की समस्या को उपस्थित किया गया है।

प्रेमचन्द ने दिखाया है कि भारतीय किसान धर्मभीरु रहा है। भारतीय धर्म-व्यवस्था में असमानता पर आधारित इस समाज-व्यवस्था को जायज करार दिया है। मालिक और सेवक के बीच यहाँ सिर्फ आर्थिक सम्बन्ध ही नहीं माना जाता, बल्कि धार्मिक सम्बन्ध भी माना जाता है। इसमें धर्म जुड़ा हुआ है। मालिक के हुक्म की न मानना धर्म विरोधी कार्य है। 'नशा' कहानी का एक पात्र जमींदार और किसान के सम्बन्धों में निहित इस धार्मिक विचारधारा को स्पष्ट करते हुए कहता है, 'वह लोग तो असामिया पर इसी दाव से शासन करते हैं कि ईश्वर ने असामिया को उनकी सेवा के लिए ही पैदा किया है। असामी भी यही समझता है। अगर

उसे मुझा दिया जाए कि जमींदार और असामी में कोई मौलिक भेद नहीं है, तो जमींदारों का वही पता न लगे।"१

राजा और प्रजा, जमींदार और असामी के बीच की असमानता को धार्मिक कर्तव्य का रूप देकर उसे स्थायी बनाने का जो प्रयास यहाँ सदियों से किया जाता रहा है, उसे प्रेमचन्द जैसे आधुनिक राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों ने चुनौती दी। इस तरह उन्होंने सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में भी जनतान्त्रिक व्यवस्था स्थापित करने की वकालत की।

उन्होंने समाज में चल रहे दुहरे मानदण्ड का भी विरोध किया। गोदान में दातादीन का लड़का मातादीन सिलिया चमारिन से अवैध सम्बन्ध बनाए हुए है। उसे कोई कुछ नहीं कहता, क्योंकि भोजन के मामले में वह सिलिया से छूआछूत रखता है। इसलिए उसका बहू कर्म जायज है। इधर गोबर का झुनिया से प्रेम हो जाता है। इसके फलस्वरूप झुनिया गर्भवती हो जाती है। होरी और घनिया झुनिया को अपने घर में बहू के रूप में रख लेते हैं। निश्चय ही यदि होरी झुनिया को अपने यहाँ नहीं रखता तो झुनिया आत्महत्या कर लेती। होरी के इस मानवीय कर्म की सराहना करने के बदले दातादीन जैसे लोग ही मुखिया बनकर होरी को दण्डित करते हैं। 'गोदान' का लेखक पूछता है—कि आखिर किस मानदण्ड से मातादीन को तो कुछ नहीं कहा जाता और होरी को दंड दिया जाता है। इसका कारण यह है कि समाज में ब्राह्मण मातादीन के लिए जो मानदण्ड है, वही मानदण्ड गोबर के लिए नहीं है। ऐसी अनेक असमानताओं पर प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में चोट की है।

किसान समाज की संरचना

परिवार—प्रेमचन्द ने एक पारिवारिक व्यक्ति के रूप में किसान के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का चित्रण किया है। मध्यवर्ग के लिए परिवार उपभोग का केन्द्र होता है, लेकिन किसान के लिए परिवार उत्पादन का केन्द्र भी होता है। किसान के पारिवारिक सम्बन्ध उत्पादन के सम्बन्ध भी होते हैं। उत्पादन कर्म में सारा परिवार एक साथ लगता है। इसलिए किसान बिना परिवार के नहीं रह सकता। मध्यवर्गीय मेहता अविवाहित रह सकते हैं, लेकिन होरी के अविवाहित जीवन की हम कल्पना ही नहीं कर सकते। वह स्वाभाविक और पारिवारिक जीवन जीना चाहता है।

किसान अपनी चेतना से संयुक्त परिवार का पक्षपाती होता है। प्रेमचन्द ने दिखाया है कि नयी व्यवस्था के दबाव से यह संयुक्त परिवार टूट रहा है और इस टूटते हुए संयुक्त परिवार को बचाने के लिए किसान अथक प्रयास कर रहा है। इनमें कभी वह सफल होता है और कभी असफल होता है। संयुक्त परिवार को बचाने के इस सघर्ष में किसान अपनी सामर्थ्य और इच्छा-शक्ति के सहारे सफल होता है और ऐतिहासिक परिस्थितियों के दबाव से असफल होता है। संयुक्त परिवार के बिखर जाने के बाद भी किसान उन सम्बन्धों को मानता और निबाहता रहता है। तात्पर्य यह है कि संयुक्त परिवार के विघटन के बाद भी चेतना के स्तर पर किसान संयुक्त परिवार में ही रहना चाहता है। इस तरह प्रेमचन्द-साहित्य में भारतीय

प्रेमचन्द ने किसान परिवार का चित्रण करते समय मुखिया के व्यक्तित्व का चित्रण अवश्य किया है क्योंकि परिवार की अवस्था का अनुमान मुखिया के चरित्र से ही लग जाता है। 'स्वामिनी' में परिवार की हासत सुधर जाने की जिम्मेदारी रामप्यारी के योग्य संचालन पर निभर है।¹⁴ स्वामिनी और सुजान भगत में प्रेमचन्द ने मुखिया को केन्द्रीय महत्त्व दिया है। सुजान भगत में तो परिवार में मुखिया के परिवर्तन होने की नाजुक प्रक्रिया का चित्रण किया गया है और इसी के साथ परिवार में मुखिया की स्थिति को भी स्पष्ट किया गया है।

परिवार में पिता का प्रभुत्व होता है इस प्रेमचन्द साहित्य के सभी पात्र मानते हैं। परिवार के भीतर सारे कायदे कानून मुखिया की इच्छा व सुविधा के अनुसार बनते बदलते रहते हैं। परिवार में उसका स्वच्छाचारी शासन होता है। लेकिन मुखिया के परिवर्तन के साथ ही वह उन अधिकारों से वंचित भी हो जाता है। उसका मान सम्मान तो बढ़ता जाता है लेकिन अधिकार घटता जाता है। सुजान भगत पदच्युत होने के बाद भिखारी को सेर भर अनाज देन लगता है तो उसका लडका उसे मना कर देता है और वही सुजान मुखिया बनकर उसी भिखारी को एक मन अनाज दे देता है तब उसका लडका चू तक नहीं करता।

दुलाकी कहती है जो कमाता है उसी का घर में राज होता है यही दुनिया का दस्तूर है।¹⁵ दुनिया के दस्तूर के मुताबिक मुखिया इसलिए मुखिया होता है, क्योंकि वह सबसे ज्यादा उत्पादन करता है। किसान जब उत्पादन कर्म से हट जाता है तो उसका बेटा मुखिया बन जाता है। यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से घटित होती रहती है।¹⁶ व्यावहारिक पात्र इस समझ लेते हैं और पदच्युत होने के बाद मिसने वाला सम्मान से सतुष्ट हो जाते हैं। लेकिन सुजान भगत इस परिवर्तन का विरोध करता है। ज्यों ही उस यह एहसास होता है, वह फिर उत्पादन कर्म में लग जाता है और मुखिया का गौरवशाली पद प्राप्त करता है। उसी भिक्षुक को एक सेर के बदले एक मन अनाज देकर अपन निरकुश अह को तुष्ट करता है।

किसान के मकान में एक कोठरी (या भण्डारा) मेसा होता है जिसकी चाबी सिर्फ मुखिया के ही पास होती है। घर के अन्य प्राणियों के लिए वह 'रहस्य' सी रहती है। 'स्वामिनी' बनने के बाद रामप्यारी ने पहला काम इस कोठरी का दशन करना ही किया। मटकों में गुड़ शक्कर गेहूँ जो आदि चीजें रखी थी। एक किनारे बड़े बड़े बरतन धरे थे जो शादी व्याह के अवसर पर निकाले जाते थे या मांगे दिये जाते थे। एक आले पर मालगुजारी की रसीदें और लेन देन के पुरजे बंधे हुए रखे थे। कोठरी में एक विभूति सी छापी थी, मानो लक्ष्मी अज्ञात रूप से विराज रही हो।¹⁷

किसान परिवार का मुखिया बेहद कजूम और जिम्मेदार होता है। खर्चा न होने की झूठी कमब तो वह कभी भी खा सकता है। परिवार के दूरगामी हितों की रक्षा करने हेतु उसे ऐसा करना पड़ता है। बेहद उदार रामप्यारी भी स्वामिनी बनते ही कजूस हो गयी और तरह-तरह के बहाना बनाना सीख गयी। मुखिया के बलावा परिवार के अथ मद्दम्य वही काम करते हैं, जो उन्हें सौंपे जाते हैं। अपने

मन से काम करने की चेतना मुखिया में ही होती है। 'स्वामिनी' बनने के बाद पहली बार जब उसने घर का दौरा किया, तो उसे अनेक कमियाँ नजर आयी, जिनकी तरफ उसका ध्यान कभी गया ही नहीं था।¹⁸

पुराने ढंग के मुखिया की तमन्ना हमेशा यह रहती है कि उसका घर गाँव में सबसे सम्पन्न समझा जाए—और इस कारण उसे कुछ अधिक रुपये खर्च करने पड़ते हैं। मुखिया के मरने के बाद लोगो को पता चलता है कि उनका परिवार इतना सम्पन्न नहीं है, जितना लोगो का अनुमान था। मुखिया परिवर्तन के बाद घर की हालत भी बदल जाती है। कई बार कर्मठ और बुद्धिमान मुखिया के मर जाने के बाद उसका पुत्र निठल्ला या कामचोर निकलता है, इससे घर की हालत बिगड़ती जाती है।

'स्वामिनी' में "मथुरा मजदूर तो अच्छा था, सचालक अच्छा न था। उसे स्वतन्त्र रूप से काम लेने का कभी अवसर न मिला। खुद पहले भाई की निगरानी में काम करता रहा। बाद को बाप की निगरानी में करने लगा। खेती का तार भी न जानता था।"

'सुजान भगत' में, "उसने (भोला ने) कभी इतना परिश्रम न किया था। उसे बनी-बनायी गिरस्ती मिल गयी थी। उसे ज्यो-ज्यो चला रहा था।"

मुखिया के परिवर्तन में होने वाले संघर्ष में प्रेमचन्द ने पुराने मुखियों का अवसर साथ दिया है। उन्होंने इस तर्क का समर्थन किया है कि जिसने मर-मर कर जिस गृहस्थी को बनाया हो, उनी को अधिकार वचित कर देना कहीं का न्याय है। 'बेटा वाली विधवा' का पक्ष भी उन्होंने इसी आधार पर लिया था।

किसान परिवार में बच्चों की स्थिति—प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में परिवार में बच्चों के लालन पालन का जगह-जगह बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। प्रेमचन्द के मन में इस चित्रण में कहीं यह भाव भी रहा है कि चूँकि बच्चे निर्दोष होते हैं, अतः उनकी चेतना पर ईर्ष्या-द्वेष व स्वार्थ के सामाजिक भाव नहीं होते और इस प्रकार उनके सम्बन्धों में ज्यादा मानवीयता होती है। दो भाई' में प्रेमचन्द ने बेदार और माधव, दोनों भाइयों के बचपन और उसके बाद के सम्बन्धों की तुलना का चित्रण करके इसी ओर संकेत किया है।¹⁹

अन्य भारतीय परिवारों की तरह किसान परिवार में भी लड़के और लड़की के लालन-पालन में भेद किया जाता है। लड़के के जन्म के समय उत्सव मनाया जाता है, उसे खाने-पहनने के लिए उत्तम वस्तुएँ मिलती हैं, यहाँ तक कि माता-पिता का स्नेह भी उसे अधिक मिलता है। लड़की अभागिनी मानी जाती है और आवश्यक योजन की तरह उसे पाला-पोसा जाता है। इसका कारण यह है कि संपत्ति का उत्तराधिकारी लड़का होता है, बूढ़े माता-पिता की सेवा-मुख्यता का कार्य लड़का करता है और अनेक सामाजिक-धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन उसी के द्वारा होता है। लड़की बड़ी होने के बाद समुदाय चली जाती है और इस तरह पीढ़र से उसका रिश्ता औपचारिक हो जाता है। इन सामाजिक परंपराओं के बावजूद कई किसान अपने बेटे-बेटियों को समान रूप से प्यार करते हैं। होरी अपनी सबसे छोटी बेटरी रूपा को अपने साथ खाना खिलाकर इसी प्यार को व्यक्त करता है। इसी तरह

‘सुभागी’ कहानी के “तुलसी महतो अपनी लड़की सुभागी को लड़के रामू से जी-भर कम प्यार न करते थे।”²⁰ फिर भी प्रेमचन्द ने यह अवश्य दिखाया है कि शिक्षित परिवारों की तुलना में किसानों के यहाँ लड़का और लड़की के पालन-पोषण में बहुत कम अन्तर होता है। ‘तैतर’ जैसी कहानियों में उन्होंने शिक्षित वर्ग में लड़की की स्थिति का मार्मिक चित्रण किया है।

किसान अपने बच्चों को बहुत प्यार करता है। होरी और धनिया अपने बच्चों को बड़े लाड़-प्यार से पालते हैं। समुक्त परिवार के आपसी सम्बन्धों का प्रभाव बच्चों पर भी पड़ता है। परिवार में जो ज्यादा कमाता है, उसके बच्चों को अधिक सुविधाएँ मिलनी हैं और जो व्यक्ति छैला बना घूमता है, उसके बच्चों की उपेक्षा होती है। ‘शखनाद’ के दाँके गुमान के बच्चे को घेले की मिठाई के लिए भी तरसना पड़ता है। इसी बच्चे के प्यार के कारण गुमान भी थम करने लगता है। बच्चों के प्रति किसान के प्यार का यह भी एक उदाहरण है।

भाई वहनों में थोड़ी-बहुत ईर्ष्या, भय, झगड़े के अलावा बच्चों के आपसी सम्बन्ध बहुत मधुर रहते हैं। बच्चे सामाजिक असमानता में न केवल विश्वास नहीं करते, बल्कि उसे तोड़ते रहते हैं। उनके व्यवहार की यह समानता और मानवीयता प्रेमचन्द को आकर्षित करती रही है। ‘गुल्ली-डंडा’ में प्रेमचन्द ने बच्चों के इन आत्मीय सम्बन्धों का मार्मिक चित्रण किया है। इसी कारण प्रेमचन्द ने बचपन को बहुत ही हसरत-भरी कसक के साथ याद किया है। ‘चोरी’ कहानी की शुरुआत इसी कसक से होती है—“हाय बचपन ! तेरी याद नहीं भूलती ! वह बच्चा, टूटा घर, वह पुवाल का बिछोना, वह नगे बदन, नगे पाँवों खेतों में घूमना, आम के पेड़ों पर चढ़ना—सारी बातें आँखों के सामने फिर रही हैं।”²¹ बचपन की इस हसरत के पीछे युवावस्था का सपर्प और बचपन की बेफिक्री है। बच्चों की बड़ों से तुलना करते हुए प्रेमचन्द ने ‘ईदगाह’ कहानी में एक जगह लिखा है, “इन्हे घर की चिंताओं से क्या प्रयोजन ! सेवियों के लिए दूध और शक्कर घर में है या नहीं, इनकी बला से, ये तो सेवियाँ खायेंगे, वह क्या जानें कि अब्बाजान क्यों बदहवास चौधरी कायमअली के घर दौड़े जा रहे हैं ? उन्हें क्या खबर कि चौधरी आज आँखें बदल लें, तो यह सारी ईद मुहर्रम हो जाए ? उनकी अपनी जेबों में तो कुबेर का धन भरा हुआ है। बार-बार जेब से अपना खजाना निकालकर गिनते हैं और खुश होकर फिर रख लेते हैं। महमूद गिनता है, एक-दो, दस बारह। उसके पास बारह पैसे हैं।”²²

प्रेमचन्द के लिए बच्चों की सबसे बड़ी ट्रेजडी उनके इस बचपने का अपहरण है। यह मासूमियत और बेफिक्री आगे कहाँ ? इसलिए प्रेमचन्द ने ‘ईदगाह’ में हामिद के चिमटे खरीदने को एक बहुत बड़ी ट्रेजिक् घटना के रूप में चित्रित किया है। माता-पिता का बच्चों के लिए असीम प्यार, जिससे बच्चे देखभाल ही रहते हैं, प्रेमचन्द की रचनाओं में भरा पड़ा है। लेकिन गाँव में व्याप्त इस गरीबी का सबसे कष्टप्रण प्रभाव बच्चों पर ही पड़ता है। उनको भीख माँगते देख किसका हृदय नहीं पसीज जाता ! ‘दर का अंत’ कहानी में पिता की दृष्टि से प्रेमचन्द ने बच्चों की दुरवस्था का चित्रण किया है।²³

संयुक्त परिवार में नारी बहू के रूप में प्रवेश करती है। उसे अन्य प्राणियों का सम्मान करना होता है सभी की आज्ञाओं का पालन करना होता है। यहाँ बहू के आत्मसम्मान पर आक्रमण किया जाता है। नारी को ऐसे माहौल में न केवल अपने आत्मसम्मान की रक्षा करनी होती है, बल्कि अपने मैके के सम्मान के लिए भी लड़ना पड़ता है। समान आर्थिक-सामाजिक स्थिति वाले परिवारों में भी नारी को अपने मैके की अवधारण निन्दा सुननी पड़ती है। यदि नारी के मैके और समुराल में आर्थिक-सामाजिक स्थितियाँ का अन्तर हुआ, तब तो इन दोनों में सन्तुलन रख पाना उसके लिए बहुत कठिन हो जाता है। अगर मैके वाले गरीब हुए तो उसे बराबर इस प्रकार के ताने सुनने पड़ते हैं कि इस विचारों ने बाप के घर में देखा ही क्या है, जो कि अमुक कार्य कर सके। उसके कमों की सारी कमजोरियों का अंतिम श्रेय मैके वाले को देकर उसे अवहेलनामय अपमान सहन करना पड़ता है। यदि लड़की 'बड़े घर की बेटी' हुई, तब भी उस कष्ट सहन करना पड़ता है। स्त्री से अपने मैके की निन्दा नहीं सही जाती। मैके की निन्दा करने का अधिकार न केवल पति या सास समुर को होता है, बल्कि ननदों और देवर-जेठों को भी होता है। 'बड़े घर की बेटी' में आनन्दी और देवर लालबिहारी में इसी नाजुक मामले पर कहा सुनी हो गयी। अपने मैके की तारीफ में आनन्दी ने कहा कि "हाथी मरा भी, नौ लाख का। यहाँ इतना धी नित्य नार्द-नहार पा जाते हैं।"²⁵ इस गुस्ताखी से देवर जी नाराज हो गये और उन्होंने अपनी भाभी को खड़ाऊँ से पीट दिया। स्थिति यह है कि सारी कहानी में लालबिहारी तथा उसके पिता को लगता ही नहीं है कि उसने हाथ उठाकर कोई गंभीर अपराध किया है। इस मामले पर भी अलग्योक्षा हो सकता है, इसकी तो वे दोनों कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

स्त्री को शारीरिक यातना देने का अधिकार तो पति को बहुत ही सहज मिल जाता है। यहाँ तक कि सीधा-सादा होरी भी दबग धनिया को पीट देता है। मारपीट के इस दृश्य का वर्णन प्रेमचन्द ने किया है। "होरी धनिया को मार रहा था। धनिया उसे गालियाँ दे रहा थी। दोनों लड़कियाँ बाप के पाँवों से लिपटी चिल्ला रही थी और गोबर माँ को बचा रहा था। बार-बार होरी का हाथ पकड़कर पीछे धकेल देता, पर ज्योंही धनिया के मुँह से कोई शब्द निकल जाती, होरी अपने हाथ छुड़ाकर उसे दो चार धूसों और लात जमा देता। उसका बूढ़ा क्रोध जैसे किसी गुप्त संचित शक्ति को निवाल लाया हो। सारे गाँव में हलचल पड़ गई। लोग समझाने के बहाने तमाशा देखने आ पहुँचे।"²⁶ किसान परिवारों में इस तरह के दृश्य साधारण-प्रचलित स्थिति। ऐसा कोई बिरला ही पति होता है जो अपनी पत्नी को पीटता न हो। 'सुजान भगत' ऐसा ही एक किसान है। जीवन के अंतिम दिनों में जब वह बुलाकी से नाराज होता है तो पछताते हुए सोचता है कि 'मैंने इसे फूल की छड़ी से भी नहीं छुआ, नहीं तो गाँव में ऐसी कौन औरत है, जिसने खसम की लातें न खायी हो, कभी कभी निगाह से देखा तक नहीं। रुपये पैसे लेना-देना, सब इसी के हाथ में दे रखा था।'²⁷

पति-पत्नी में छोटे-मोटे संघर्ष के बावजूद किसान-परिवार में पति-पत्नी के

बीच जबर्दस्त एकता और सहयोग होता है। सघर्ष उनकी एकता को मजबूत करता है। किमान अपनी स्त्री को पीटता है, लेकिन चलता उसी के कहने से है। हीरा और पुनिया के सम्बन्धों पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है, "हीरा—बहू अपने घर की मालकिन थी। उसी के विद्रोह से भाइयों में अलगगोझा हुआ था। धनिया को परास्त करके शेर हो गई थी। हीरा कभी-कभी उसे पीटता था। अभी हाल में इतना मारा था कि वह कई दिन तक खाट से न उठ सकी, लेकिन अपना पदाधिकार वह किसी तरह न छोड़ती थी। हीरा क्रोध में उसे मारता था, लेकिन चलना था उसी के इशारों पर; उस घोड़े की शक्ति, जो कभी-कभी स्वामी को लात मारकर भी उसी के आसन के नीचे चलता है।"²⁸ 'अलगगोझा' का मातृभक्त रघू भी मुलिया के इशारों पर चलने के लिए चाप्य है। यहाँ पति-पत्नी का झगडा इतना नहीं बढ़ता कि सम्बन्ध-विच्छेद की नीबट आ जाए।

जीवन के पचास-साठ वर्ष साध-साध बिताने के कारण पति-पत्नी में एक खास तरह की आत्मीय साझेदारी विकसित होती जाती है, इसका सौंदर्यबोधीय चित्रण प्रेमचन्द ने मन लगाकर किया है। होरी और धनिया के सम्बन्धों का सौंदर्य इसी साहचर्य-जन्य प्रेम में निहित है। प्रेमचन्द के साहित्य में अक्सर नारी यथार्थवादी होती है। 'गोदान' में होरी की अपेक्षा धनिया ज्यादा यथार्थवादी चरित्र है। 'सुजान भगत' में बुलाकी परिवर्तित जीवन-मार्थ को समझ जाती है और उसी के अनुरूप जीवन बिताने लग जाती है, लेकिन सुजान इस परिवर्तन से रुठ जाता है और (एक दिन) खाना नहीं खाता। बुलाकी उसे समझाती हुई कहती है, "सुनती थी, मर्द बड़े समझदार होते हैं, पर तुम सबसे न्यारे हो। आदमी को चाहिए कि जैसा समय देखे वैसा काम करे। अब हमारा और तुम्हारा निवाह इसी में है कि नाम के मालिक बने रहें और वही करें जो लड़कों को अच्छा लगे। मैं यह बात समझ गयी, तुम क्यों नहीं समझ पाते।"²⁹ प्रेमचन्द ने किमान परिवार में स्त्री और पुष्प के अन्तर्विरोध का चित्रण कम किया है और उनके सहयोग का चित्रण ही अधिक किया है। इसलिए प्रेमचन्द ने नारी के दर्द की अभिव्यक्ति करते हुए भी उसे मुख्य स्थान नहीं दिया है। यहाँ तक कि ग्रामीण लोक गीतों में नारी के दर्द की जो मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है, उस तरह की भावविह्वल अभिव्यक्ति प्रेमचन्द की रचनाओं में नहीं मिलती। ऐसे में ग्रामीण यथार्थ के चित्रण में मुख्य स्थान नारी के दर्द को मिल जाता है और आर्थिक शोषण का दर्द गौण स्थान ले लेता है। प्रेमचन्द ने आर्थिक अन्याय को ज्यादा उभारकर सामने रखा है।

प्रेमचन्द की रचनाओं में सास-बहू के झगड़े का वर्णन भी मिलता है। लेकिन इस झगड़े को उन्होंने पारिवारिक परिवेश में कम ही दिखाया है, उनके आपसी सम्बन्धों के तनाव की सामाजिक अभिव्यक्ति ही हुई है। 'पनघट' गाँव में पानी लाने का केन्द्र ही नहीं है, वल्कि सांस्कृतिक केन्द्र भी है। पनघट में नारी का मुक्ति-केन्द्र है, जहाँ वह मुक्त रूप से अपने भावों की अभिव्यक्ति कर सकती है। प्रेमचन्द ने पनघट का सौंदर्यबोधीय चित्रण तो बहुत कम किया है, कम स्थान का उपयोग उन्होंने सामाजिक सत्कृति के चित्रण के लिए किया है।

भैं पनघट का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने सास-बहू के सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला है, "पनघट पर गाँव की अलबेली स्त्रियाँ जमा हो गई थी। पानी भरने के लिए नहीं, हँसने के लिए। कोई घड़े को कुएँ में डाले हुए अपनी पोपली सास की नकल कर रही थी, कोई खम्भों से चिपटी हुई अपनी सहेली से मुस्कराकर प्रेम-रहस्य की बातें करती थी। बूढ़ी स्त्रियाँ पोतों को गोद में लिए अपनी बहुओं को कोस रही थी कि घटे भर हुए अब तक कुएँ से नहीं लौटी।" ³⁰ सारा गाँव इस सम्बन्ध के आधार पर दो दलों में बटा हुआ होता है, "एक बहुओं का, दूसरा सासों का। बहुएँ सलाह और सहानुभूति के लिए अपने दल में जाती हैं, साँसें अपने में। दोनों की पचायतें अलग होती हैं।" ³¹

मनोहर, बलराज आदि किसानों के जेल चले जाने पर प्रेमचन्द ने भी सास-बहू का यह झगडा सामाजिक रूप ले लेता है। "गाँव में कितनी ही ऐसी बूढ़ा महिलाएँ थी जो अपनी बहुओं से जला करती थी। उन्हें विलासी से सहानुभूति हो गयी। शनं. शनं यह कैफियत हुई कि विलासी के वरोठे में सासों की नित्य बैठक होती और बहुओं के खूब दुखड़े रोये जाते। उधर बहुओं ने भी अपनी आत्मरक्षा के लिए एक सभा स्थापित की। इसकी बैठक नित्य दुखरन भगत के घर होती। विलासी की बहू इस सभा की सचालिका थी।" ³² सास-बहू के इस झगडे को प्रेमचन्द ने दोनों पक्षों का अज्ञान माना है और इस तरह किसी भी एक पक्ष का समर्थन नहीं किया। 'गोदान' में धनिया और झुनिया के झगडे का चित्रण करते हुए उन्होंने अपना उभय पक्षीय रुख स्पष्ट किया है। ³³ इसके अलावा प्रेमचन्द के पुरुष पान भी अवसर इन झगडों से तटस्थ रहते हैं और बारी-बारी से दोनों को डाँट-उपट कर समझा देते हैं। पुरुष को पूर्णतः न तो माँ अपने वश में कर पाती और न पत्नी। दोनों इस ओर प्रयास करती रहती और घर की किसी समस्या पर 'पुरुष' को बचाते हुए दोनों एक-दूसरे पर दोषारोपण करके सतुष्ट हो जाती हैं। गोबर शहर जाकर जब बदल गया और उसमें व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई देने लगी, तब धनिया ने इसे झुनिया की ही करामात समझा और उसी को कोसने में लगी रही। होरी इस मामले में बहुत स्पष्ट था कि इसमें गोबर का ही दोष है, झुनिया का नहीं।

भारतीय किसानों में शादी-व्याह :

प्रेमचन्द ने अधिकतर हिन्दू किसानों के पारिवारिक जीवन का चित्रण किया है। हालाँकि 'ईदगाह' जैसी कहानियों में मुस्लिम जीवन का भी वर्णन है, लेकिन यह अत्यल्प है। उनके साहित्य में हिन्दू किसानों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का सापोषाग वर्णन मिलता है। उत्तरी भारत के ग्रामीण किसानों की सामाजिक परंपराओं का वर्णन प्रेमचन्द ने किया है। जाति-व्यवस्था की जटिलता के कारण यहाँ क्लासि-कल हिन्दू संस्कृति के अनुसार जीवन जीने वाले किसान नहीं मिलते। अलग-अलग जातियों ने अपनी आवश्यकता और सुविधा के अनुसार अपनी अलग परंपराएँ बना ली हैं, जो अब उनके बीच मान्य हो गयी हैं। शादी-व्याह से संबंधित यहाँ अनेक ऐसी प्रथाएँ प्रचलित हैं, जिन्हें 'शुद्धतावादी' हिन्दू कभी भी स्वीकार नहीं करेंगे।

प्रेमचन्द ने सामाजिक उत्सवों और सांस्कृतिक समारोहों के स्वायत्त, सौंदर्य-बोधोद्य चित्रण में रुचि बहुत कम दिखायी है। उन्होंने बड़े ही आये-गये ढंग से कई जगह इन उत्सवों का वर्णन किया है। 'अलम्योशा' में रघू के गीने का सन्निपत वर्णन इसी तरह का है—“तीसरे दिन मुलिया मैंके से आ गई। दरवाजे पर नगाड़े बजे, शहनाइयो की मधुर ध्वनि आकाश में गूँजने लगी। मुह-दिखावे की रस्म अदा हुई।”³⁴ इसके बाद प्रेमचन्द अन्य जीवन स्थितियों का वर्णन करने लग गये। उन्होंने समाज की वर्तमान समस्याओं और स्थितियों का चित्रण ज्यादा रुचिपूर्वक किया है। युगों से चली आ रही परंपराओं का जो रूप आज बच गया है, उसका वर्णन उन्होंने इसी चलताऊ ढंग से कर दिया है।

ग्रामीण किसान के लिए शादी सिर्फ़ सेक्स सम्बन्ध का नैतिक रूप ही नहीं है, बल्कि एक धार्मिक कर्त्तव्य है। इसके अलावा किसान के लिए शादी आर्थिक कारणों से भी अनिवार्य है। इसी कारण किसान स्वेच्छा से कभी कुआरा नहीं रहता। मजदूरी में उसे भले ही रहना पड़े।

परिवार का मुखिया सभी बच्चा के शादी-व्याह के लिए भी जिम्मेदार होता है। पिता या घर का मुखिया ही बच्चों के लिए योग्य जीवन-साथी चुनता है। इस प्रक्रिया में वह लड़के या लड़की की राय जानना आवश्यक नहीं समझता। अपनी पहुँच के हिसाब से वह सगाई कर देता है। किसान यह अवश्य करता है कि यह रिश्तेदारी ज्यादा दूर न हो। कभी-कभी तो वह एक ही परिवार में अपने दो-तीन बच्चों की शादियाँ कर देता है। 'स्वामिनी' कहानी में यही होता है। “रामप्यारी और रामदुलारी दो सगी बहनें थी। दोनों का विवाह—मथूरा और बिरजू—दो सगे भाइयों से हुआ। दोनों बहनें नैहर की तरह ससुराल में भी प्रेम और आनन्द से रहने लगीं।”³⁵ शादी के सम्बन्ध में इस तथ्य को हमेशा ध्यान में रखा जाता है कि एक ही जाति में शादी हो। प्रेमचन्द ने किसानों में अन्तर्जातीय विवाह का वर्णन कहीं नहीं किया है। दूसरी जाति में शादी हो भी सकती है, इसकी कल्पना ही प्रेमचन्द के पास नहीं करते। मातादीन जब सिलिया के साथ पूरी तरह से रहने लग जाता है, तब वह ब्राह्मण नहीं रह पाता, खुद भी चमार बन जाता है। विजातीय लड़के-लड़कियों में यौन-सम्बन्ध तो हो सकता है, लेकिन विवाह नहीं हो सकता। हालांकि इस यौन-सम्बन्ध को भी अनैतिक माना जाता है, लेकिन सिर्फ़ इसी कारण से किसी व्यक्ति को जाति-च्युत नहीं कर दिया जाता।

कई बार गाँव में किसी लड़के की शादी में बहुत कठिनाई हो जाती है। धीरे-धीरे उसकी उम्र भी ढलने लगती है। ऐसे निराश कुआरों का चित्रण प्रेमचन्द ने 'विस्मृति' कहानी में किया है। सगाई करवाने के लिए नाई और ब्राह्मण लोग बिचोलिये का काम करते हैं। य बिचोलिये कई बार विवाहेच्छु प्रौढ़ों को ठगते भी रहते हैं। 'विस्मृति' में 'कितन ही नाई और ब्राह्मण व्याह के असत्य समाचार लेकर उनके यहाँ आते, और दो-चार दिन पूड़ी कचौड़ी खा, कुछ विदाई लेकर बरबर्रा (फलदान) भेजने का वादा करके अपने घर की राह लेते।’³⁶

प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में वर ढूँढ़ने का बड़ा ही दिलचस्प वर्णन किया है। पण्डित

उमानाथ सुमन के लिए वर ढूढ़ने गाँव में भी जाते हैं। “ज्योही वह किसी गाँव में पहुँचते, वहाँ हलचल मच जाती। युवक गठरियों से वह कपड़े निकालते, जिन्हें वह बारातों में पहना करते थे। अगूठियों और मोहन मालें मँगनी माँग कर पहन लेते। माताएँ अपने बालकों को नहला-धुलाकर आँखों में काजल लगा देती और घुत्ते हुए कपड़े पहनाकर खेलने भेजती। विवाह के इच्छुक बूढ़े नाइयों से मोछ कटवाते और पके हुए बाल चुनवाने लगते। गाँव के नाई और कहार खेतों से बुला लिए जाते, कोई अपना बड़प्पन दिखाने के लिए उनसे पैर दबवाता, कोई धोती छटवाता। जब तक उमानाथ वहाँ रहते, स्त्रियाँ घरों से न निकलती, कोई अपने हाथ से पानी न भरता, कोई खेत में न जाता।”³⁷

बच्चों की सगाई और शादी तो अवसर बचपन में ही हो जाती है। बच्चे जब जवान होते हैं, तभी उनका गोना किया जाता है और तभी दुल्हा-दुल्हन मिल सकते हैं। ‘गोदान’ में होरी ने सोना की सगाई बचपन में ही कर दी थी और गोबर की सगाई करने की चिन्ता उसे सता रही थी। ‘अलग्योझा’ में रघू की सगाई भी बचपन में ही हो गई थी। सामान्यतः मध्यम श्रेणी की जातियों में शादी व्याह कोई बड़ी समस्या नहीं होती। जोड़ के लड़के-लड़कियाँ आमानी से उन्हें मिल जाते हैं। शिक्षित मध्यवर्ग में जिस तरह लड़की की शादी एक समस्या होती है, उस तरह किसान के लिए समस्या नहीं होती। आर्थिक दबावों से पीड़ित होकर किसान कई बार अपनी लड़की को बेच भी देता है। होरी ने दो सौ रुपये लेकर रुपा की शादी प्रौढ़ राम-सेवक से कर दी। पण्डित दातादीन ने इस शादी को तय करवाने में मध्यस्थता की भूमिका निभाई।

प्रेमचन्द ने ‘गबन’ में रमानाथ की बारात का वर्णन किया है। रमानाथ की बड़े ठाट-बाट से बारात निकली। देखने वालों ने भी उसकी तारीफ में पुल बाँधे। प्रेमचन्द ने उत्साहपूर्वक दर्शकों के उत्साह को दिखाया। ‘कोई बाजों की धो धा, पो-पो सुनकर मस्त हो रहा था, कोई मोटर को आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था, कुछ लोग फलवारियों के तहल देख-देखकर लोट-लोट जाते थे, आतिशबाजी सबके मनोरंजन का केन्द्र थी। हवाइयाँ जब सन्न-से ऊपर जाती और आकाश में लाल, हरे, नीले, पीले कुमकुम से बिखर जाते और जब चखिया छूटती और उनमें नाचते हुए मोर निकल आते, तो लोग मन्त्र-मुग्ध से हो जाते थे। बाह, क्या कारीगरी है।’³⁸

इस ऊपरी दिखावे और ठाट-बाट में सैकड़ों रुपया पर पानी फिर जाता है। फिर बारात के स्वागत सम्बन्धी अनेक प्रथाओं का पालन किया जाता है, जिनमें से कुछ मोटी मोटी बातों का वर्णन प्रेमचन्द ने किया है। “दस बजे सहसा फिर बाजे बजने लगे। मालूम हुआ कि चढ़ाव आ रहा है। बारात में हर एक रस्म डके की चोट अदा होती है। दुल्हा कलेवा करने आ रहा है, बाजे बजने लगे। समझी मिलने आ रहा है, बाजे बजने लगे। चढ़ाव ज्यों ही पहुँचा, घर में हलचल मच गयी। स्त्री, पुरुष, बूढ़े जवान सब चढ़ाव देखने के लिए उत्सुक थे। ज्योही किशिया मढ़प में पहुँची, तो सब काम छोड़कर देखने दौड़े। आपस में धक्कम-धक्का होने लगा। मानकी वेहाल हो रही थी, कठ सूखा जाता था, चढ़ाव आते ही प्यास भाग गयी,

मारे भूख-प्यास के निर्जीव से पड़े थे, यह समाचार सुनते ही सचेत होकर दौड़े। मानकी एक-एक चीज को निकाल-निकाल कर देखने-दिखाने लगी, वहाँ सभी इस कला के विशेषज्ञ थे। मर्दों ने गहने बतवाये थे, औरतो ने पहने थे, सभी आलोचना करने लगे।³⁹ इस वर्णन से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की रचि प्रथाओं के वर्णन की ओर नहीं है, बल्कि ऐसे अवसरों पर होने वाले मानवीय व्यवहारों, भावनाओं और सम्बन्धों की ओर ही है। शायद ही अपनी किसी रचना में प्रेमचन्द ने इन प्रथाओं का पूर्ण विवरण दिया हो। प्रेमचन्द जानते हैं कि इन रस्मों से उनका पाठक पूरी तरह से परिचित है, अतः उनका परिचय देकर पन्ने रगना फालतू है। अगर फणीश्वर नाथ रेणु को इसका वर्णन करना होता तो वे कम से कम बीस-पच्चीस पृष्ठों में इन सब का वर्णन करते चले जाते। लेकिन प्रेमचन्द आधा पृष्ठ लिखकर इस ओर से निश्चित हो गये। शादी के फेरे, कन्यादान आदि प्रकरणों को पाठकों के ज्ञान पर छोड़ दिया।

विवाह की किसानों में अनेक प्रथाएँ हैं। बाल-विवाह यहाँ एक आम स्थिति है। छोटी उम्र में ही किसान बच्चों की शादी कर देता है। बहु-विवाह का प्रचलन भी कई जातियों में मिलता है। 'गोदान' में क्षिगुरीसिंह की तीन पत्नियाँ हैं। 'अग्नि समाधि' के प्रयाग ने एक स्त्री के रहते हुए भी एक नयी स्त्री और ले आया। सौत का प्रचलन यहाँ सामान्य है। यह पुरुष का अधिकार है, इसे कोई स्त्री रोक नहीं सकती। किसानों में विधवा विवाह भी आम है। 'अलग्गोझा' में तीन बच्चों की माँ विधवा पन्ना भी सोचती है कि दूसरा घर कर ले। "यही न होगा, लोग हँसेंगे। बला से! उसकी बिरादरी में क्या ऐसा होता नहीं? ब्राह्मण, ठाकुर थोड़े ही थे कि नाक कट जायेगी। यह तो ऊँची जातियों में होता है कि घर में चाहे जो कुछ करो, बाहर परदा ढका रहे। वह तो ससार को दिखाकर दूसरा घर कर सकती है।"⁴⁰ 'स्वर्गमयी' में विधवा रामप्यारी अन्त में हलवाहे जोखू के साथ ही रहने लगती है। कुछ जातियों में विधवा भाभी बाद में देवर की पत्नी भी बन जाती है। रघू की मृत्यु के बाद अलग्गोझा में मुलिया केदार की पत्नी बन जाती है। इस तरह उसी परिवार में वह रह जाती है। ऐसी शायदियों में कोई विशेष उत्सव नहीं होता। 'आधार' कहानी में प्रेमचन्द ने एक और स्थिति का भी वर्णन किया है, इसमें विधवा अनूपा ने अपने पाँच साल के देवर से सगाई कर ली और इसी 'आधार' पर अपना जीवन बिता दिया कि देवर जब बड़ा होगा तब अनूपा का ही पति होगा। कहानी में प्रेमचन्द ने अनूपा से इसकी शादी नहीं करवायी है, लेकिन इससे हमें ऐसी परम्पराओं का पता अवश्य लग जाता है। वैसे प्रेमचन्द ने दिखाया है कि विधवा अगर जैतिक रूप से विधवा का ही जीवन बिताये तो उसे लोग सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और यदि वह विवाह कर लेती है तो उसे कोई बुरा नहीं बताता। इस तरह प्रेमचन्द ने दिखाया है कि किसानों में पुरुष व स्त्री दोनों को समान रूप से दूसरी शादी करने का अधिकार है।

किसानों में 'घरजमाई' की भी परम्परा होती है। इसमें युवती शादी के बाद अपनी ससुराल में नहीं जाती, बल्कि वह नहर में ही रहती है और उसका पति भी वही आकर रहने लगता है। 'घरजमाई' कहानी में प्रेमचन्द ने ऐसी स्थिति का वर्णन किया है। ऐसे व्यक्ति का आरम्भ में दामाद की तरह बहुत ही स्वागत

जाता है। उसके खाने-पीने की उत्तम व्यवस्था की जाती है। धीरे-धीरे मेहमान के पद से घटकर उसका स्थान घर के आदमी जैसा ही हो जाता है और अन्त में उसकी स्थिति नौकर के समान हो जाती है। ऐसे व्यक्ति को अपनी समुराल की मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है—जैसे वह रसोई में घुसकर खाना नहीं खा सकता, बिना बुलाए घर में नहीं आ सकता, सास-ससुर से अदब के साथ व्यवहार करना पड़ता है। वह हमेशा उस परिवार से अलग-थलग रहता है। उसकी पत्नी भी अपने माता-पिता के परिवेश में हरदम रहने के कारण उन्हीं जैसा सोचती, समझती और कार्य करती है। घर में रहते हुए भी बाहरी आदमी की तरह रहने से घरजमाई का जीवन कष्ट स्थितियों से गुजरता है। रामधन ऐसे ही वातावरण से त्रस्त होकर पुनः अपने घर चला जाता है। 'घरजमाई' वे लोग बनते हैं, जिन्हें या तो अपने घर में लाड़-प्यार नहीं मिलता, या जिनके माता-पिता मर जाते हैं। कई बार समुराल वाले फुसलाकर भी उसे ले जाते हैं और बाद में उसका मोहभग होता है। रामधन का भी एक दिन मोह भग होता है। हरिधन सोचता है, "यही घर है, जहाँ आज के दस साल पहले उसका कितना आदर-सत्कार होता था। सारे गुलाम बने रहते थे। सास मुँह जोहती रहती थी। तब उसके पास रुपये थे, जायदाद थी। अब वह दरिद्र है। उसकी सारी जायदाद को इन्हीं लोगो ने कूड़ा कर दिया। अब उसे रोटियों के लाले हैं।" ⁴¹ प्रेमचन्द एक किसान की तरह घरजमाई बनकर रहने को उचित नहीं मानते हैं, क्योंकि अन्ततः ऐसे व्यक्ति की दशा दयनीय हो जाती है।

किसानों का सामुदायिक जीवन—प्रेमचन्द ने किसानों के व्यक्तिगत चरित्रों का चित्रण ही नहीं किया है, बल्कि उनके सामूहिक और सामुदायिक जीवन का भी चित्रण किया है। किसान एक-दूसरे के साथ मिलकर सामूहिक रूप से भी व्यवहार करते हैं। इस व्यवहार से भारतीय ग्रामीण जीवन की सामूहिक तस्वीर उभरती है। परम्परागत रूप से भारतीय किसान तीन कारणों से एक-दूसरे से सम्बन्ध की भावना महसूस करते हैं—रिश्तेदारी, जाति और गाँव। किसी व्यक्ति का परिचय भी इन तीन सम्बन्धों के आधार पर दिया जाता है, कि अमुक व्यक्ति किस (मुखिया के) परिवार का सदस्य है, उसकी जाति क्या है, और वह किस गाँव का रहने वाला है?

किसान अपने नाते-रिश्तों को बहुत महत्त्व देता है। समुराल और ननिहाल के सम्बन्ध इनमें सबसे नजदीक और आरम्य माने जाते हैं। संकट के समय ये सम्बन्धी एक-दूसरे की मदद करते हैं। 'दो बैलों की कथा' में शूरी अपनी समुराल बानो को अपने बैल भेंटनी देता है। इस तरह के परस्पर लेन-देन रिश्तेदारों में चलते हैं। शुम्भन शेख ('पच-परमेश्वर') की दूर की मौसी उनके साथ रहती है। मौसी के ओलाद न होने कारण वह जमीन शुम्भन ही लेता है। इस रिश्ते के अलावा कुछ व्यक्तिगत सम्बन्ध भी किसान मानते हैं। विचारों में मेल होने के कारण किसानों में दोस्ती हो जाती है। 'पच-परमेश्वर' के शुम्भन शेख और अलगू चौधरी में इसी प्रकार की मित्रता थी। "एक को दूसरे पर अटल विश्वास था। शुम्भन जब हज करने गए थे, तब अपना घर अलगू को सौंप गए थे, और अलगू जब कभी बाहर जाते तो शुम्भन पर अपना घर छोड़ जाते थे।" ⁴² 'प्रेमाश्रम' के कादिर और मनोहर में इसी

प्रकार की मित्रता रहती है। शादी-गमी के प्रत्येक अवसर पर ऐसे लोगों से सम्बन्धियों की तरह ही व्यवहार किया जाता है। ऐसे सम्बन्ध अपने गाँव और जाति की सीमाओं को पार कर जाते हैं। सिर्फ रिश्तेदारी एक ही जाति के कुछ विशिष्ट लोगों से होती है, जो दूरस्थ गाँवों में रहते हैं।

दूर-दूर गाँवों में रहने वाले एक ही जाति के किसानों में जातिगत समानता के कारण भी एक सम्बन्ध-भावना होती है। जाति किसान को गाँव की सीमा से अतिक्रमण करवाती है। भारत में जाति व्यक्ति की सामाजिक स्थिति, उसके कर्म आदि निश्चित करती है। एक जाति के किसान से दूसरी जाति के किसान का सम्बन्ध निश्चित प्रथाओं पर आधारित होता है। यही नहीं एक जाति का दूसरी के प्रति व्यवहार भी निश्चित है। अगर व्यक्ति अनुसूचित जाति का हुआ तो उसका निवास-स्थान भी निश्चित होता है। व्यक्ति का किसी जाति में जन्म होना उसके पिछले जन्मों के कर्मों पर आधारित है। इस 'असमानता की संस्कृति' में किसान जीवन जीता है। 'मुक्तिमार्ग' के झोगुर को अपनी जाति का गवं है। बुद्ध जब उसके खेत की मेड़ से मेड़ें निकालना चाहता है तो झोगुर कहता है—“ क्या मुझे कोई चूहड़-चमार समझ लिया है या धन का घमण्ड हो गया है ? लोटाओ इनको !”⁴³ दातादीन के मुकाबले होरी की जाति नीची मानी जाती है। 'ठाकुर का कुआँ' में हरिजन औरत को कुएँ से पानी नहीं भरने दिया जाता। 'मन्दिर' में अछूतों का प्रवेश निषिद्ध है। जो आज तक नहीं हुआ, वह अब कैसे हो सकता है ? यही मुख्य तर्क बनता है। इसके अलावा एक जाति का व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ बैठकर खाना नहीं खाता। अछूतों का छुआ हुआ खाना अधर्म माना जाता है। समान स्तर की जातियों के किसान अलग बर्तनों में एक साथ बैठकर खा लेते हैं। 'मुक्तिमार्ग' का बुद्ध झोगुर से इसीलिए कहता है—“ तुम तो मेरा बनाया खाओगे नहीं, इसलिए तुम्हीं रोटियाँ सेंको, मैं बना दूँगा।”⁴⁴ रोटी और चटोरी के मामले में जाति के नियमों का किसान पालन करता है। गाँव में सारे लोग किसान ही नहीं होते, कुछ अन्य पेशों के लोग भी होते हैं, जो कृषि कर्म में सहायक धन्य करते हैं। 'जजमानी' सम्बन्ध के द्वारा इनका आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध निश्चित रहता है। नाई, धोबी, कहार, पासी चमार, भर आदि जातियों का चित्रण भी जगह-जगह प्रेमचन्द ने किया है। ये साल भर किसानों का काम करते हैं, बदले में किसान उन्हें निश्चित अनाज देते हैं। किसान 'जजमान' और ये लोग 'जमीन' कहलाते हैं। त्योहारों के अवसर पर जजमान इन्हें खाने को भी देते हैं। 'ईदगाह' की अमीना भी सोचती है कि “.....ईद का त्योहार, अल्हाह ही बेड़ा पार लगाये। घोड़िन और नाइन और मेहतरानी और चूड़हारिन सभी तो आयेंगी। सभी को सेवियाँ चाहिए और थोड़ा किसी की आँखों नहीं लगता। किस किससे मुह चुराएगी ? और मुह क्यों चुराए ? साल भर का त्योहार है।”⁴⁵

खलिहानों का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने इनका वर्णन 'खून सफेद' में किया है। “वही चैत के दिन थे। खलिहानों में अनाज के पहाड़ खड़े थे। भाट और मिख-मगे किसानों की बड़ती के तराने गाने रहे थे। सुनारों के दरवाजे पर सारे दिन और आधी रात तक गाहकों का जमघट बना रहता था। दरजी की सिर उठाने की फुरमत्त

न थी। इधर उधर दरवाजा पर घोड़े हिनहिना रहे थे। देवी के पुजारियों को अजीर्ण हो रहा था।⁴⁶

इसके अलावा विभिन्न जातियाँ की अपनी-अपनी पचायतें हुआ करती थी। जो जाति के हिता की रक्षा करती थी, छोटे-मोटे झगड़े निपटाती थी और सदस्यों को दंडित या पुरस्कृत करती थी। 'प्रेमा' और 'प्रतिज्ञा' में समाज सुधारक अमृतराय के नौकरों ने इन्हीं पचायतों की आज्ञा से काम करना छोड़ दिया था, यहाँ तक कि मुक्किल भी उनके यहाँ आन बन्द हो गये। इन पचायतों की आज्ञा का उल्लंघन करना असंभव सा था।

विभिन्न जाति के लोगों में एक साथ एक गाँव में रहने से भी आत्मीयता बन जाती है और परस्पर सहयोग के भाव आ जाते हैं। व्यक्ति को अपने गाँव के निवासी हो जाने में गर्व की अनुभूति होती है। गाँव के किसी किसान की लड़की की शादी दूसरे गाँव में हो जाती है तब सारा गाँव उसको अपनी लड़की की समुराल के रूप में ही जानता है। 'बेटी' का घन के झगड़ू साहू ने इसी सबध भावना के कारण सुखू चौधरी की बेटी गगाजली के गहन गिरवी नहीं रखे, क्योंकि गगाजली जैसी सुखू की बेटी है, वैसी ही गाँव के रिश्ते से झगड़ की भी बेटी है। 'लोकमत का सम्मान' के श्रेष्ठ धोबी को "यदि उस वृद्ध किसान स्त्रियों की गालियाँ खानी पड़ती थी तो बहुओं से वेबू दादा' कहकर पुकारे जाने का गौरव भी प्राप्त होता था। आनन्द और शोक के प्रत्यक्ष अवसर पर उसका बुलावा होता था, विशेषतः विवाहों में तो उसकी उपस्थिति घर और बधू से कम आवश्यक नहीं। उसकी स्त्री घर में पूजी जाती थी, द्वार पर बबू का स्वागत होता। वह पेशवाज पहने कमर में घटियाँ बाँधे साजिदा को साथ लिए एक हाथ मुद्ग और दूसरा अपने कान पर रखकर जब तत्काल रचित बिरहे और बोल कहने लगता, तो आत्मसम्मान से उसकी आँखें उमस हो जाती थी।⁴⁷

'गादान' में प्रेमचन्द ने किसान की प्रकृति का विवरण इस प्रकार दिया है 'किसान पक्का स्वामी होता है इसमें सन्देह नहीं। गाँव से रिश्तों के पैसे बड़ी मुश्किल से निकलते हैं, भाव-ताव में भी वह चौकस रहता है ब्याज की एक एक पाई छुड़ाने के लिए वह महाजन की घण्टा चिरीरी करता है जब तक पक्का विश्वास न हो जाय, वह किसी के फुसलान में नहीं आता, लेकिन उसका सम्पूर्ण जीवन प्रकृति से स्थायी सहयोग है। वृक्षों में फल लगते हैं, उन्हें जनता खाती है, खेती में अनाज होता है, वह ससार के काम आता है, गाय के घन में दूध होता है, वह खुद पीने नहीं जाती, दूसरे ही पीते हैं, मेघों से वर्षा होती है, उससे पृथ्वी तृप्त होती है। ऐसी सगति में कुत्सित स्वार्थ के लिए कहाँ स्थान? होरी किसान था और किसी के जलते हुए घर में हाथ सँकना उसने सीखा ही न था।⁴⁸

लेकिन किसान इतना दया धर्म का पुतला नहीं होता। वह धर्मभीरु अवश्य होता है लेकिन आपसी सबधों में ईर्ष्या और द्वेष की मात्रा भी कम नहीं होती। किसी किसान की बढ़ती देखकर दूसरे के मन में द्वेष भी बढ़ता है और सब लोग

मिलकर उसे नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं। उन्हें अपने विकास की कोशिश से ज्यादा दूसरे को गिराने की चिन्ता रहती है, ताकि उसकी अकड़ निकल जाये।

‘मुक्तिमार्ग’ में बुद्ध गडरिया और झीगुर किसान में कुछ कहा-मुनी हो गयी। बुद्ध ने झीगुर को ईख जला दी। जाहिर है कि इससे बुद्ध को कोई व्यक्तिगत फायदा नहीं हुआ, लेकिन झीगुर मजदूर बन गया। अब ईर्ष्या की अग्नि झीगुर के मन में जगी और गऊ हत्या का पाप लगवाकर उसे भी कगाल कर दिया। इस ईर्ष्या के साथ-साथ किसानों में पश्चात्ताप के भाव भी होते हैं। आग लगने के बाद बुद्ध ने न केवल उसे बुझाने का ही प्रयास किया, बल्कि झीगुर की हर तरह से मदद भी करने लगा। जहाँ वही भी बराबर का किसान आगे बढ़ने लगता है, शेष लोग उसकी टाँग खींचने पर उतारू हो जाते हैं, व्यर्थ कसते हैं, ताने देते हैं और खुद दया धर्म के पुतले बन जाते हैं।⁴⁹ ‘पंच-परमेश्वर’ में भी इस तरह के भाव किसानों में मिलते हैं। समर याथा’ में कोदई और नोहरी के सवधो में भी ईर्ष्या का अंश मौजूद है।

किसानों में इसी कारण छोटे-मोटे झगड़े भी होते रहते हैं। अधिकतर इनका कारण जमीन होती है। ‘पंच-परमेश्वर’ के जुम्पन और उसकी खाला में जमीन का ही झगड़ा है। ‘लाग डांट’ के जोखू भगत और देवन चौधरी में जो तीन पीढ़ियों से झगड़ा चला आ रहा था, उसके मूल में भी डाढ़-भेड़ की जमीन थी। इन झगड़ों से गाँव दो हिस्सों में बंट जाता है। उनके पारिवारिक, व्यक्तिगत मामलों में भी जान-बूझकर भिन्नता पैदा कर दी जाती है। ‘लाग डांट’ में ‘चौधरी कपड़े पहने सत्तू खा लेते और भगत को ढोंगी कहते। भगत बिना कपड़े उतारे पानी भी न पीते और चौधरी को भ्रष्ट बतलाते। भगत सनातनधर्मी बने, तो चौधरी ने आर्यसमाज का आश्रय लिया। जिस बजाज, पसारी या कुँजड़े से चौधरी सोदे लेते, उसकी ओर भगतजी ताकना भी पाप समझते थे और भगतजी के हलवाई की मिठाईयाँ, उनके भाले का दूध और तेली का तेल चौधरी के लिए त्याग्य थे। यहाँ तक कि उनके आरोग्यता के सिद्धान्तों में भी भिन्नता थी। भगतजी वैद्यक के कायस्थ थे, चौधरी यूनानी प्रथा के भानने वाले।”⁵⁰

किसानों में झगड़ा संपूर्ण अर्थ में होता है। झगड़े वाले व्यक्ति का वे सामाजिक बहिष्कार कर देते हैं। उसके घर नहीं जाते, उससे बात तक नहीं करते। ‘प्रेमाश्रम’ के बित्तेसर साहू जब गाँव वालों के खिनाफ सरकारी गवाह बन गया तो किसानों ने उसकी दूकान से सौदा लेना भी बन्द कर दिया।⁵¹ लेकिन पंचायत आदि के द्वारा जब मुलह हो जाती है, फिर उनमें परस्पर व्यवहार होने लगता है।

प्रेमचन्द ने दिखाया है कि भारतीय किसानों के बीच न्याय की एक परंपरागत रीति भी प्रचलित है, जो आधुनिक खर्बोले न्याय से ज्यादा अच्छी है। वास्तव में, गाँव में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक बात को जानता है कि आपसी झगड़ों में सत्य क्या है। फिर गाँव की पंचायतों में सभी परिचित व्यक्ति होते हैं। उनके सामने झूठ बोलना काफी साहस और वेहयाई का काम है। इसलिए ‘पंच-परमेश्वर’ में मित्र होते हुए भी अलग-अलग चौधरी ने जुम्पन का पक्ष नहीं लिया। ‘ईश्वरीय न्याय’ में भानु कुँवरी अदालत में पराजित हो जाती है, लेकिन विशाल जन-समूह के बीच जब वह

सत्यनारायण से पूछती है, तो मुन्शी सत्यनारायण भी झूठ नहीं बोल पाते। यह लोकमत का भय है, जिससे न्याय होता है।

किसानों में आर्थिक विषमता के बावजूद सहयोग की भावना रहती है। इसलिए होरी की गाय को देखने रात को ही पड़ित दातादीन आ जाते हैं। रूपा की शादी तय करवाने में बिचौलियों का काम करते हैं। इसी अपनाये के अधिकार भाव से किसान एक दूसरे को समझाते रहते हैं। लोग एक दूसरे के व्यक्तिगत जीवन की जानकारी लेने के इच्छुक रहते हैं। होरी और धनिया के झगड़े में सारा गाँव तमाशा देखने के लिए इकट्ठा हो जाता है। 'बड़े घर की बेटी' में श्रीकठ सिंह अपने पिता से लड़ने लगते हैं—'इसी बीच में गाँव के और कई सज्जन हुक्के-धिलम के बहाने वहाँ आ बैठे। कई स्त्रियो न अब सुना कि श्रीकठ पत्नी के पीछे पिता से लड़ने को तैयार है तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। दोनों पक्षों की मधुरवाणियाँ सुनने के लिए उनकी आत्माएँ तलमलाने लगी। कोई हुक्का पीने के बहाने और कोई लगान की रसीद दिखाने आकर बैठ गया।' ⁵² गाँव में घटने वाली प्रत्येक छोटी-मोटी घटना के अवसर पर सारा गाँव इकट्ठा हो जाता है। 'गोदान' में धानेदार आते हैं, सारा गाँव देखने आ जाता है। 'प्रेमाश्रम' में डिण्टी ज्वालासिंह गाँव का दौरा करने आते हैं, सारा गाँव हाजिर है। होरी की गाय आई, सारे गाँव ने आकर देखा। 'दो बैलों की कथा' में दोनों बैल बरसों बाद वापस झूरी काछी के घर आये, सारा गाँव इकट्ठा हो गया। प्रत्येक शादी गमी के अवसर पर इस तरह की सामूहिक भागीदारी किसान जीवन की आम विशेषता है।

प्रेमचन्द ने किसानों के सामूहिक मिलन के स्थानों का भी वर्णन किया है। मेने ठल के अलावा, खेत खलिहान में, साह की दुकान पर, किसी के घर पर किसान मिल बैठकर अपने मुख दुख की बातें करते हैं। मडी से आते-जाते रास्ते में होरी और गिरधर में बातचीत होती है। लेकिन उनके मिलने का मुख्य स्थान अलाव होता है। सदियों में उससे चारा और किसान आकर बैठ जाते हैं और मुक्त होकर वार्तालाप करते हैं। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में अलाव का वर्णन किया है। हाकिम के दोरे के बाद थके हारे किसान बैठकर दिन भर के कृषाकलापो पर निरसकोष टिप्पणी करते हैं। ऐसे अवसर पर किसान बहुत ईमानदारी से बातचीत करता है और अपन द्वारा किय गये घुरे कामों को भी स्वीकार कर लेता है।

प्रेमचन्द ने गाँव में मनाये जाने वाले त्यौहारों का विवरण जगह-जगह चलताऊ ढंग से दिया है। त्यौहारों की उमंग में भी वे किसान जीवन के कष्टों को भूल नहीं पाते। प्रेमचन्द ने लिखा है, "देहातो में साल में छ महीने किसी न किसी उत्सव में ढोल मजीरा बजता रहता है। होली के एक महीने पहले से एक महीना बाद तक फाग उड़ती है, आपाड़ लगते ही आल्हा शुरू हो जाता है और सावन-भादो में कजलियाँ होती हैं। कजलियों के बाद रामायण-गान होने लगता है। समेरी भी अपवाद नहीं है। महाजन की धमकियाँ और कारिखे की बोलियाँ इस समारोह में बाधा नहीं डाल सकती। घर में अनाज नहीं है, देह पर कपड़े नहीं हैं, गाँठ में पैसे नहीं हैं, कोई परवाह नहीं। जीवन की आनन्द वृत्ति तो दबाई नहीं जा सकती, हँसे बिना तो जिया

नहीं जा सकता।" 53 इस सूचनात्मक विवरण से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने संक्षेप में सारे त्यौहारों की सूचना देकर छुट्टी ले ली है, जिससे मूल विषय पर लौटा जा सके। 'गोदान' में होली का वर्णन अवश्य किया गया है, लेकिन वहाँ भी होली के सौंदर्यमय पक्ष का चित्रण उतना उभरकर नहीं आया है, जितना लेखक ने इस बहाने किसानों के शोषण की प्रक्रिया का उद्घाटन किया है। इसी तरह 'ईदगाह' कहानी में भी ईद का त्यौहार प्रमुख नहीं है—प्रमुख है हमिद के मनोभाव। इसीलिए उन्होंने शादी-व्याह के उत्सव धर्मी पक्ष का चित्रण कम से कम किया है।

प्रेमचन्द ने गांव जीवन में व्याप्त अनैतिक यौन-संबंधों का चित्रण भी किया है। होरी की शादी के बाद क्षिगुरी सिंह आदि होरी के घर चक्कर काटा करते थे। मोखेराम के सवध भोला की पत्नी मोहरी से घे और इसे भोला जानता भी था, लेकिन वह कुछ भी नहीं कर सकता था। मातादीन और सिलिया के सवध की जानकारी तो सारे गांव के लोगों को थी और इस कारण भी कई बार दातादीन को नीचे देखना पड़ता था और इसी कारण मातादीन की सगाई भी नहीं हो पा रही थी। नयी शिक्षा प्राप्त छेले नवयुवकों में इस रसिकता की मात्रा कुछ अधिक है। 'विस्मृत' का कारिदा में इस तरह की प्रवृत्ति थी। इसी कारण दूजी के भाइयों ने उनकी हत्या कर दी थी। सोना के बड़ी हो जान पर होरी में यह चिन्ता भी लगी रहती है। झुनिया ने गोबर को इसी तरह की एक कथा सुनायी थी। सामान्यतः ऐसी हरकतों को लोग अच्छा नहीं समझते थे और लोकमत का भय गांव के लोगों को इस तरह की उच्छृंखलता से रोकता रहता है।

प्रेमचन्द ने किसानों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का चित्रण उनकी सामान्य जीवन पद्धति के सदृश में ही किया है। जीवन संग्राम की भीषणता से उनके मन में असुरक्षा की भावना आ जाती है, इसीलिए कष्टों के बावजूद वे परिवर्तन का विरोध करते हैं और परंपरागत संस्कृति को अपने लिए ग्राह्य मानते हैं। आधुनिकीकरण और नगरीकरण के प्रभाव से उनमें परिवर्तन हो रहा है। 'गोबर' शहर से आकर कितना बदल गया है, इसे होरी और धनिया भी महसूस करती है। वह धर्म के प्रभुत्व से मुक्त हो चुका है और राजनीति से भी उसका थोड़ा-थोड़ा परिचय हो गया है। फिर भी गांव की संपूर्ण संस्कृति पर गाबर का प्रभाव नहीं के बराबर ही है। उसको लोग सम्मान की दृष्टि में अवश्य देखते हैं, लेकिन उसके अनुसार जीवन जीने के लिए तैयार नहीं हैं।

सन्दर्भ

1. प्रेमाश्रम, पृ० 67
2. मानसरोवर, भाग-8, पृ० 67
3. मानसरोवर, भाग-4, पृ० 199
4. "भैया, तन की बातें जाने दो । जब कोई काम-काज पड़ता था, तब हमको नवता मिलता था । लड़कियों के ब्याह के लिए उनके यहाँ से लकड़ी, चारा और 25 / रुपये बँधा हुआ था । यह सब जानते ही कि नहीं । जब यह अपने लड़को की तरह पालते थे तो रैयत भी हँसी-खुसी उनकी बेगार करती थी ।" 'प्रेमाश्रम', पृ० 14-15
5. 'ठाकुर द्वारे में कोई न कोई उत्सव होता ही रहता था । कभी ठाकुरजी का जन्म है, कभी ब्याह है, कभी यज्ञोपवीत है, कभी झूला है, कभी जल-विहार है । असामियों को इन अवसरा पर बेगार देनी पड़ती थी, भेंट-न्योछावर, पूजा-चढ़ावा आदि नामों से दस्तूरी चुकानी पड़ती थी, " 'कर्मभूमि', पृ० 288-289
6. मानसरोवर, भाग-8, पृ० 38
7. श्री राजेन्द्रसिंह ने 'Peasant Movements in Uttar Pradesh' में लिखा है—"We can look at it as an encounter between—two cultural forces—traditional culture of inequality and the modern culture of equality. While the traditional leadership buttressed the former, the modern political elite helped promoted latter." 'Social Movements in India' Vol 1, pp 98, edited M S A RAO, Manohar Publications, 2 Ansari Road, Darjaganj, New Delhi 1978
8. मानसरोवर, भाग-6, पृ० 48, हम प्रकाशन, इलाहाबाद
9. मानसरोवर, भाग-1, पृ० 116
10. 'अलग्गोक्षा' का रघू, 'दो भाई' के केदार और माधव, 'गोदान' का होरी अलग्गोक्षा के दिन भावुकतावश खाना नहीं खा पाते ।
11. मानसरोवर भाग-4, पृ० 189
12. मानसरोवर, भाग-1, पृ० 17
13. "कोई तो कलेजा तोड़-तोड़कर कमाए, मगर पैसे-पैसे को तरसे, तन ढाँकने को वस्त्र तक न मिले, और कोई सुख की नीद सोए, हाथ बड़ा-बड़ा के खाए । ऐसी अन्धेर नगरी में अब हमारा निबाह न होगा ।" मानसरोवर; भाग 7, पृ० 169

- 14 'प्यारी के अधिकार में आते ही उस घर में जैसे बसत आ गया। भीतर-बाहर जहाँ देखिए, किसी निपुण प्रबन्धक के हस्त कौशल सुविचार और सुवचि के चिह्न दीखते थे। प्यारी ने गृह यन्त्र की ऐसी चाभी कस दी थी कि सभी पुरजे ठीक ठीक चलने लगे थे।' मानसरोवर भाग 1, पृ० 127
- 15 मानसरोवर भाग 5, पृ० 190
- 16 'सुजान भगत' में इस प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार है—'सुजान के हाथों से धीरे धीरे अधिकार छोटे जान लगे। किस खेत में क्या बोना है किसको क्या देना है, किससे क्या लेना है किस भाव क्या चोज बिकी ऐसी ऐसी महत्त्वपूर्ण बातों में भी भगतजी की सलाह न ली जाती थी। भगत के पास कोई जाने ही न पाता। दोनों लड़के स्वयं बुलाकी दूर ही से मामला तय कर लिया करती।' मानसरोवर, भाग 5 पृ० 185 186
- 17 मानसरोवर, भाग 1 पृ० 126
- 18 'तब उसने बाहर निकल कर दया, कितना कूड़ा बरकट पड़ा हुआ है। बठक दिया भर मक्खी मारा करते हैं।' 'उसने मुन्नी के पास जाकर नाद में झंका। दुग्ध आ रही थी। ठीक। मालूम होता है महीनो से पानी नहीं बदला गया।' वही पृ० 127
- 19 'दोना भाई जब लड़के थे तब एक को रोते देख दूसरा भी रोने लगता था, तब वह नादान बेसमुझ और भोले थे। आज एक को रोते देख, दूसरा हँसता और तालियाँ बजाता। अब वह समझदार और बुद्धिमान हो गए थे।' मानसरोवर भाग 7 पृ० 216 217
- 20 मानसरोवर, भाग 1, पृ० 258
- 21 मानसरोवर, भाग 5, पृ० 111
- 22 मानसरोवर भाग 1, पृ० 35
- 23 छोटे छोटे लड़के दिन दिन भर भूखे रह जाते। किसी को कुछ खाते देखते तो घर में जाकर माँ से माँगते। फिर माँ से माँगना छोड़ दिया। खाने वालों ही के सामन जाकर खड़े हो जाते और क्षुधित नेत्रों से देखते। कोई तो मुट्ठी भर चबेना निवालकर दे देता, पर प्रायः लोग दुतकार देते थे।' मानसरोवर, भाग 7, पृ० 212
- 24 मानसरोवर भाग 1, पृ० 13
- 25 मानसरोवर भाग 7, पृ० 145
- 26 गोदान, पृ० 92
27. मानसरोवर, भाग 5 पृ० 188
- 28 गोदान, पृ० 27
- 29 मानसरोवर भाग 5 पृ० 189
- 30 मानसरोवर, भाग 6 पृ० 218
- 31 मानसरोवर भाग 1, पृ० 23]
- 32 प्रेमाश्रम, पृ० 261 262

33. "इसके बाद सग्राम छिड़ गया। ताने-महने, गाली-गलौज, धुक्का-फजीहत, कोई बात न बची। गोबर भी बीच-बीच में डंक मारता जाता था। होरी बरोठे में बैठा सब कुछ सुन रहा था। "गरजन के बीच में कभी-कभी बूँदें भी गिर जाती थी। दोनों ही अपने-अपने भाग्य को रो रही थी। दोनों ही ईश्वर को कोस रही थी, और दोनों ही अपनी-अपनी निर्दोषिता सिद्ध कर रही थी। झुनिया गड़े मुढ़े उछाड़ रही थी। आज उसे हीरा और शोभा से विशेष सहानुभूति हो गई थी, जिन्हें धनिया ने कही का न रखा था। धनिया की आज तक किसी से न पटी थी, तो झुनिया से कैसे पट सकती है? धनिया अपनी सफाई देने की चेष्टा कर रही थी; लेकिन न जाने क्या बात थी कि जनमत झुनिया की ओर था। शायद इसलिए कि झुनिया समय हाथ से न जाने देती थी और धनिया आपे से बाहर थी। शायद इसलिए कि झुनिया अब बमाऊ पुरुष की स्त्री थी और उसे प्रसन्न रखने में ज्यादा मसलहत थी।" 'गोदान', पृ० 190

34. मानसरोवर, भाग-1, पृ० 17

35. वही, पृ० 124

36. मानसरोवर, भाग-7, पृ० 235

37. सेवासदन, पृ० 15

38. गवन, पृ० 8

39. वही, पृ० 9

40. मानसरोवर, भाग-1, पृ० 14

41. वही, पृ० 146

42. मानसरोवर, भाग-7, पृ० 152

43. मानसरोवर, भाग-3, पृ० 242

44. वही, पृ० 252

45. मानसरोवर, भाग-1, पृ० 37

46. मानसरोवर, भाग 8, पृ० 10

47. मानसरोवर, भाग-7, पृ० 281

48. गोदान, पृ० 11-12

49. 'बलिदान' में गिरधारी के खेत कालिकादीन ले लेता है। एक दिन गिरधारी की पत्नी झगडा करने जाती है। "पड़ोमियो ने उसका पक्ष लिया, सब तो हैं, आपस में यह चढा-ऊपरी नहीं करना चाहिए। नारायण के धन दिया है, तो क्या गरीबों को कुचलते फिरेंगे।" मानसरोवर, भाग-8, पृ० 72

50. मानसरोवर, भाग-6, पृ० 202

51. "अब कोई उधर नहीं जाता। ऐसा आदमी का मुँह देखना पाप है। लोग दूसरे गाँव से नोन-तेल लाते हैं। वह भी अब घर से बाहर नहीं निकलता, दूकान उठा दी है।" 'प्रेमाश्रम', पृ० 315

52. मानसरोवर, भाग-7, पृ० 148

53. गोदान, पृ० 181

प्रेमचन्द की जीवन-दृष्टि

जीवन-दृष्टि और साहित्य

प्रेमचन्द एक सोद्देश्य रचनाकार है। उन्होंने सामाजिक दृष्टि से उपयोगी और हितकर साहित्य की रचना की है। वे साहित्य को सिर्फ मन बहलाव का साधन नहीं मानते थे, बल्कि वे साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का साधन मानते थे। उन्होंने 'प्रगतिशील लेखक संघ' (1936) के अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयो का प्रकाश हो— जो हममें गति, सघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं बल्कि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"¹ उनके लिए साहित्य 'जीवन की आलोचना' है। उससे हमारे जीवन-ज्ञान में वृद्धि होती है और जीवन को बदलने, उसे सुधारने-सुधारने की आकांक्षा पैदा होती है। निश्चय ही प्रेमचन्द का साहित्य उन कलावादी रचनाकारों से भिन्न है, जो साहित्य की कलात्मक उपलब्धियों पर ही मुग्ध होकर रह जाते हैं। कलावादी रचनाकारों से 'उपयोगितावादी' रचनाकार इस अर्थ में भिन्न होते हैं कि कलावादी रचनाकार जहाँ समाज में व्याप्त प्रभुत्वशाली विचारधारा को मान लेते हैं, वहाँ उपयोगितावादी रचनाकार अपनी जीवन-दृष्टि के निर्माण के लिए सघर्ष करते हैं। उन्हें समकालीन विचार-प्रणालियों का मथन करना पड़ता है और उसी मथन में से अपने लिए जीवन दृष्टि का सर्जन करना पड़ता है। प्रत्येक रचनाकार को इस जीवन-दृष्टि का सर्जन करना पड़ता है, वह उसे अपने आप नहीं मिल जाती। कलावादी रचनाकार इस तरह का कोई प्रयास नहीं करते। वे समाज में व्याप्त कुछ विचारों को मान लेते हैं और फिर उसी दायरे में अपनी रचनाएं करते रहते हैं। हिंदी के रीतिकालीन रचनाकारों ने जीवन-दृष्टि के निर्माण का यह संघर्ष नहीं किया था। वे अपने समय के समाज में हो रही वैचारिक टकराव से उदासीन ही रहे। प्रेमचन्द उन रचनाकारों में से हैं, जिन्होंने इस वैचारिक संघर्ष में न केवल हिस्सा लिया, बल्कि उसी संघर्ष काल में अपनी जीवन-दृष्टि का निर्माण भी किया। प्रेमचन्द ने साहित्य के कलात्मक पक्ष को हमेशा गौण समझा, फिर भी उसकी उपेक्षा नहीं की। उपयोगितावादी रचनाकारों को इसीलिए दो स्तरों पर एक साथ संघर्ष करना पड़ता है—कलात्मक उपलब्धियों के लिए और वैचारिक दृष्टि के विकास के लिए। मुक्तिबोध ने कलाकार के तीन प्रकार के संघर्षों का जिक्र किया है—1. सत्य के लिए संघर्ष, 2. अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए संघर्ष, 3. दृष्टि-विकास का

सघप । प्रथम का सबध मानव वास्तविकता के अधिकाधिक सक्षम उदघाटन अवलो कन स है । दूसरे का सबध चित्रण सामर्थ्य से है और तीसरे का सबध धियरी से है विश्वदृष्टि के विकास से है वास्तविकताओं की व्याख्या से है ।¹² प्रत्येक सजग और साथक रचनाकार को ये सघप करने पड़ते हैं अथवा उसकी रचना कमजोर और अप्रासंगिक हो जायेगी । जो रचनाकार जीवन दृष्टि के निर्माण के सघप पर बल नहीं दते उनकी रचना में प्रस्तुत जीवन मास के उस लोथड़ के समा होता है जिसमें चेतना नहीं होती । ऐसी रचनाएँ खड़ खड़ में अवश्य प्रभावित करती हैं लेकिन उनमें पाठकों की चेतना का विकास नहीं हो पाता, सिर्फ इन्द्रिय बोध तक ही उनका प्रभाव पड़ता है । जीवन दृष्टि के निर्माण के लिए सघप न करने वाले रचना कारों की रचनाओं में भी एक दृष्टि अवश्य हाती है उसका पुष्ट नानात्मक आधार नहीं होता बल्कि प्रचलित सामान्य ज्ञान पर आधारित होती है ।

कुछ ऐसे रचनाकार होते हैं जिनके पास अपनी सुमंगत जीवन-दृष्टि होती है । वे कलाकार के साथ साथ चिंतक भी होते हैं । ऐसे लोग अपने दार्शनिक विचारों को व्यवस्थित करके एक दर्शन का रूप देने का प्रयास करते हैं या फिर समाज में उपलब्ध किसी विशिष्ट दर्शन को आत्मसात कर लेते हैं । ये दार्शनिक विचार उनकी सजनात्मक कृतियाँ में अंतर्भूत रहते हैं । मजनात्मक कृतियों के अलावा वचारिक ग्रंथ कृतियों में इनके विचार व्यवस्थित रूप से मिलते हैं । छायावाजियों में जयशंकर प्रसाद ने अपने विचारों को दार्शनिक ढंग में व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है । यह संभव है कि ऐसे सभी रचनाकार अपना विशिष्ट जीवन दर्शन निमित्त न कर पाएँ लेकिन उनका यह प्रयास दृष्टव्य है । ऐसे रचनाकारों की रचनाओं में कई बार एक विशेष प्रकार का अंतर्विरोध भी मिलता है जो उनके कलाकार और दार्शनिक के विरोधी स्वभाव से पैदा होना है । आदर्शवादी रचनाकारों की रचनाओं में अक्सर यह अंतर्विरोध मिलता है । अपरिपक्व दृष्टि में किसी विशिष्ट दर्शन को अपना लेने से भी इस तरह का अंतर्विरोध पैदा हो जाता है ।

प्रमचंद इस कोटि के रचनाकार नहीं हैं । उन्होंने व्यवस्थित रूप में अपने जीवन दर्शा को प्रस्तुत नहीं किया है न उन्होंने अपने विचारों को व्यवस्थित और दार्शनिक रूप में सजाया ही है । उन्होंने अपनी जीवन दृष्टि के निर्माण और विकास के लिए अथवा परिश्रम और सघप किया है । अपने युग में प्रचलित सामान्य विचार धाराओं और दर्शनों से सघप करते हुए उन्होंने जीवन जीने के कुछ मानदंड निकाले हैं । प्रमचंद के पास अपना कोई दर्शन नहीं है बल्कि अच्छे जीवन की एक सगत परिकल्पना है । इस परिकल्पना के आधार पर ही उन्होंने समकालीन जीवन की आलोचना की है । इस आलोचना से उनकी जीवन दृष्टि के कुछ प्रतिमान निकलते हैं । इन्हीं प्रतिमानों के आधार पर हम उनकी जीवन दृष्टि को परिभाषित कर सकते हैं । उन्होंने अपनी जीवन दृष्टि के निर्माण के लिए जो सघप किया है उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति उनके साहित्य में बहुत कम हुई है । उन्होंने अपने जीवनमूल्यों के अनुसार जीवन यथाय को चित्रित किया है । उस चित्रित जीवन यथाय के विश्लेषण के माध्यम से ही उनकी जीवन-दृष्टि को समझा जा सकता है । यह प्रक्रिया अत्यंत जटिल होती है ।

इस अध्याय का शीर्षक जानूझकर प्रेमचन्द की 'विचारधारा' न रखकर प्रेमचन्द की जीवन-दृष्टि रखा है। इसका एक कारण तो यह है कि विचारधारा जितनी व्यवस्थित, स्पष्ट और कार्यकारण शृंखला से बद्ध होती है, उतनी प्रेमचन्द की रचनाओं में नहीं मिलती। दूसरे, रचनाकार अपनी कृतियों में विचारधारा को जीवन दृष्टि में रूपान्तरित करके ही प्रस्तुत कर सकता है। लेखक की विचारधारा जब तक उसकी जीवन-दृष्टि में नहीं बदल जाती तब तक विचारधारा बला रचना का एक बाह्य और आरोपित तत्त्व ही रहती है। जो रचनाकार विचारधारा को जीवन दृष्टि में रूपान्तरित नहीं कर पाते, उनकी रचना पर विचारधारा हावी होती हुई दिखायी देती है, पात्र प्रतीक बनकर रह जाते हैं, रचना यथार्थ खंडित हो जाता है और इस तरह रचना में व्यक्त यथार्थ और विचारधारा एक दूसरे को नकारते रहते हैं। जब विचारधारा रचनाकार की जीवन-दृष्टि में बदल जाये और जीवन-दृष्टि जीवन यथार्थ में घुलमिलकर रचना रूप में उपस्थित हो जाये, तभी रचना प्रभावशाली हो सकती है। निश्चय ही यह अत्यंत जटिल प्रक्रिया है, जो रचनाकार के आत्म सघर्ष और रचनात्मक सघर्ष के बाद ही घटित होती है। प्रगतिशील रचनाकारों को इस सघर्ष से अनिवार्यतः जूझना पड़ता है। वास्तव में, सजग दृष्टि सम्पन्न रचनाकार जीवन को वांछित और निर्दिष्ट रूप में देखना चाहते हैं। उनका वांछित जीवन बहुत व्यवस्थित होता है, लेकिन वास्तविक जीवन इतना व्यवस्थित और निर्दिष्ट नहीं होता। इस बिछरे हुए अव्यवस्थित जीवन को दृष्टि सम्पन्न रचनाकार को व्यवस्थित करना होता है। इस बलात्मक समस्या का सामना प्रत्येक दृष्टि-सम्पन्न रचनाकार को करना पड़ता है।

कुछ आलोचक लेखक की जीवन-दृष्टि का उसकी मिर्फ राजनीतिक दृष्टि का पर्याय मानते हैं। जैसा कि रूसी आलोचक ग्रोपचेका ने लिखा है कि जीवन-दृष्टि सिर्फ राजनीतिक दृष्टि ही नहीं होती बल्कि उसमें दर्शन, इतिहास समाज, नीति, सौंदर्य शास्त्र सप्रधी अनेक प्रश्न शामिल होते हैं। जीवन दृष्टि में वर्गों के आपसी संघर्ष समाज में व्यक्ति की स्थिति, प्रकृति की अवधारणा, ज्ञान की समस्या भी शामिल है। कई बार लेखक की राजनीतिक दृष्टि उसके सामाजिक, ऐतिहासिक घटनाओं सप्रधी अन्य विचारों से असंबद्ध भी होती है।¹³ कई बार इनके विरोध भी हो सकता है। इसलिए लेखक के राजनीतिक विचारों को उसके सम्पूर्ण विचारों का प्रतिनिधि नहीं मान लेना चाहिए। कई बार लेखक के राजनीतिक विचारों को ऐतिहासिक शक्तियाँ भी सकुचित होने के लिए बाध्य कर देती हैं। रचनाकार अपनी आत्मिक शक्तियों से उन ऐतिहासिक स्थितियों में परिवर्तन नहीं कर सकता, उनमें तो सामाजिक शक्तियाँ ही परिवर्तन ला सकती हैं। इसलिए लेखक के राजनीतिक विचारों को अतिरिक्त महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए।

प्रेमचन्द की जीवन दृष्टि का मूल्यांकन करते समय इस ओर भी ध्यान रखा जाना चाहिए। प्रेमचन्द की जीवन दृष्टि के कुछ बिन्दु गांधीजी से मिलते हैं गांधीजी के नेतृत्व में चल रहे स्वाधीनता आन्दोलन का प्रेमचन्द समर्थन करते हैं इसी कारण कुछ लोगो ने प्रेमचन्द को गांधीवादी साहित्यकार घोषित किया है। प्रेमचन्द ने

स्थान-स्थान पर समाजवादी विचारों का भी समर्थन किया है। उन्होंने 1917 की रूसी क्रांति का जोरदार समर्थन किया था। 'पुराना जमाना नया जमाना' ('जमाना' 1919) लेख में रूसी क्रांति की महान उपलब्धियाँ भी ही मानवता का भविष्य देखा है। 'प्रेमाश्रम' में बलराज के पास एक अखबार आता है, जिसमें रूसी क्रांति की खबरें छपती हैं, जहाँ किसान-मजूरों का राज्य है। यही नहीं, 1919 ई० में उन्होंने दयानारायण निगम को पत्र में लिखा था कि "मैं अब करीब-करीब बोत्शेविक उसूलों का कायल हो गया हूँ।"⁴ इसके अलावा जब प्रेमचन्द ने 'हंस' और 'जागरण' निकाला था, तब उनमें उन्होंने समाजवादी रूस के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विकास पर कई टिप्पणियाँ लिखी थी।⁵ और इस सब में कई लेखकों से स्वतंत्र लेख भी लिखवाये थे। गोर्की प्रेमचन्द के प्रिय लेखक थे। इसके अलावा उन्होंने रूसी साहित्य भी पढ़ा था। सबसे बड़ी चीज यह है कि उन्होंने लखनऊ में 'प्रगति-शील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता की थी। इसी आधार पर प्रेमचन्द को कुछ आलोचक समाजवादी रचनाकार भी मानते हैं।

प्रेमचन्द को जिस तरह पूरी तरह गांधीवादी नहीं कहा जा सकता, उसी तरह उनको समाजवादी भी नहीं कहा जा सकता। प्रेमचन्द के लिए समाजवाद एक आकांक्षा, एक स्वप्न, एक आदर्श स्थिति है। समाजवाद उनके लिए ऐसा आदर्श है जो बहुत दूर है, अगर आ जाये तो बहुत अच्छा है, लेकिन ऐसा होता दिखायी नहीं देता। समकालीन भारत की वास्तविक परिस्थितियों के ऐतिहासिक विश्लेषण से प्रेमचन्द ने यही निष्कर्ष निकाला था। अतः उनकी जीवन-दृष्टि में समाजवाद एक वांछित स्थिति मात्र है — रचना-प्रक्रिया में उसकी सक्रिय भूमिका नहीं है। गोर्की के उपन्यास 'माँ' में जिस प्रकार समाजवाद की परिकल्पना सजीव रूप में मिलती है, वैसी 'प्रेमाश्रम' या 'गोदान' में नहीं है। प्रेमचन्द को कभी गांधीवादी और कभी समाजवादी इसलिए कह दिया जाता है क्योंकि आलोचक प्रेमचन्द की कुछ छिटपुट राजनीतिक टिप्पणियों को अपने निष्कर्षों का आधार बना लेते हैं और इस तरह उनके रचनात्मक साहित्य के वस्तुगत विश्लेषण का प्रयास नहीं करते। उनके सर्जनात्मक साहित्य के सामोपाग विवचन के आधार पर ही उनकी जीवन दृष्टि को परिभाषित किया जाना चाहिये।

इसी तरह कई बार किसी पात्र के विचारों को भी लेखक के विचार मान लेने की प्रवृत्ति रही है। 'रगभूमि' के सूरदास को गांधीजी का प्रतीक मानकर प्रेमचन्द का प्रवक्ता माना जाता रहा है। इसी तरह 'गोदान' में मेहता के विचारों को प्रेमचन्द के विचार मानने का भी प्रचलन रहा है। इस प्रक्रिया में लेखक और पात्र के जटिल संबंधों का सरलीकरण कर लिया जाता है। लेखक अपनी विशिष्ट जीवन-दृष्टि के अनुरूप ही किसी पात्र को उपस्थित करता है, लेकिन लेखक से पात्र का स्वतंत्र अस्तित्व और व्यक्तित्व होता है। इसी तरह लेखक के व्यक्तित्व का एक अंश हालांकि पात्र में होता है, फिर भी वह उससे स्वतंत्र होता है। रचनाकार का व्यक्तित्व संपूर्ण रचना में घुला-मिला होता है, किसी एक पात्र में नहीं। इसी तरह किसी एक रचना में भी लेखक अपने को पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पाता, संभवतः इसीलिए वह

एक से अधिक रचना करता है, फिर भी उसे संतोष नहीं हो पाता । रचनाकारों ने इस तरह के रचनात्मक असंतोष का जिक्र अनेक बार अनेक प्रसंगों में किया है ।

गांधीजी और प्रेमचन्द .

प्रेमचन्द की गांधीवादी मानने वाले आलोचक इसी तर्क-पद्धति से अपने निष्कर्ष निकालते हैं । प्रेमचन्द गांधीजी का सम्मान करते थे, यह सही है । उन्होंने असहयोग आन्दोलन में भाग लिया था और उसी प्रभाव से नौकरी भी छोड़ दी थी । उन्होंने गांधीजी द्वारा चलाये जा रहे स्वाधीनता आन्दोलन का चित्रण अपनी रचनाओं में किया है और इसमें सफलता की कामना की थी । यहाँ तक कि गांधीजी का नाम वह भी समकालीन अनेक भारतीयों की तरह सम्मान और गव के साथ लेते थे । यह सभी सत्य है, लेकिन इसी से उन्हें गांधीवादी नहीं कहा जा सकता है । उनकी विचार-प्रणाली के कुछ मूलभूत विरोधों का जिक्र किया जाना चाहिए ।

सबसे पहली बात तो यह है कि गांधीजी आस्तिक थे और प्रेमचन्द नास्तिक । गांधीजी नियमित रूप से गीता का पाठ करते थे, और ईश्वर में अपनी आस्था व्यक्त करते थे । गांधीजी की ईश्वर भक्ति सिर्फ जनता को राजनीतिक क्षेत्र में लाने की चाल मात्र नहीं थी । वे उसमें हृदय से विश्वास करते थे । प्रेमचन्द ईश्वर को नहीं मानते थे । इस तरह सृष्टि की उत्पत्ति और संचालन संबंधी प्रत्येक आध्यात्मिक विचार-प्रणाली के विरुद्ध थे । इसके अलावा गांधीजी और प्रेमचन्द के सामाजिक विचारों में भी बुनियादी विरोध था । गांधीजी समाज में हो रहे वर्गसंघर्ष को टालना चाहते थे । उन्होंने वर्ग-सहयोग के आधार पर संपूर्ण देश को संगठित करने का प्रयास किया था । मजदूर और पूँजीपति, किसान और जमींदार के संघर्ष को गांधीजी अनिवार्य नहीं मानते थे । इसे टालने के लिए उन्होंने पूँजीपतियों की परिकल्पना ट्रस्ट के संचालक के रूप में की । 'हृदय-परिवर्तन' के द्वारा पूँजीपतियों को परिवर्तित करने का प्रयास वे हमेशा करते थे । इसी तरह जमींदार और किसान के आपसी संघर्ष को भी वे बचाना चाहते थे । वे स्वाधीनता आन्दोलन को इस रूप में संगठित करना चाहते थे, जिसमें मजदूर और पूँजीपति, किसान और जमींदार, हिन्दू मुसलमान, इसाई सभी मिल-जुलकर हिस्सा लें । इस तरह साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में भारतीयों की विजय हो । संक्षेप में गांधीजी के राजनीतिक-सामाजिक विचारों का केन्द्र बिन्दु यही है । अगर इसी आधार पर प्रेमचन्द साहित्य का अध्ययन किया जाय तो हमें पता चलेगा कि प्रेमचन्द गांधीजी से रचनात्मक स्तर पर कितने दूर हैं ।

प्रेमचन्द की रचनाओं में वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति खुलकर हुई है । प्रेमचन्द की रचनाओं में पूँजीपति और मजदूर, जमींदार और किसान के बुनियादी हित विरोध को रेखांकित किया गया है और इस संघर्ष में प्रेमचन्द ने हर जगह किसान-मजदूरों का पक्ष लिया है । हर जगह उन्होंने किसानों के संघर्ष को उचित ठहराया है । 'प्रेमाश्रम' में मनोहर कारिदा गौस खाँ की हत्या कर देता है । सेखक ने कहीं भी मनोहर की आलोचना नहीं की है, बल्कि उसके इस वीरतापूर्ण कृत्य की तारीफ़ सुबू चौधरी जैसे किसानों से करवायी है ।¹⁶ 'रंगभूमि', 'कायाबल', 'कर्मभूमि' आदि

उपन्यासों में जहाँ भी किसान जमींदारों के विरुद्ध लड़ते हैं, प्रेमचन्द किसानों के पक्षधर नजर आते हैं। प्रेमचन्द न दिखाया है, जमींदारों के खात्मा के बिना किसानों की हित-चिन्ता करना खयाली पुलाव है। किसानों का हित बिना जमींदारों के गाँवों में ही हो सकता है। इसके अलावा प्रेमचन्द स्वाधीनता आन्दोलन में किसानों की निर्णायक भूमिका मानते हैं। उनका मानना है कि आजाद भारत में किसान ही सबसे ज्यादा खुशहाल होंगे क्योंकि परतंत्र भारत में उन्हीं का शोषण सबसे ज्यादा होता है। किसानों का जमींदार-विरोधी संघर्ष राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का ही हिस्सा है अतः इस संघर्ष में किसानों का साथ दिया जाना चाहिए। इसके अलावा, प्रेमचन्द की पात्र परिकल्पना में भी गांधीजी के 'हृदय परिवर्तन' की धारणा का प्रभाव नहीं है। कुछ छिछुटे पात्रों के अलावा प्रेमचन्द के किसी भी खल पात्र का हृदय परिवर्तन नहीं होता और न ही वह अपनी सम्पत्ति को जनता का 'ट्रस्ट' समझता है। 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर अतः में आत्महत्या कर लेता है। 'रंगभूमि' के राजा महेन्द्र, या मि० जानसेवक, 'कायाकल्प' के ठाकुर विशालसिंह 'वर्मभूमि' के महंत जी या फिर 'गोदान' के रामसाहब, शिगुरी सिंह दातादीन—किसी भी पात्र में वह 'मानवीयता' नहीं जागृत होती है, जिसे गांधीजी काम्य स्थिति मानते हैं। यथार्थवादी प्रेमचन्द का साहित्य भारतीय किसान के दुश्मनों से घृणा करना सिखाता है। इसके अलावा प्रेमचन्द समाजवाद से सहानुभूति रखते थे। गांधी न रामराज्य की परिकल्पना की थी। समाजवाद से सहानुभूति प्रेमचन्द को गांधीवाद से दूर करती है लेकिन राष्ट्रवाद की मान्यता उन्हें गांधीजी के करीब लाती है।

प्रेमचन्द और गांधीजी के संघर्ष उन ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन थे, इसे नहीं भूलना चाहिए। उस युग में गांधीजी भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के प्रतीक थे। अपनी मातृभूमि से प्रेम करने वाला प्रत्येक भारतीय इसलिए गांधीजी का सम्मान करता था। प्रेमचन्द भी उन्हें बहुत मानते थे। उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसे गुण थे जो उन्हें आकर्षित करते थे—यथा वचन और कर्म की एकता, सत्य में अडिग आस्था, निडरता, निस्वार्थ सेवा, सादा जीवन आदि। प्रेमचन्द इन गुणों की तारीफ करते थे। उन्होंने स्वाधीनता आन्दोलन को विषय बनाकर जो साहित्य लिखा है उसमें गांधीजी को बहुत सम्मान से उपस्थित किया है। उन्होंने परिस्थितियों का जो विश्लेषण किया था, उसके अनुसार गांधीजी के रास्ते से ही स्वराज्य मिलने की आशा थी। इस कारण भी प्रेमचन्द गांधीजी का आदर करते थे। समाज सुधार, हरिजनोद्धार संघर्ष अनेक विषयों पर प्रेमचन्द और गांधीजी के विचार मिलते हैं। लेकिन यह भी याद रखा जाना चाहिए कि प्रेमचन्द ने गांधीजी की स्पष्ट आलोचना भी की है। 16 अप्रैल 1934 के जागरण में 'ठेलमठाला' शीर्षक टिप्पणी में प्रेमचन्द ने गांधीजी की स्पष्ट आलोचना की है। 'अब यह मान लेना पड़गा कि जिस चीज को महात्माजी भीतर की आवाज कहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि उसके गलत होने की संभावना नहीं, वह बहुत भ्रम को चोज नहीं है क्योंकि उसका एक से ज्यादा अवसरो पर गलती की है।' 7 निश्चय ही यह प्रेमचन्द का क्षणिक निर्णय नहीं है, बल्कि इस निष्कर्ष के पीछे उनके विचारों की लम्बी प्रक्रिया रही है। इससे

यह भी लगता है कि प्रेमचन्द ने गांधीजी को समझने में हमेशा अपनी आलोचनात्मक बुद्धि का उपयोग किया है, अपन जीवन-मूल्यों के अनुसार ही उन्होंने गांधीजी को अपनाया है और उन्हीं आधारों से ही उनकी आलोचना की है। सृष्टि की उत्पत्ति और मनुष्य की सज्जनात्मक शक्ति

प्रेमचन्द दार्शनिक नहीं थे। इसलिए उन्होंने व्यवस्थित रूप से सृष्टि की उत्पत्ति और विकास की क्या व्याख्यान नहीं की है। (इस सदर्भ में उन्होंने चित्तन अवश्य किया है।) न ही उन्होंने मानव जीवन के ऐतिहासिक विकास प्रम को ही रेखांकित किया है। जयशंकर प्रसाद और रागेय राधक ने इस तरह का प्रयास अपन सज्जनात्मक साहित्य में भी किया है। प्रेमचन्द ने सचेत रूप से तो सिर्फ समकालीन समाज का चित्रण किया है। समकालीन समाज इस अवस्था में कैसे पहुँचा है, इस ऐतिहासिक प्रक्रिया का सकेत उन्होंने जगह-जगह किया है। इसी आधार पर हम उनके विचारों को जान सकते हैं।

समकालीन भारत के अधःपतन की कारण-प्रक्रिया की ओर राष्ट्रीय जागरण से सम्बद्ध लगभग सभी बुद्धिजीवियों ने की है। जो लोग इस जागरण को सामाजिक और धार्मिक जागरण के रूप में देखते हैं, उनमें से अधिकांश के अनुसार समकालीन अधःपतन के कारण भारत में मुस्लिम राज्य हैं। धार्मिक पुनर्युत्थानवादियों ने उस युग में इस विचार का बड़े जोर-शोर से प्रचार किया था। जो लोग इस जागरण को राष्ट्रीय जागरण के रूप में देखते हैं, उनके अनुसार समकालीन अधःपतन का कारण अंग्रेजी राज्य है। इसलिए स्वाधीनता प्राप्त करके ही इस अधःपतन को दूर किया जा सकता है। प्रेमचन्द उन थोड़े-से हिंदी साहित्यकारों में हैं, जिन्होंने धार्मिक विचार प्रणाली का विरोध किया और राष्ट्रीय दृष्टि से दूसरी विचार-प्रणाली का समर्थन किया। प्रेमचन्द का महत्त्व इससे बढ़ता है कि निरामा जैस जागरण साहित्य-कार भी अपने को प्रथम विचार प्रणाली में पूरी तरह से मुक्त नहीं कर पाये थे। उन्होंने 'तुलसीदास' में कवि को मुस्लिम सभ्यता से संपर्क करने हुए दिखाया है। प्रेमचन्द ने इस तरह का भटकाव कभी भी नहीं किया।

प्रेमचन्द ने हालांकि सृष्टि की उत्पत्ति और विकास की गुंथगत क्या नहीं नहीं कहा है, फिर भी उन्होंने इस सदर्भ में प्रचलित धार्मिक विचारधारा का खंडन अवश्य किया है। इस खंडन से ही हम उनके वैचारिक विचारधारा का खंडन प्रेमचन्द के पात्र (अधिकांश) इस विचारधारा को मानते हैं तो देख सकते हैं। करते हैं। इस वैचारिक विरोध के बावजूद प्रेमचन्द अपने पात्रों को जिस मानवीय सहानुभूति से उपस्थित करते हैं, वह सराहनीय है।

प्रेमचन्द ने इस धार्मिक परम्परा को अपन साहित्य में उपस्थित किया है, लेकिन इसे उन्होंने शास्त्रीय रूप में व्यक्त नहीं करके, उस रूप में उपस्थित किया है, जिस रूप में आम जनता उस मानती है। पहले नहीं थी। इसके अनुसार सृष्टि (जो नही हुआ है, बल्कि इसकी 'रचना' ईश्वर ने की है। ईश्वर ही इस म घटा और पालन कर्ता है। इस अविनिमित्त को दृश्यमान अवस्था

व्यवस्था करता है। इस तरह सर्जनशक्ति ईश्वर के पास ही है, मनुष्य 'सर्जन' नहीं कर सकता। ईश्वर के लिए सभी मनुष्य समान हैं। वह बहुत दयालु है, वह सृष्टि के सभी प्राणियों से बहुत स्नेह करता है। फिर दुनिया में दुख, रोग, शोक, क्यों है? इसका कारण अपना-अपना भाग्य है। भाग्य के पीछे पुनर्जन्म और कर्मफल की श्रृंखला है। आत्मा अमर है, शरीर नश्वर है। मनुष्य जब मारता है तो उसके पिछले जन्म के कर्म अगले जन्म में भुगतने होते हैं। अतः मनुष्य की आर्थिक विपन्नता, रोग, कष्ट, पीड़ा का कारण उसके पिछले जन्म के स्वयं के कर्म हैं। इसके लिए किसी अन्य मनुष्य या सांसारिक व्यवस्था को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। अगर मनुष्य को सुखी जीवन जीना है तो उसे इस जन्म में धर्म द्वारा निर्दिष्ट 'अच्छे' कर्म करने चाहिए, ताकि उसका फल वह अगले जन्म में भोग सके। इस आध्यात्मिक व्यवस्था के साथ सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप भी धार्मिक है। ईश्वर ने चार वर्णों की सृष्टि की है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें सभी के अधिकार और कर्तव्य नियत हैं। इनका उल्लंघन करना पाप है। पाप का फल नरक और पुण्य का फल स्वर्गभोग है। इस तरह हालांकि ईश्वर की नज़रों में सभी मनुष्य बराबर हैं, लेकिन सामाजिक जीवन में मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार असमान जीवन व्यतीत करते हैं। यह लौकिक जगत मिथ्या है, सत्य तो ईश्वर है, वही कर्ता है। मनुष्य तो मोक्ता है। वह अपने कर्मों का फल भोगता है। उसमें सर्जन सामर्थ्य नहीं है। यह समाज व्यवस्था जैसी है, उचित है। उसमें परिवर्तन की एव तो जरूरत नहीं है, दूसरे इस परिवर्तन का सामर्थ्य मनुष्य में नहीं, ईश्वर में है। इस तरह यह 'भारतीय संस्कृति' असमानता को बंध मानकर चलती है। संक्षेप में, एक आम भारतीय के धार्मिक विश्वास इसी तरह के रहे हैं।

भारतीय राष्ट्रीय जागरण में 'समानता की आधुनिक संस्कृति' के हिमायती बुद्धिजीवी सामने आए। उन्होंने हमारे समाज में फैली हुई कुछ बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। अनेक मुद्दों पर इनमें आपसी मतभेद थे, लेकिन देशदशा के सुधार की आकांक्षा सभी में थी। प्रेमचन्द धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी थे। इस अर्थ में प्रेमचन्द गांधीजी की अपेक्षा पंडित जवाहरलाल नेहरू के करीब थे। गांधीजी ईश्वर की नियमित प्रार्थना किया करते थे। प्रेमचन्द के सर्जनात्मक साहित्य का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे। जैनेन्द्र को एक बार बहुत पीड़ा से प्रेमचन्द ने कहा था, 'जैनेन्द्र, मैं कह चुका हूँ, मैं परमात्मा तक नहीं पहुँच सकता। मैं उतना विश्वास नहीं कर सकता। कैसे विश्वास करूँ जब देखता हूँ बच्चा बिलख रहा है, रोगी तड़प रहा है। यहाँ भूख है, क्लेश है, ताप है। वह ताप इस दुनिया में कम नहीं है। तब उस दुनिया में मुझे ईश्वर का साम्राज्य नहीं दीने तो यह मेरा कसूर है? मुश्किल तो यह है कि ईश्वर को मानकर उसे दयालु भी मानना होगा। मुझे वह दयालुता नहीं दीखती। तब उस दयासागर में विश्वास कैसे हो? जैनेन्द्र, तुम विश्वास करते हो।' ४

उनके पात्र दुख और पीड़ा में ईश्वर को याद करते हैं, लेकिन कभी भी ईश्वर उनकी मदद नहीं करता। मनुष्य ही पीड़ा से पीड़ित मनुष्य की मदद करता

है। 'प्रेमाश्रम' में मनोहर की सहायता कादिर करता है। धन्य के कारण कई लोग मारे जाते हैं जमींदार जब अत्याचार करता है तो प्रेमचन्द जैसे मानवतावादी पात्र ही उनकी मदद करते हैं। 'गादान' का होरी, 'सद्गति' का दुधो चमार बार-बार सच्चे मन से ईश्वर का आह्वान करते हैं, लेकिन ईश्वर कभी उनकी मदद नहीं करता और उन्हें अवांस्त मोत मरना पड़ता है। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में भारतीय जनता की गरीबी का कारण उनका भाग्य बताया और उन्हें सतोष करने की शिक्षा नहीं दी है। साम्राज्यवाद और सामंतवाद की स्वार्थी नीतियों और व्यवस्थाओं के कारण ही देश बदहाल है। इस बदहाली से उबरने और देश का विकास करने के लिए स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेना अनिवार्य है।

प्रेमचन्द इस अर्थ में भोक्तिवादी है कि उन्होंने सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी ईश्वरीय व्याख्या को अस्वीकृत किया है। बिहार में भूकम्प की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने आस्तिक लोगों की आलोचना की है। "यदि आस्तिकता, भूकम्प का कारण पाप बतलाती है तो यह प्रश्न हो सकता है कि क्या सचमुच परमात्मा ने बिहार में वास्तविक पापियों को ही दण्ड दिया है? जितने प्राणी भूकम्प में मरे, क्या वे सभी महान पापी थे? और यही, इस देश में जो बड़े-बड़े पापाचारी और गरीबों का रक्त घूम जाने वाले बड़ी-बड़ी तोंद वाले, बड़े-बड़े तिलकधारी लोग पड़े हुए हैं, क्या परमात्मा उन्हें नहीं देख पाता? अस्तु, यह सब व्यर्थ की बातें हैं। भलीभाँति विचार करने पर मालूम हो जाता है कि भूकम्प किसी पाप पुण्य का कारण नहीं हुआ, यह प्रकृति की एक सीला है और भूकम्प की वैज्ञानिक प्रक्रिया का एक परिणाम है।"⁹

प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में जनता के दुःख-दर्द के लिए उससे शापक वर्गों को जिम्मेदार ठहराया है। शापण की इस प्रक्रिया का विवरण एक अलग अध्याय में किया गया है। समाज के इन शोषकों में जमींदार, महाजन, सरकारी कर्मचारी, पुलिस, धार्मिक अधिकारी और अंग्रेजी राज्य हैं। 'गादान' में उन्होंने स्पष्ट रूप से दिखाया है कि होरी की बदहाली के लिए दातादीन, रायसाहब, पटश्वरी, नोखेराम, सिंगुरी सिंह जैसे लोग उत्तरदायी हैं। हारी इस तथ्य को नहीं जान पाता, क्योंकि वह ईश्वर में और भाग्य में विश्वास करता है, लेकिन प्रेमचन्द सारे उपन्यास में यही बताने का प्रयास करते हैं कि होरी भाग्य का मारा हुआ नहीं है बल्कि औपनिवेशिक समाज व्यवस्था का मारा हुआ है।

इस सन्दर्भ में मनुष्य की अवधारणा का सवाल भी सामने आता है। ईश्वरवादी विचारक मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर का वास होता है। मानव शरीर में आत्मा ईश्वर का प्रतिनिधित्व करती है। यह आत्मा मनुष्य को बुरे कर्म करने से रोकती है। विज्ञानवादी विचारकों का मत रहा है कि मनुष्य का विकास पशुओं से हुआ है, अतः इस विकास क्रम के बावजूद उसमें प्राणविकृति शेष रह गयी है। इसीलिए मनुष्य स्वभावतः बुराई करता है सभ्यता के संस्कार द्वारा उसमें अच्छाई का प्रवेश होता है। प्रेमचन्द के पात्रों की जाँच इस दृष्टि से भी की जा सकती है। प्रेमचन्द के पात्र न तो मूलतः 'बुरे' हैं और न स्वभावतः 'अच्छे'। वे सामाजिक

परिस्थितियों और अपने वर्गगत स्वभाव के अनुरूप आचरण करते हैं। उसके व्यक्तित्व को खामियाँ और खूबियाँ परिस्थिति जन्म देती हैं। गाँव का गोबर शहर से जब वापस आता है तो परिस्थितियों के ज्ञान के कारण उगम बड़ा परिवर्तन हो गया है। आदर्शवादी शैक्षिक यन्त्रावरण में पलने के कारण मायाशक्कर जमींदारी छोड़ देता है। लेकिन अपने वर्गों के प्रतिनिधि शिगुरी मिह, रायसाहब, विप्रजी और दातादीन में कोई परिवर्तन नहीं होता। 'प्रेमचन्द' का एक पात्र कहता है—“यह सम्बन्ध ही ऐसा है कि एक ओर तो प्रजा में भय, अविश्वास और आत्महीनता के भावों को पुष्ट करता है और दूसरी ओर जमींदारों को अभिमानी, निर्दय और निरकुश बना देता है।”¹⁰ इस तरह सवाल किसी 'अच्छे' या 'बुरे' जमींदार का नहीं, बल्कि उन सामाजिक सम्बन्धों का है, जिनमें वह जीवन जीते हैं। व्यक्तिगत गुणों की दृष्टि से तो रायसाहब योग्यतम व्यक्ति हैं, लेकिन जमींदार होने के कारण क्रूरतापूर्ण व्यवहार करते हैं। इस तरह प्रेमचन्द का भौतिकवाद ही उन्हें स्वाधीनता आन्दोलन का पक्षधर बनाता है।

उस युग में अछूतों के मंदिर-प्रवेश की समस्या भी बड़े जोर-शोर से उठी थी। प्रेमचन्द ने भी इस समस्या पर विचार किया। उदार धार्मिक सुधारवादियों का मत था कि ईश्वर के दर्शन का अधिकार अछूतों को भी मिलना चाहिए, यह उनका मानवीय अधिकार है। प्रेमचन्द ने इस माँग का समर्थन करते हुए भी इसे उनकी कोई बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं माना है। उन्होंने मंदिरों में पनप रहे अत्याचारों का वर्णन करके दिखाया है कि यह कोई पूजनीय स्थान नहीं है। 'मंदिर' कहानी में चेतना और मूल्यबोध के दो विरोधी स्तर मौजूद हैं। सुखिया चमारिन साचती है कि ठाकुरजी के चरण-स्पर्श से ही उसका लड़का अच्छा हो जायेगा। अपनी इस इच्छा को पूरा करने के लिए ममतामयी सुखिया अपनी जान द देती है। लेखक इसे सुखिया का भ्रम मानता है। लेखक के अनुसार लड़के की तबियत बीमारी में गुड़ खा लेने से खराब हुई है, दूसरे उन्होंने यह संकेत भी दिया है कि ठाकुरजी के चरण स्पर्श से लड़का अच्छा नहीं होता। फिर भी सुखिया की इस इच्छापूर्ति में पंडित-पुरोहित आड़े आते हैं। इस कहानी में प्रेमचन्द ने दिखाया है कि पंडित हत्यारे हैं। लेखक ने पंडितों की अमानवीयता और स्वार्थपरता के साथ-साथ सुखिया चमारिन की मानवीयता को भी रेखांकित किया है, साथ ही उन्होंने यह भी दिखाया है कि दोनों भ्रम में पड़े हुए हैं। फिर भी सुखिया का अज्ञान जहाँ सामाजिक समानता का पक्षपाती है वहीं पुराण पंथियों के अज्ञान से एक बच्चे की जान चली जाती है। प्रेमचन्द ने जगह-जगह धर्म का व्यवसाय चलाने वालों की पोल खोली है। यही कारण है कि उस युग के धार्मिक लोगों ने प्रेमचन्द को ब्राह्मण-विरोधी घोषित किया था। फरवरी 1929 की 'सरस्वती' में जिलीमुख ने 'प्रेमचन्द की कला' शीर्षक लेख में लिखा है “ब्राह्मणों के सुधार का प्रेमचन्द जी ने ऐसा ठीका लिया है कि एक 'सेवासदन' को छोड़कर सर्वत्र ही ब्राह्मण निन्दनीय और उदासीन ठहराये गये हैं और उन्हें जूते लगवाये गये हैं।”¹¹ यह आकस्मिक नहीं है कि उस युग में अकेले प्रेमचन्द ही ऐसे साहित्यकार हैं जिन पर 'ब्राह्मण विरोधी' होने का आरोप लगाया गया है। यह प्रेमचन्द के

अध्यात्म विरोधी होने का भी एक प्रमाण है। प्रमच द ने धार्मिक व्यक्तियों के जो चित्र उपस्थित किये हैं उनसे भी यही निष्कर्ष निकलता है। प्रभु ईशु क सच्चे भवन रगभूमि के ईश्वर सबक जितने धार्मिक हैं उससे कम स्वार्थी नहीं हैं। चाय म चीनी अधिक पड़ जाने से उनकी घम प्रती आत्मा भी तड़प उठती है। जानसेवन के लिए तो घम स्वाध का एक सगठन हा है।

इस तरह प्रमच द न बताया है कि यह समाज व्यवस्था मनुष्य द्वारा निर्मित है। चालाक व्यक्तियों ने अपन हिता के अनुरूप उसमें कुछ गलत परपरार्यें डाल ली हैं। सरकार क्या है? पढ़ लिख आदमियों ने गरीबों को दवाए रखन के लिए एक सगठन बना लिया है। उसी का नाम गवर्नमन्ट है।¹² वास्तव में यह प्रमच द की अनुभवपरक दृष्टि की देन है। सरकार आयय करती है और उसमें कुछ व्यक्तियों का हित निहित है। यह भी सही है। लेकिन सरकार की निमिति सिर्फ चालाकी पर ही निर्भर नहीं है। सरकार सारी समाज व्यवस्था का मूल रूप है। प्रमच द न समकालीन सामाजिक सगठन का अपनी दृष्टि में समझन का प्रयास किया है। प्रमच द इस समाज व्यवस्था को बनाए रखन वाले वैचारिक प्रभुत्व के खिलाफ भी सघष करने का आह्वान करते हैं। 30 अप्रैल 1934 के जागरण में प्रमच द ने लिखा है— किसानों के लिए लगान का आधा हो जाना उनका उपकार नहीं है जितना अग्रविश्वास और मिथ्या रस्म रिवाजा से मुक्त होना और नष्टों से परहेज करना। आपस में जो बल बढ़ता जा रहा है और लोग म मुकद्दमवाजी का जो चस्का पड़ता जाता है इसे रोकना किसानों को कारिन्दों पटवारियों और दूसरे अमला के जुल्म से बचाना उनकी इससे कहीं बढ़कर सवा है कि उनका लगान कुछ कम हो जाय।¹³

प्रमच द इस जगत की मिथ्या मानकर इसकी अवहेलना नहीं करते बल्कि इसे सत्य समझकर इसे ही बेहतर बनाना चाहते हैं। उनके साहित्य में जो मानवीय चिन्ताएँ व्यक्त हुई हैं उनमें मूल में विश्व व्यवस्था का यह भौतिकवादी विश्लेषण है। उनके लिए मनुष्य मजदूर सामर्थ्य से युक्त प्राणी है। यह जगत परिवर्तनशील है। मनुष्य सामूहिक शक्ति और सघष के द्वारा इसमें वांछित परिवर्तन कर सकता है। पुनर्जन्म और भाग्यवाद काल्पनिक है। प्रमच द न कायाकल्प और कुछेक ब्रह्माचारियों में पुनर्जन्म की कथा भी बड़ी है जिसमें लगता है कि प्रमच द भी पुनर्जन्म में विश्वास करते थे। लेकिन यह प्रमच द का चरित्रिक भटकाव है जो तदयुगीन साम्प्रदायिक विचारों की देन है। बाद में स्वयं प्रमच द न इस नकार दिया था। दूसरे कायाकल्प में भी उन्होंने शोषित पीड़ित व्यक्तियों के दर्द का वास्तविक चित्रण किया है जिसमें ईश्वरीय दयानुता का अंश नहीं है। प्रमच द जो आगे चतुर्क समाजवादी हो गये थे वह अवधारण नहीं था। इसका पीछे उनकी जीवन दृष्टि का यह भौतिकवादी आधार बराबर रहा है।

राष्ट्रीयता

प्रमच द एक देशभक्ता साहित्यकार हैं। वे अपने आपको स्वाधीनता का दोलन

का एक कार्यकर्ता मानते रहे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने 'हंस' और 'जागरण' जैसे पत्र निकाले। उनके साहित्य का एक बड़ा भाग स्वाधीनता आन्दोलन की घटनाओं से जुड़ा हुआ है। भारतीय किसान के पक्षधर होने के कारण (और साथ ही) उनमें साम्राज्यवाद विरोधी और सामतवाद विरोधी भावना प्रबल रूप से मौजूद हैं। इस सदर्भ में प्रेमचन्द उन व्यक्तियों से अलग थे, जो स्वाधीनता आंदोलन को सिर्फ शिक्षित वर्ग का आंदोलन मानते थे। उनके अनुसार स्वराज्य आंदोलन में किसानों की भूमिका सर्वप्रमुख है और होनी चाहिए। वे तो मानते थे कि 'स्वराज्य का आन्दोलन गरीबों का आन्दोलन है। इन गरीबों में भी 'स्वराज्य' किमानों की माँग है, उन्हें ज़िन्दा रखने के लिए आवश्यक है।'¹⁴ प्रेमचन्द ने इस स्वाधीनता-संग्राम में किसानों के पक्ष को प्रस्तुत किया है।

उस युग में राष्ट्रीयता के स्वरूप निर्धारण पर प्राच्य विद्याविद् अंग्रेजों के विचारों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। भारतीय राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों ने उनकी मान्यताओं का साम्राज्यवाद विरोधी उपयोग किया है। 1786 ई० में विलियम जॉन्स ने वैदिक युग के रूप में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के स्वर्णिम अतीत की परिकल्पना की थी। इसके बाद कोलब्रुक ने मत व्यक्त किया कि 'सभ्यता की उत्पत्ति एशिया में हुई।' इन दो धारणाओं का भारतीय राष्ट्रवाद से बहुत पनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उनका उपयोग अपनी-अपनी दृष्टि से सभी सामाजिक शक्तियों ने किया है। अंग्रेजों ने इससे निष्कर्ष निकाला कि वैदिक युग के बाद से भारतीयों का इतिहास एक पराजित और हताश जाति का इतिहास है—चूँकि भारतीय कभी स्वतंत्र थे ही नहीं, अतः उनमें स्वाधीनता को ग्रहण करने का सामर्थ्य ही नहीं है। पुनर्स्थापनावादियों ने इसके प्रत्युत्तर में कहा कि हिन्दू जाति अतीत काल में श्रेष्ठ रही है, बीच में मुसलमानों के आने के बाद थोड़ी पतित हो गयी है, फिर हम उसी प्राचीन वैदिक गौरव को प्राप्त कर सकते हैं। 'शुद्धिकरण' जैसे कार्यों के द्वारा हम फिर अपने 'राष्ट्र' को पवित्र कर सकते हैं। प्रेमचन्द उन राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों में से थे जिन्होंने इन दोनों व्याख्याओं का खंडन किया। उन्होंने शिक्षित वर्ग की मानसिक पराधीनता और आत्महीनता की आलोचना की और पश्चिम के अध्यानुकरण को हेय ठहराया।¹⁵ प्रेमचन्द ने इसे मानसिक पराधीनता की सजा दी और इससे उबरने की आवश्यकता पर बल दिया। अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति की आलोचना करते हुए भी उन्होंने घामिर पुनर्स्थापनावादियों का साथ नहीं दिया। उनका दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष ही रहा। उन्होंने राष्ट्रीयता को जीवन-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। प्रेमचन्द ने अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध सभी धर्मों, जातियों, संस्कृतियों को मिलाकर एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण पर बल दिया। हिन्दूवादों भाई परमानन्द का खंडन करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था—“जब तक हममें यह हिन्दूपन और मुसलिमपन रहेगा, तीसरी शक्ति को अपना प्रभुत्व जमाये रखने के लिए किसी बात की जरूरत नहीं, इसके सिवा कि कभी हमें खुश कर दे, कभी उसे। जिस दिन यह मनोवृत्ति मिट जायगी, उसी दिन स्वराज्य आ जायगा।”¹⁶ कांग्रेस के मिर्जापुर अधिवेशन पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था कि “हम तो यहाँ तक कहें

है कि अगर आपके धर्म में कुछ ऐसी बातें हैं, जो राष्ट्रीयता की परीक्षा में पूरी नहीं उतरती, सार्वदेशिक हितों में बाधक होती हैं, तो उन्हें त्याग्य समझिए। काफिर भ्लेच्छ का हमारे धर्म से नामोनिशान मिट जाना चाहिए।" 17

अंग्रेज साम्राज्यवादियों और पुनरुत्थानवादियों ने देश में भेदभाव और साम्प्रदायिकता का प्रचार प्रसार किया। प्रेमचन्द ने राष्ट्रीय एकता में बाधक इस भेदभाव का सत्रिय विरोध किया। उनके समाज सुधार के विचारों पर भी राष्ट्रीय एकता के भावों की गहरी छाप है। छुआछूत, विधवा विवाह की समस्या, सामाजिक रुढ़ियाँ, साम्प्रदायिकता का सवाल प्रेमचन्द के लिए धार्मिक सवाल नहीं हैं, बल्कि राष्ट्रीय सवाल हैं। जिनसे राष्ट्र कमजोर होता है उन सारे बातों को हटाना हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है। प्रेमचन्द ने भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का मूल्यांकन करते हुए इस तथ्य को सामने रखा है जिससे एक तो समाज में जनताश्रित जीवन मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय एकता को बल मिले, दूसरे अपने स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा करते हुए साम्राज्यवादियों का राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृतिक स्तर पर भी मुकाबला किया जा सके।

प्रेमचन्द में प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति पूजा भाव नहीं है, बल्कि आत्मालोचन का भाव है। इसके साथ ही उन्होंने पश्चिमी सभ्यता से भारतीय सभ्यता की तुलना भी की है, जो उस युग का प्रिय विषय रहा है। इस तुलना में उन्होंने पूर्व का (भारत का) पक्ष लिया है और भारतीय सभ्यता के उज्ज्वल पक्ष को सामने रखा है। प्रेमचन्द ने वैदिक स्वर्णयुग के मिथक का उपयोग नहीं किया है, प्रसाद जो पर इसका गहरा असर है। उन पर कोलब्रुक की धारणा का असर है कि सभ्यता की उत्पत्ति भारत में ही हुई है। इससे उन्होंने राष्ट्रीय गौरव का बयान किया है।

उस युग की राष्ट्रीयता की भावना पूर्व बनाम पश्चिम, एशिया बनाम यूरोप के सपर्प के रूप में भी व्यक्त हुई। इस तुलना ने कई स्तरों पर बुद्धिजीवियों के दृष्टिकोण को प्रभावित किया है। प्रेमचन्द ने भी अपने रचनात्मक साहित्य में इस तरह का विरोध खड़ा करने का प्रयास किया है। प्राच्य विद्याविद् अंग्रेजों ने पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता की तुलना में पूर्वीय सभ्यता की जो विक्षेपताएँ गिनायी थी, प्रेमचन्द जैसे राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों ने उनका उपयोग किया है। जनवरी 1911 के 'हंस' में पूर्व और पश्चिम के जीवनादर्शों की तुलना इस तरह से की है 'हमारी सभ्यता कहती है—अपनी जरूरतों को मत बढ़ाओ, ताकि तुम्हारी जात से कुटुम्ब और परिवार का भी कुछ उपकार हो। पश्चिमी सभ्यता का आदर्श है—अपनी जरूरतों को खूब बढ़ाओ, चाहे उनके लिए दूसरों की जेब ही क्यों न काटनी पड़े। अपने ही लिए जिओ और अपने ही लिए मरो। हमारी सभ्यता कृषि प्रधान थी, हम गाँवों में रहते थे, जहाँ अपने आत्मीय जनो का ससर्ग बहुत-सी बुराईया से हमारी रक्षा करता था। पश्चिमी सभ्यता व्यवसाय प्रधान है और बड़े बड़े नगरों का निर्माण करती है, जहाँ हम सारे वधना से मुक्त होकर दुराचरण में पड़ जाते हैं। हमारी सभ्यता में सम्मिलित कुटुम्ब एक प्रधान अंग था। पश्चिमी सभ्यता में परिवार का

अर्थ है—वेवल स्त्री और पुरुष । दोनों में बुराईयाँ और भलाईयाँ दोनों ही हैं, पर जहाँ एक में सेवा और त्याग प्रधान है वहाँ दूसरे में स्वार्थ और सकीर्णता । हमारी सभ्यता में नम्रता का बड़ा महत्त्व था, पश्चिमी सभ्यता में आत्मप्रशंसा को वही स्थान प्राप्त है । अपने को खूब सराहो, अपने मुँह खूब मियाँ मिट्टू बनों । हमारी सभ्यता में धन का स्थान गौण था, विद्या और आचरण से आदर मिलता था । पश्चिमी सभ्यता में धन ही मुख्य वस्तु है । हम भी धन कमाते थे, पर दया के साथ । पश्चिम भी धन कमाता है, पर दया का नाम नहीं । हमारी सभ्यता का आधार धर्म था, पश्चिमी सभ्यता का आधार सधर्म है ।¹⁸ इस तरह पश्चिम का विरोध करते-करते प्रेमचन्द उम तथाकथित पूर्वीय सस्कृति के समर्थक बन जाते हैं और परंपरागत मामती सम्बन्धों को भी उचित मानने लगते हैं । यह उस युग के मध्य-वर्गीय बुद्धिजीवियों की विचार-प्रणाली रही है । प्रेमचन्द इस विचार-प्रणाली से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाये, हालांकि इसमें नकारन वाले तत्त्व उनकी रचनाओं में भी बहुत हैं । उनकी जीवन-दृष्टि का प्रमुख अन्तर्विरोध यही देखन को मिलता है । प्रेमचन्द का विमान उन्हें सामतवाद विरोधी बनाता है और मध्यवर्ग उन्हें सामती सम्बन्धों का (कभी कभी) प्रच्छन्न समर्थक भी बना देता है ।

प्रेमचन्द ने इस पश्चिमी सभ्यता का विरोध इसलिए किया है क्योंकि यह मानव विरोधी है । प्रेमचन्द ने अपने मानव प्रेम के कारण एक ओर जहाँ भारतीय धार्मिक विचार प्रणाली की मानव विरोधी धारणाओं का खडन किया, वहाँ दूसरी ओर पश्चिम की बुद्धिवादी स्वार्थ सेवी सस्कृति का विरोध भी किया । पश्चिमी सभ्यता में जीवन की कल्पना 'संग्राम स्थल' के रूप में की जाती है । प्रेमचन्द सूरदास (रंगभूमि) की तरह जीवन को खेल मानते हैं । जीवन को संग्राम मानने के कारण मनुष्य का जीवन अप्राकृतिक होता जा रहा है । "नाश्ता खड़े खड़े कीजिए, घाना दोड़ते-दोड़ते खाइए मित्रों से मिलने का समय नहीं, फालतू बातें सुनने की फुरतत नहीं । मतलब की बात कहिए साहब चटपट । समय का एक-एक मिनट अशर्फी है, मोती है उस व्यर्थ नहीं खो सकते । यह संग्राम की मनोवृत्ति पश्चिम से आई है और बड़े धग से भारत में फैल रही है ।¹⁹ प्रेमचन्द इसे अस्वाभाविक अप्राकृतिक जीवन का लक्षण मानते हैं । उनके लिए तो जीवन खेल का मैदान है । 'रंगभूमि' का सूरदास इसी आधार पर जीवन जीता है ।²⁰ दयानारायण निगम के बच्चे की अकाल मौत के बाद प्रेमचन्द ने उन्हें 23 अप्रैल 1923 को खत में लिखा " बच्चे की हसरत-नाक मौत एक दिलशिवन हृदसा है और उसे बदरश्त करने का अगर कोई तरीका है तो यही कि दुनिया को एक तमाशागाह या खेल का मैदान समझ लिया जाय । खेल के मैदान में वही ज़रूरत तारीफ का मुस्तहक होता है जो जीत से फूलता नहीं, हार से रोता नहीं, जीते तब भी खेलता है, हारे तब भी खेलता है । जीत के बाद यह काशिश होती है कि हारें नहीं । हार के बाद जीत की आरजू होती है ।"²¹ जीवन को संग्राम मानकर रोने वाले व्यक्तियों को प्रेमचन्द की सलाह है कि "घर से बाहर निकलकर देखिए—मैदान में कितनी मनोहर हरियाली है वृक्षों पर पक्षियों का कितना मीठा गान हो रहा है, नदी में चाँद कैसा थिरक रहा है । क्या इन दृश्यों

पश्चिम है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशकर (अर्थात् प्रेम) भारतीय सस्कृति का समर्थक है, ज्ञानशकर (अर्थात् ज्ञान) पाश्चात्य सस्कृति के अनुसार जीवन जीता है। गाँव पूरब है, शहर पश्चिम है हृदय पूरब है, बुद्धि पश्चिम है। इस तरह प्रेमचन्द ने बड़े पैमाने पर इस पूरब और पश्चिम के सघर्ष को व्यक्त किया है।

प्रेमचन्द चूँकि सहज और प्राकृतिक जीवन के हिमायती थे, इसलिए उन्होंने ब्रह्मचर्य के अप्राकृतिक आदर्श का भी विरोध किया है और गृहस्थ पारिवारिक जीवन की बकालत की है। उस युग में दो तरह के लोग परिवार विराधी थे। एक तो, आधुनिक शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी और दूसरे आदर्शवादी धार्मिक कार्यकर्ता। बुद्धि-जीवियों में गोदान' व 'मेहता और कर्मभूमि' के डा० शान्ति कुमार जैसे लोग हैं। ये एक तरफ तो वैवाहिक जिम्मेदारियों से घबराते हैं दूसरी तरफ विवाह को आत्मा का बंधन मानते हैं और इस तरह भ्रूत जीवन जीना चाहते हैं। धार्मिक नेताओं ने सेवा का एक महान आदर्श उस युग में सामने रखा था। इन्होंने सेवा के लिए ब्रह्मचर्य को अनिवार्य ठहराया। इनके अनुसार सच्ची सेवा करने के लिए मनुष्य का स्वाथपूर्ण पारिवारिक सम्बन्धों में बद्ध नहीं होना चाहिए। प्रेमचन्द ने ऐसे व्यक्तियों के चरित्र के आन्तरिक खोखलेपन को जगह-जगह उद्घाटित किया है। 'त्यागी का प्रेम' में उन्होंने ऐसे सेवाव्रत धारी युवक के नैतिक अधपतन की दास्तान बयान की है। 'कर्मभूमि' की सुखदा परिवार विरोधियों के तर्कों का जवाब देती हुई कहती है 'व्या विवाहित जीवन में सेवा धर्म का पालन असम्भव है? या स्त्री इतनी स्वायत्ति होती है कि आपके कामों में बाधा डाले बिना रह ही नहीं सकती। गृहस्थ जितनी सेवा कर सकता है, उतनी एकान्तजीवी नहीं कर सकता, क्योंकि वह जीवन के कष्टों का अनुभव नहीं कर सकता।' 26

प्रेमचन्द ने परिवार का चित्रण बहुत मन लगाकर किया है। उन्होंने अपने प्रत्येक पात्र का परिचय देते समय उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि का चित्रण अवश्य किया है। मनुष्य के व्यक्तित्व में परिवार की भूमिका निर्णायक होती है। 'दक्करी' कहानी में उन्होंने दिखाया है कि पारिवारिक शान्ति के अभाव में मनुष्य का जीवन कितना कष्टपूर्ण हो जाता है। गृहदाह में उन्होंने बड़ भाव भोने शब्दों में घर' के महत्त्व को रेखांकित किया है

“ घर' कितनी कोमल, पवित्र मनोहर स्मृतियों को जागृत कर देता है। यह प्रेम का निवास स्थान है। प्रेम ने बहुत तपस्या करके यह घरदान पाया है।

यही वह लहर है जो मानव जीवन मात्र को स्थिर रखता है, उसे समुद्र की वेगवती लहरों में बहने और चट्टानों से बचाता है। यही वह मडप है, जो जीवन को समस्त विघ्न बाधाओं से सुरक्षित रखता है।' 27

उन्होंने पारिवारिक सम्बन्धों का चित्रण विस्तार से किया है। माता पिता, बच्चे, भाई बहन, सौतेली माँ, अनाथ बच्चा आदि के पारिवारिक सम्बन्धों को अपने साहित्य में पर्याप्त विस्तार से चित्रित किया है। इसी कारण प्रेमचन्द के नारी-सौन्दर्य की प्रतिमा मातृत्व में ही है। उन्होंने नारी के रमणीय रूप में नहीं बल्कि माँ के रूप में ही सौन्दर्य देखा है। गोदान' की मालती जब तक रमणीय रूप में हमारे सामने आती है,

प्रेमचन्द उस पर व्यंग्य के छीटे बसते रहते हैं, लेकिन जब वह माँ की तरह गोबर के बच्चे की सेवा करती है, रचनाकार उसके सो-दर्प को पूजनीय दृष्टि से उपस्थित करता है। उन्होंने जगह-जगह आधुनिक नारी की घर न बसाने की प्रवृत्ति की आलोचना की है।

‘रंगभूमि’ का बजरंगी एक स्थान पर कहता है, ‘मैं तो उन सबों को पापी समझता हूँ जो अग्नि-पीन करके, इधर का सोदा उधर बेचकर अपना पेट पालते हैं। सच्ची बर्माई उन्हीं की है, जो छाती फाड़कर धरती से धन निवालते हैं।’²⁸ बजरंगी के इस वचनानुसार उत्पादक वर्ग ही सच्ची बर्माई करता है, जो कि किसान है। अन्य वर्गों का अस्तित्व विमानों के अस्तित्व और उनकी दशा पर निर्भर है। प्रेमचन्द ने सामाजिक संगठन का चित्रण करते समय इस बात का बराबर ध्यान रखा है कि किसी वर्ग या व्यक्ति की आर्थिक उत्पादन में क्या भूमिका है? जमींदार, मूदखोरा, मरकारों बर्मचारियों, पुनिंग और अँग्रेज सरकार की राष्ट्रीय उत्पादन में सहायक भूमिका नहीं है। ये सभी उत्पादन बाधाएँ उपस्थित करते हैं। समाज और राष्ट्र की उन्नति के लिए ऐसे अनुत्पादक वर्गों को हटाना जरूरी है। उन्होंने सचेत या अचेत रूप से समाज को उत्पादक और उपभावता—दो खेमों में बाँटकर उपस्थित किया है। उनके माहित्य में उत्पादक वर्ग—किसान ही देशभक्त है और भोगवादी वर्ग देशद्रोही है। धिक्कार’ वहानी में उन्होंने देशद्रोही व्यक्ति के जा लक्षण बताये हैं, वह उपभोक्ता वर्ग के व्यक्ति के ही हैं। ‘जिम घर से रात को गाने की ध्वनि आती हो, जिस घर से दिन को सुगन्ध की लपटें आती हो, जिस पुरुष की आँखों में मद की लाली झलकती हो, वही देशद्रोही है।’²⁹ स्पष्ट है कि ये विशेषताएँ अवमण्य और भोगवादी व्यक्ति की ही हो सकती हैं। ‘शतरंज के खिलाड़ी’ के मीर और मिरजा जैसे लोग इसी तरह की विनासिता में डूबे हुए थे, जिनके कारण अवध का पतन हुआ। परीक्षा’ की वेगमों में नादिरशाह के नादिरशाही हुकम का उल्लंघन करने का साहस इसीलिए नहीं जुट पाया क्योंकि भोगवादी जीवन जीने के कारण उनमें ‘गैरत’ नहीं बच पायी थी। भोगवाद के कारण व्यक्ति में आत्मसम्मान की भावना का लोप हो जाता है और वह परवश होकर पतन के गर्त में गिरता चला जाता है। ऐसे व्यक्ति जिस देश में रहते हैं, उस राष्ट्र का भी पतन हो जाता है। अतः भोगवाद राष्ट्रीय अपराध है।

प्रेमचन्द ने ‘रंगभूमि’ में मि० जानसेवक के कारखाने का विरोध इसलिए भी किया था कि वह भोग की सामग्री (सिगरेट) का उत्पादन करता है। उससे राष्ट्रीय उत्पादन में कोई मदद नहीं मिलती। पण्डित मोटेराम शास्त्री से सम्बन्धित कहानियों में भी प्रेमचन्द ने ब्राह्मणों, पण्डित पुरोहितों की आलाचना इसी आधार पर की है कि ये लोग कुछ कार्य तो करते नहीं, फिर भी स्वादिष्ट भोजन का भोग करना चाहते हैं। अपनी क्षुधा-तृप्ति के लिए ये वद और शास्त्र की दुहाई भी देते रहते हैं। इनका जीवन-आदर्श सिमटकर स्वादिष्ट भोजन की चाली में समाविष्ट हो जाता है, जिसे वह भोजन के साथ ही खा जाते हैं। प्रेमचन्द इन लोगों को राष्ट्र पर बोझ मानते हैं।

जनतन्त्र की धारणा

प्रेमचन्द की राष्ट्रीयता की धारणा का घनिष्ठ सम्बन्ध उनकी जनतांत्रिक दृष्टि से है। उनका देशप्रेम जनतांत्रिक ढंग से देश का नव निर्माण और पुनर्गठन करना चाहता है। उनका साम्राज्यवाद-विरोध सामन्तवाद का भी विरोध करता है और इस तरह 'स्वराज्य' में शोषणहीन सम्बन्धों पर बल देता है। प्रेमचन्द मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर आधारित इस समाज व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहते हैं। औपनिवेशिक समाज व्यवस्था में किसानों का शोषण ही सबसे ज्यादा होता है, अतः उन्होंने प्रमुखतः किसानों के शोषण की प्रक्रिया का वर्णन किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने साम्राज्यवाद और सामन्तवाद दोनों के शोषण की आलोचना की है।

प्रेमचन्द जनता के पक्ष धर लेखक है। इसलिए उन्होंने मानवीय सौन्दर्य का उदार और सघर्षशील व्यक्तियों में ही देखा है। प्रेमचन्द न किसी भी शोषक को 'सुन्दर' रूप नहीं दिया है। उनका बाह्याकार भी आन्तरिक भावा के अनुरूप कुरूप ही बनाया गया है। 'कर्मभूमि' के लाला समरकान्त जब तक सूदघोरी का धन्धा करते हैं, तब तक उनका रूप कुरूप रहता है, लेकिन ज्यों ही वह लगानबन्दी आन्दोलन में हिस्सा लेने लगते हैं त्यों ही एकाएक सुन्दर लगन लगते हैं। 'रगभूमि' की सोफिया या 'गोदान' की धनिया का सौन्दर्य इस कर्मशील जीवन में निहित है। स्वादिष्ट भोजन के बावजूद पण्डित मोटेराम शास्त्री और सठ चेताराम कभी भी सुन्दर नहीं लगते। उनकी उपस्थिति से विरूपता का बोध उत्पन्न होता है।

वर्तमान व्यवस्था में शोषण के कारण धन इकट्ठा होता है और धन शोषण का साधन बनता है। इसलिए प्रेमचन्द ने जगह जगह सम्पत्ति की निन्दा की है। इस समाज में सम्पत्ति मनुष्य को बुरे कर्मों की ओर ल जाती है। विचारवान से विचारवान मनुष्य भी सम्पत्ति पाकर अमानवीय हो जाता है। बूढ़ी काकी का भतीजा या 'पञ्च-परमेश्वर' का जुम्मान श्रेष्ठ, खाला की सम्पत्ति लेकर बदल जाता है। 'कायाकल्प' में चक्रधर जैमा सज्जन सेवा-व्रतधारी और आदर्शवादी नवयुवक भी प्रभुता पाकर इतना बाधला हो जाता है कि बेगार में देरी करने के अपराध में एक किसान को पीट देता है। अहिल्या जैसी युवती सम्पत्ति और राज्य पाकर अपने प्राणप्रिय पति और पुत्र को खो बैठती है। मनोरमा धन के लिए अपने व्यक्तित्व से हाथ धो बैठती है। 'कायाकल्प' की रचना एक तरह से धन व सम्पत्ति के विरोध के लिए ही की गयी है। उदार ठाकुर विशालसिंह राजा बनते ही निरकुश हो जाते हैं इस पर टिप्पणी करते हुए चक्रधर एक बार कहता है 'अगर सम्पत्ति से इतना पतन हो सकता है, तो मैं कहूँगा कि इससे बुरी चीज सत्तार में कोई नहीं।'³⁰

'रगभूमि' के विनय की उदारता भी सम्पत्ति से टकराकर खत्म हो जाती है, कल्पना प्रवण, उद्योगपति पुत्र प्रभु, सेवक भी इसी मद से पाडेपुर में मारपीट कर बैठता है। कुवर भरत सिंह के लिए तो सम्पत्ति अपने पुत्र से भी प्यारी है। मि० गामुली इसीलिए कहता है 'अब आपको विदित हुआ होगा कि हम क्यों सम्पत्ति-शाली पुरुषों पर भरोसा नहीं करता। वे तो अपनी सम्पत्ति का गुलाम हैं। वे कभी सत्य के समर में नहीं आ सकते। जो सिपाही सोने की ईंट गर्दन में बाँधकर लड़ने

चले, वह कभी नहीं लड़ सकता। उसको तो अपने ईंट का चिंता लगा रहेगा।³¹ प्रेमचन्द मानते हैं कि सम्पत्ति का सचय शोषण से ही हो सकता है।³² और मुप्त का माल होने के कारण उससे भोग विलास पनपता है, क्योंकि "मुप्त का माल उड़ाने वालों को ऐयाशी के सिवा और सूझेगा क्या? धन अगर सारी दुनिया का विलास न मोल लेना चाहे तो वह धन ही कैसा।"³³ धन का अस्तित्व ही नहीं, उसके आने की आशंका भी दुर्गुण पैदा कर देती है। लाटरी में इसी कल्पित धन के लिए परिवार के आत्मीय जना में झगडा हो जाता है। इसका कारण यह है कि 'धन का देवता आत्मा का बलिदान पाय बिना प्रसन्न नहीं होता।'³⁴ आत्मा के बलिदान के बाद भोगलिप्सा बढ़ जाती है और "भोगलिप्सा आदमी को स्वार्थान्ध बना देती है।"³⁵ इसीलिए प्रेमचन्द ने शौक-सिगार की निन्दा की है क्योंकि "ऐसे आदमी अपने भोग-विलास में मस्त रहते हैं। किसी के घर में आग लग जाए, उनसे मतलब नहीं। उसका काम तो खाली दूसरों को रिझाना है।"³⁶

प्रेमचन्द ने 1 दिसम्बर 1935 को श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को खत में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं "मैं ऐसे महान आदमी की कल्पना ही नहीं कर सकता जो धन-सम्पत्ति में डूबा हुआ हो। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी देखता हूँ, उसकी कम्पा और ज्ञान की सब बातें मेरे लिए बेकार हो जाती हैं। मुझको ऐसा लगने लगता है कि इस आदमी में वर्तमान समाज व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के शोषण पर आधारित है स्वीकार कर लिया है।"³⁷ इस तरह प्रेमचन्द ने उस सम्पत्ति की निन्दा की है, जो शोषण से संचित की गयी हो और श्रापण का जरिया बनी हुई हो, जो भोग-विलास में नम आती है और इस प्रकार राष्ट्रीय अपव्यय को बढ़ाती हो। प्रेमचन्द व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरोधी नहीं हैं। अपने थप द्वारा संचित सम्पत्ति को प्रेमचन्द अनुचित नहीं मानते। उत्पादक कार्यों में सम्पत्ति की सर्जनात्मक भूमिका को भी वे नहीं नकारते।

प्रेमचन्द की जनतान्त्रिक दृष्टि के दो पहलू हैं—एक नकारात्मक और दूसरा सकारात्मक। एक के अनुसार प्रेमचन्द मनुष्य द्वारा मनुष्य के हर प्रकार के—आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक और मानवीय—शोषण का विरोध करते हैं। समाज में व्याप्त सामाजिक, राजनीतिक असमानता की परम्परागत संस्कृति का विरोध करते हैं। दूसरे के अनुसार वह मानव समाज को 'समानता' के आधार पर पुनर्गठित करना चाहते हैं। एक शोषणहीन समाज की परिकल्पना प्रेमचन्द की 'स्वराज्य' की कल्पना में निहित है। प्रेमचन्द जब स्वराज्य की बात कहते हैं, तब उसका एक तरफ तो भारतीयों द्वारा राज्य करने का अर्थ होता है, दूसरी तरफ प्रत्येक भारतीय के समानाधिकारों से युक्त 'सुराज्य' से भी होता है। वे यह नहीं चाहते थे कि गोरों के मुकाबले काले साहुब आकर राजगद्दी पर बैठ जायें और जनता का उसी तरह शोषण करते रहें, जैसे साम्राज्यवादियों ने किया था। 21 दिसम्बर 1919 को प्रेमचन्द ने निगम साहुब को लिखा कि 'जिस तरह यह जमाअत बकील बनकर रियाया का खून पी रही है उसी तरह आन्दोलन यह हाकिम होकर रियाया का गला काटेगी।'³⁸ ऐसे स्वराज्य के प्रेमचन्द हक में नहीं थे। उनके लिए जनता या रियाया का साक्षर विशाल किशन

जनता होना है। उन्होंने मूल रूप से किसानों के लिए स्वराज्य का समर्थन किया, लेकिन साथ ही यह भी मानते थे किसानों के हित में ही राष्ट्र का हित है। प्रेमचन्द ने वर्गहीन समाज की परिक्ल्पना प्रस्तुत नहीं की थी, बल्कि उन्होंने शोषणहीन समाज का आदर्श सामने रखा था। 'स्वराज्य से किसान अहित होगा' (हस्त, अप्रैल 1930) शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने यह दिखाया है कि स्वराज्य से किसी वर्ग को नुकसान नहीं होगा, बल्कि उसमें तो सभी वर्गों का फायदा है। अगर किसी वर्ग को कुछ सामयिक नुकसान भुगतना भी पड़े, तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

प्रेमचन्द ने समकालीन समाज में समानता के अभाव और उसकी अनिवार्यता को रेखांकित किया है। प्रेमचन्द ने समानता को उसके सम्पूर्ण अर्थ में प्रस्तुत किया है; उसके सिर्फ राजनीतिक और आर्थिक पहलू पर ही दृष्टि केन्द्रित नहीं की है। राजनीतिक रूप से उन्होंने सरकार के अपरिमित अधिकारों की आलोचना की है। 'कर्मभूमि' में डा० शान्ति कुमार कहते हैं "क्या गहरी न्याय है कि एक भाई तो बगले में रहे, दूसरे को झोपड़ा भी नसीब न हो। गरमी बढ़ जाती है, तो तुरन्त आँधी आती है। मानवता हमेशा बुझती नहीं जा सकती। समता जीवन का तत्त्व है। यही एक दशा है, जो समाज को स्थिर रख सकती है।" ³⁹ समाज में कुछ लोगों के पास अधिकार हों, और अन्य लोग अधिकारों से वंचित हों, यह स्थिति न केवल काम्य नहीं है बल्कि सम्भव भी नहीं है। अंग्रेजी सरकार में प्रतिनिधि पग-पग पर भारतीय जनता का अपमान करते हैं, सरकारी कर्मचारी बेगार लेते हैं, जमींदार किसान को पिटाता है, पुलिस कर्मचारी रिश्वत लेता है, पति पत्नी को पीटा है। आखिर समाज में ऐसे दृश्य इसीलिए दिखायी देते हैं कि उनके सम्बन्ध असमानता पर आधारित हैं।

प्रेमचन्द साहित्य में स्थान-स्थान पर राजकीय हिंसा का वर्णन मिलता है। 'कायाकल्प' के राजा विष्णु चमारों को पिटाते हैं, 'कर्मभूमि' के मि० क्लार्क उदयपुर रियासत में जब दोंगों पर जाते हैं, तो गाँव के गाँव उजाड़ देते हैं। सत्याग्रह आन्दोलन में निहत्थों पर गोली चलाने के दृश्य तो बार-बार दिखाये गये हैं। 'गोदान' में रायसाहब उन मजूरों का हण्टर से पीटते हैं जो बेगार के बदले खाना माँगते हैं। 'प्रेमाश्रम' में गौतमी की हत्या के अपराध में झूठ मूठ सारे गाँव को सजा दिलवायी जाती है, जबकि उसकी हत्या अश्लेष मनोहर ने की थी। समाज में कुछ लोग दूसरों पर अत्याचार करते हैं और अत्याचार करने के लिए 'हिंसा' जरूरी है। इस तरह प्रेमचन्द ने वस्तुगत यथार्थ के चित्रण से स्पष्ट किया है कि समानता पर आधारित शोषणहीन समाज में ही अहिंसा पनप सकती है।

प्रेमचन्द ने एक तो समाज में व्याप्त असमानता की आलोचना की, दूसरे उन्होंने उस विचारधारा की भी आलोचना की जो असमानता को ही प्राकृतिक और वैध मानती है। 'गोदान' का होरी आश्वर्य से पूछता है कि "तुम्हारी समझ में हम और वह बराबर है।" इस पर गोवर कहता है, "भगवान ने तो सबको बराबर बनाया है।" ⁴⁰ 'कर्मभूमि' का चौधरी बड़े दुख से कहता है "भगवान ने छोटे-बड़े का भेद क्यों लगा दिया, इसका मरम समझ में नहीं आता। उनके तो सभी लडके हैं। फिर सबको एक आँख से क्यों नहीं देखता।" ⁴¹ प्रेमचन्द ने अपने साहित्य द्वारा

इस वैचारिक प्रभुत्व को तोड़ने का प्रयास किया है और बार-बार इस बात को रेखांकित किया है कि मनुष्य और मनुष्य बराबर है। प्रेमचन्द ने विज्ञानों की चेतना के इस स्तर को भी चित्रित किया है, जिसमें वह असमानता को जायज मानता है।

प्रेमचन्द ने समानता को सामाजिक जीवन में भी लागू किया है। हिन्दू धर्म में कुछ ऐसी परम्पराएँ हैं जो स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध में असमानता के भाव को पोषित करती हैं। प्रेमचन्द ने उन परम्पराओं की तीव्र आलोचना की है और इस तरह नारी-मुक्ति की धारणा का मूलपात किया है। समाज में स्त्री-पुरुष की असमानता बचपन से ही शुरू हो जाती है। लड़के के जन्म पर उत्सव मनाया जाता है, लड़की अभागिनी मानी जाती है, लड़के का ज्यादा अच्छा खाना-पकड़ा मिलता है, उसे लड़की के मुकाबले प्यार भी ज्यादा दिया जाता है। इस समाज में 'सुमाधी' जैसी भाग्यशाली लड़कियाँ बहुत ही कम होती हैं, जिन्हें माता-पिता लड़के के समान पालते-पोसते हैं। पिढदान जैसी कुछ धार्मिक श्रियाएँ भी लड़के द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। यहाँ तक कि लड़के और लड़की के लिये नैतिकता की कसौटी भी अलग होती है। 'उद्धार' में प्रेमचन्द ने लिखा है - "बेटों की कुचरित्रता बलक की बात नहीं समझी जाती। लेकिन बन्ध्या का विवाह तो करना ही पड़ेगा, उससे भागकर कहाँ जाएंगे? अगर विवाह में विलम्ब हुआ और बन्ध्या के पाँव वहीं ऊँचे-नीचे पड़ गए, तो फिर कुटुम्ब की नाक बट गई, वह पतित हो गया, टाट बाहर कर दिया गया।" ⁴² लड़की की शादी करने के लिए पिता को भारी मात्रा में दहेज देना पड़ता है, इसके अभाव में अनमेल विवाह करना पड़ता है। 'निर्मला' उपन्यास में प्रेमचन्द ने इसकी वास्तविक बयान की है। प्रेमचन्द ने एक 'दुखी बाप' को सलाह दी थी— "हमें तो इसका एक ही इलाज नजर है और वह यह है कि लड़कियों को अच्छी शिक्षा दी जाए और उन्हें संसार में अपना रास्ता आप बनाने के लिए छोड़ दिया जाए, उसी तरह जैसा हम अपने लड़का को छोड़ देते हैं। उनको विवाहित देखने का मोह हमें छोड़ देना चाहिए और जैसे युवकों के विषय में हम उनके पथभ्रष्ट हो जाने की परवाह नहीं करते, उसी प्रकार हमें लड़कियों पर भी विश्वास करना चाहिए। तब यदि वह गृहिणी जीवन बसर करना चाहेगी, तो अपनी इच्छानुसार अपना विवाह कर लेगी, अन्यथा अविवाहित रहेगी। और सब ठीक तो यही मुनासिब भी है। हमें कोई अधिकार नहीं है, कि लड़कियों की इच्छा का विरुद्ध केवल रुढ़ियों के गुलाम बनकर, केवल इस भय से कि खानदान की नाक न कट जावे, लड़कियों को किसी न किसी के गले मढ़ दें। हमें विश्वास करना चाहिए कि लड़के अपनी रक्षा कर सकते हैं, तो लड़कियाँ भी अपनी रक्षा कर लेंगी।" ⁴³ निश्चय ही प्रेमचन्द ने ज़रूर करते हुए, मजबूरी में इस तरह की इच्छा व्यक्त की है, जिसमें परिस्थितियों का दबाव है। फिर भी स्त्री-पुरुष की समानता के वह हामी तो थे ही।

स्त्री को स्वतन्त्र मनुष्य न मानकर पुरुष की दासी बना देना प्रेमचन्द की दृष्टि में वर्तमान व्यवस्था का बहुत बड़ा दोष है। इसमें नारी के जनतान्त्रिक अधिकारों का हनन होता है। 'कुसुम' में एक पात्र कहता है - 'स्त्रियों को धर्म और त्याग का पाठ पढ़ा-पढ़ा कर हमने उनके आत्मसम्मान और आत्मविश्वास दोनों

अतः कर दिया। अगर पुरुष स्त्री का माहताज नहीं तो स्त्री भी पुरुष की माहताज क्या है।¹¹ प्रमचंद ने इसलिए परिवार में सुख गति बनाए रखने के लिए भी स्त्री पुरुष के समान अधिकारों की वकालत की है। सुखमय दाम्पत्य की नाव अधिकार साम्य पर ही रखी जा सकती है। इस वषम्य में प्रेम का निर्वाह हो सकता है मुझ तो इसमें सन्देह है।¹²

तत्कालीन भारतीय कानून व नारी विरोधी पक्ष की आलोचना भी प्रमचंद ने घेठा वाली विधवा कहानी में की है। कानून के अनुसार पति के मरने के बाद उसकी संपत्ति पर उसके पुत्रों का अधिकार हो जाता है स्त्री का नहीं। ऐसी स्थितियों में नारी की स्थिति किननी कहण हो जाती है इसे प्रमचंद ने गबन की रतन के जीवन के वर्णन से भी बताया है।

इस तरह प्रमचंद ने समाज के सभी स्तरों पर समानता के सिद्धांत का पालन करने की आवश्यकता पर बल दिया है। उनकी इस धारणा का सम्बन्ध उनके राष्ट्रवाद और जनवाद—दोनों से है। राष्ट्र की नवीन परिकल्पना में इस समानता का केन्द्रीय महत्त्व है। असमानता ही गुनामी है समानता ही स्वाधीनता है। इस समानता में इस तरह मुक्ति की धारणा भी अंतर्निहित है। राष्ट्रीय मुक्ति राष्ट्रों में समानता की भाग करती है और मानवीय मुक्ति मनुष्यों के बीच समान सम्बन्धों की गारंटी देती है। वधनों से जकड़ा हुआ मनुष्य समानता का पालन कैसे कर सकता है। इसलिए मनुष्य को धर्म छुड़िया धन और तन्त्र के वधना से मुक्त किया जाना चाहिये। यह मानव मुक्ति ही उनके साहित्य का उद्देश्य है।

प्रेम की धारणा

उस युग के साहित्य में प्रेम का केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। छायावादी कवियों ने तो प्रकृति और प्रेम को ही वसित ए अधिकतर लिखी। प्रेम उस युग में सामाजिक वधना से मुक्ति का रूप था। प्रेम मनुष्य की मनुष्यता का लक्षण है और उसका प्रमाण भी। स्वयं प्रमचंद भी प्रेम के बड़े भारी पक्षधर थे। नवाबराय से बदलकर उद्वास अपना नाम भी प्रमचंद रखा। प्रेमश्रम में उन्होंने ज्ञान के मुकाबले में प्रेम का पक्ष लिया है। उनके अनुसार बुद्धि और समझ मनुष्य को स्वाहित की ओर ले जाती है जबकि प्रेम मनुष्य में सेवा और आत्मबलिदान के भाव जाग्रत करता है। सच्च प्रेम की एक ऐसी परिकल्पना में प्रमचंद को पूर्ण विश्वास था जिसके उदित होते ही मनुष्य अपनी हित चिन्ता की भावना से ऊपर उठ जाता है और बहो करता है जिसमें प्रिय का हित ही। प्रिय के हित के लिए वह बड़े से बड़ा बलिदान कर सकता है। एक्द्रस की तारा में कुवर निमलका त चौधरी के लिए एक दिन बहो सच्चा प्रेम जाग्रत होता है और वह स्वाथ की भावना से ऊपर उठ जाती है। कुवर साहब भी तारा से प्रेम करते थे। प्रेम प्रेम को पदा करता है इससे मनुष्य मानवीय हो जाता है। प्रेम मनुष्य को क्षुद्रताओं से ऊपर उठाता है।

जिस तरह सच्चा प्रेम मनुष्य में सेवा और आत्मबलिदान के भाव जाग्रत करता है उसी तरह सच्चा प्रेम उसे सेवा और आत्मबलिदान से ही प्राप्त होता है। प्रमचंद के अनुसार शारीरिक स्थापकण से उत्पन्न प्रेम प्रेम नहीं होता बल्कि

‘वासना’ होती है। ऐसा आश्रय अग्राही और चंचल होने के कारण त्याज्य है। प्रेमचन्द की रचनाओं में सच्चे प्रेमी को ही वास्तविक सपनता मिलती है। सती’ में प्रेमचन्द ने रत्नसिंह के मनोभावों का विवरण देते हुए लिखा है “औरों के प्रेम में विलास था, पर रत्नसिंह के प्रेम में त्याग और तप। और लोग मोठी नौद सोते थे, पर रत्नसिंह तारे गिन-गिनकर रात काटता था। और सब अपने दिल में गमझते थे कि चिता मेरी होगी—केवल रत्नसिंह निराश था, और इसलिए किसी से न द्वेष था, न राग। औरों को चिता के सामने चहकते देखकर उसे उनकी वाक्पटुता पर आश्चर्य होता, प्रतिक्षण उसका निराशाघकार और भी घना हो जाता था। कभी-कभी वह अपने बोधेपन पर झुलसा उठता—यो ईश्वर ने उसे उन गुणों से वंचित रखा, जो रमणियों के चित्त को मोहित करते हैं।”⁴⁶ रत्नसिंह की बेचैनी के बावजूद विजय उसी की होती है।

प्रेमचन्द टिकाऊ, स्वस्थ और सामाजिक प्रेम को ही मान्यता देते हैं, उडाऊ, छेलापन, आकर्षण-प्रदर्शन प्रिय प्रेम की आलोचना करते हैं। प्रेमचन्द प्रेम को स्थायी बनाना चाहते हैं और इसका आधार सेवा है। सेवा के द्वारा वंश के हृदय को भी प्रेमिका के हृदय में बदला जा सकता है। सेवा प्रेमचन्द के अनुसार प्रेम का ही नहीं, मानव जीवन का आधार है। समाज सुधार आन्दोलन ‘दया’ पर चल रहा था, जिसमें अहंकार की भावना काम करती है। प्रेमचन्द सेवा पर चल रहे थे, जिसमें आत्मबलिदान की भावना छिपी रहती है। ‘मत्र’ कहानी में प्रेमचन्द न सेवामय प्रेम की महत्ता को स्थापित किया है और उद्धार के दम को निष्फल बताया है। यह प्रेम व्यक्तिगत जीवन से लगाकर राष्ट्रीय प्रेम तक फैला हुआ है। प्रेमचन्द किसानों से इसी तरह का ‘प्रेम’ करते हैं। वे किसानों का ‘उद्धार’ करन की वकालत नहीं करते। किसानों से प्रेमचन्द का रिश्ता इससे ज्यादा गहरा है।

भारतीय किसान और प्रेमचन्द की जीवन-दृष्टि

रूसी आलोचक खापचेवो ने जीवन-मार्थ और जीवन-दृष्टि के द्वा-आत्मक संबंधों को रेखांकित करते हुए लिखा है कि मार्थ के उद्घाटन में लेखक की जीवन-दृष्टि की भूमिका तो होती ही है, लेकिन लेखक की जीवन-दृष्टि के विकास में भी उस जीवन की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है जिसका चित्रण लेखक करता है।⁴⁷ प्रेमचन्द के साहित्य का अध्ययन इस दृष्टि से भी किया जा सकता है। अपनी जीवन-दृष्टि से ही उन्होंने समाज में किसानों के महत्व और उनकी भूमिका को समझा। इसी कारण किसानों के जीवन-मार्थ को उन्होंने अपने साहित्य का विषय बनाया। इसी कारण किसानों ने उनकी जीवन-दृष्टि के विकास में योग भी दिया।

ओपनिवेशिक समाज में सबसे ज्यादा शोषित वर्ग किसान होता है। अतः शोषण का विरोध भी वही सबसे ज्यादा करता है। वह मेहनत की कमाई खाता है, इसलिए हराम की कमाई खाने वाला से घृणा करता है। लेकिन (जब तक) वह असमर्थ और असंगठित होता है, इसलिए उसकी घृणा मुखर नहीं हो पाती और वह विनयशीलता के आवरण में दबी हुई रहती है। प्रेमचन्द ने इस आवरण को हटा

दिया और इस तरह करोड़ों करोड़ मूक भारतीय किसानों की भावनाओं को बाणी दी तथा समाज के शोषकों के प्रति किसानों की इस घृणा को प्रकट कर दिया। प्रेमचन्द के साहित्य से भारतीय किसान अपना शोषण का ज्यादा अच्छी तरह से पहचान सकता है और उनके शोषण के हथकड़ों का जानकर उनसे वचन के उपाय भी ढूँढ़ सकता है। प्रेमचन्द साहित्य से आज का किसान अपने अतीत को हाँव कर देख सकता है। इतना सजीव और जीवन्त रूप में प्रेमचन्द ने भारतीय किसानों को साहित्य में उपस्थित किया है। किसानों के प्रति दयाभाव तो अब तक अन्य अनेक रचनाकारों ने व्यक्त किया है, लेकिन उनका प्रतिनिधि बनकर बोलने वाले हिंदी के पहले रचनाकार प्रेमचन्द ही हुए। इसलिए भारतीय किसान और ग्राम्य जीवन के प्रति उनमें न तो पूजाभाव है और न दयाभाव। उन्होंने न केवल साहित्य जगत में किसानों का मानवीय रूप में प्रवेश कराया, बल्कि किसानों की आँखों से इस दुनिया को देखा और जिन दृश्यों को किसान अब तो नहीं देख पाए थे उन दृश्यों को भी उन्हें दिखाया। पक्षधर लेखक की भाँति उन्होंने किसानों की शक्ति और सीमा—दोनों को पहचाना। उन्होंने भारतीय समाज में किसान की स्थिति, अन्य वर्गों से उसके संबंध, उसका शोषण, उसकी पीड़ा, उसके सपने और उसके महत्त्व पर अपनी रचनाओं में प्रकाश डाला।

प्रेमचन्द किसानों के पक्षधर रचनाकार हैं, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रेमचन्द का चितन और उनकी जीवन दृष्टि भी किसानों की दृष्टि तक ही सीमित और सन्तुष्ट है। किसान दृष्टि के प्रति प्रेमचन्द की दृष्टि तीन तरह की है। प्रेमचन्द किसानों की दृष्टि के एक पक्ष का विरोध करते हैं और उसकी आलोचना करते हैं उनकी दृष्टि के एक पक्ष का तो विराध करते हैं और न उसे अपनाते ही हैं बल्कि उस सहानुभूतिपूर्वक उपस्थित करते हैं और अपने लिए उचित दूरी बनाए रखते हैं, इसके अलावा किसानों की दृष्टि के एक पक्ष को प्रेमचन्द अपनी दृष्टि में समाहित कर लेते हैं और इस स्थान पर प्रेमचन्द किसान-दृष्टि को अपनाते हैं।

भारतीय किसान अपनी सामाजिक स्थिति, परंपराओं और रुढ़ियों से जकड़ा हुआ है, इसलिए उसके दृष्टिकोण में भी पिछड़ापन है। इसी कारण वह 'असमानता की परंपरागत संस्कृति' को वैध और उचित मानता है। ईश्वर के अस्तित्व और उसकी दयालुता में किसानों की आस्था है और अपनी पीड़ा को अपना भाग्य मानकर वह सतोष भी कर लेता है। इसी तरह अपने चतनागत भ्रमों के कारण वह उन व्यक्तियों को भी अपना मित्र मानता रहता है, जो उसका शोषण करते हैं। वह प्राकृतिक पीड़ाओं और मृत्यु से इतना डरा हुआ और असुरक्षित महसूस करता रहता है, जिसके कारण वह हर नवीन परिवर्तन का विरोध करता है। प्रेमचन्द बहुत ही सहानुभूति से किसानों के इस मानसिक पिछड़ेपन का चित्रण करते हैं और इसके साथ ही उन वर्गों और लोगों की आलोचना करते हैं जो एक तो किसानों की इस हालत के लिए जिम्मेदार हैं और दूसरे, जो किसानों की इस स्थिति से फायदा उठाते हैं। प्रेमचन्द किसानों के इस भाग्यवादी दृष्टिकोण की आलोचना करते हैं और उन्हें इन विचारों को त्याग देने की आत्मीय सलाह देते हैं। प्रेमचन्द न उन बुद्धिजीवियों की

आलोचना की है जो किसान को निरक्षर होने के कारण मूर्ख-भेंवार मानते हैं। 26 जनवरी 1934 को 'निरक्षरता की दुहाई' शीर्षक टिप्पणी में प्रेमचन्द ने लिखा

'हमारे किसानों की निरक्षरता की दुहाई देना एवं फैशन-सा हो गया है, लेकिन किसान निरक्षर होकर भी बहुत से साक्षर से ज्यादा चतुर है। साक्षरता अच्छी चीज है और उसमें जीवन की कुछ समस्याएँ हल हो जाती हैं, लेकिन यह समझना कि किसान निरा मूर्ख है, उसके साथ अन्याय करना है। वह परोपकारी है, त्यागी है, परिश्रमी है, किरायाती है, दूरदर्शी है, हिम्मत का पूरा है नोयत का साफ है, दिल का दयालु है, बात का सच्चा है, धर्मात्मा है, नशा नहीं करता, और क्या चाहिए। कितने साक्षर हैं, जिनमें ये गुण पाये जाएँ। हमारा तजरबा तो यह है कि साक्षर होकर आदमी बाइयाँ, बदनीयत, कानूनी और आलसी हो जाता है। किसान इसलिए तबाह नहीं है, कि वह साक्षर नहीं है, बल्कि इसलिए कि जिन दशाओं में उसे जीवन का निर्वाह करना पड़ता है, उनमें बड़े से बड़ा विद्वान भी सफल नहीं हो सकता।' 48

इस तरह प्रेमचन्द सामान्यतः किसानों का पक्ष ही लेते हैं, लेकिन 'गोदान' में धनिया जब होरी की आलोचना करती है, तो लगता है कि रचनाकार खूद भी बोल रहा है। किसान का भाग्यवाद प्रेमचन्द के अनुसार किसान का उतना ही बड़ा दुश्मन है, जितनी अंग्रेजी सरकार। इस स्तर पर कहा जा सकता है कि किसान के इस पक्ष की आलोचना में भी किसान की हित-चिन्ता निहित है और इस तरह से अपनी द्वारा की गई अपने लोगों की आलोचना है।

इसके अलावा प्रेमचन्द किसानों की दृष्टि को इस तरह भी उपस्थित करते हैं, जो किसानों के लिए अच्छे जीवन की परिकल्पना के रूप में उपस्थित होती है। प्रेमचन्द किसानों के अच्छे जीवन की इस परिकल्पना को सम्पूर्ण समाज के लिए तो नहीं, लेकिन किसानों के लिए उचित मानते हैं। इसमें किसानों की वे छोटी-छोटी आकांक्षाएँ आती हैं, जो जीवन-भर पूरी नहीं हो पाती। होरी की गाय लेने की इच्छा एक ऐसी ही इच्छा है जो अधम परिश्रम के बावजूद पूरी नहीं हो पाती। ऐसी अपूर्ण इच्छाओं का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द ने यह दिखाया है कि किसानों के शोषण की मात्रा कितनी अधिक है। वह होरी, जो जीवन भर गाय लेने की इच्छापूर्ति के लिए सघर्ष करता रहा, जब मरता है तो पड़ित दातादीन गोदान की आवश्यकता समझाते हैं। आखिर किसान क्या चाहते हैं, स्वयं किसान (गोदान) में कहते हैं - "हम राज नहीं चाहते, भोग बिलास नहीं चाहते, खानो मोटा-मोटा पहनना और मोटा-झोटा खाना और मरजाद के साथ रहना चाहते हैं।" 49

मरजाद के साथ रहने के लिए किसान, किसान के ही रूप में रहना चाहता है, खेत-मजूर बनना वह अपना अपमान समझता है। वह अपने खेतों की रक्षा के लिए ही सघर्ष करता रहता है। 'बलिदान' का गिरधर खेत छूट जाने के बाद मर जाता है क्योंकि 'इतने दिनों तक स्वाधीनता और सम्मान का सुख भोगने के बाद अधम चाकरी की शरण लेने के बदले वह मर जाना अच्छा समझता था।' 50 'गोदान' का होरी अपने तीन बीघे खेतों के लिए क्या नहीं करता? बर्ज लेता है, भाइयों के रूप में मारता है, झूठ बोलता है, यहाँ तक कि अपनी बेटी भी बेचता है। फिर भी

उसकी द्वार म गौरव, उसकी अनैतिकता म भी भव्यता दिखायी देती है—क्योंकि रचनाकार की नजर मे उसके दोष उसकी मजबूरियाँ है । किसान सेता की रक्षा के लिए अथवा परिश्रम इसीलिए करता है क्योंकि 'कृषि प्रधान देश म सेती केवल जीविका का साधन नहीं है सम्मान की वस्तु भी है । गृहस्थ बहलाना गर्व की बात है । किसान गृहस्थी म अपना सर्वस्व छोकर विदेश जाता है, वहाँ स घन कमाकर लाता है और फिर गृहस्थी करता है । मान प्रतिष्ठा का मोह औरों की भाँति उसे घेरे रहता है । वह गृहस्थ रहकर जीना और गृहस्थी ही म मरना भी चाहता है । उसका घाल घाल बज से बधा हो, नकिन द्वार पर दो चार बैल बाँधकर वह अपन को धन्य समझता है । उसे साल म 360 दिन आधे पेट खाकर रहना पड़े, पुआल म घुसकर रातें काटनी पड़ें, बेबसी से जीना और बेबसी से मरना पड़े कोई चिंता नहीं, वह गृहस्थी ता है । यह गर्व उसकी सारी दुर्गति की पुरोती कर देता है ।' 51

प्रेमचन्द किसान के छोटे-मोटे स्वार्थ को जायज मानते हैं क्योंकि इसके लिए परिस्थितियाँ उसे मजबूर करती हैं । खेती के अलावा किसान सयुक्त परिवार म रहना चाहता है । वह कष्ट सहकर भी सयुक्त परिवार के रिश्तों को मानता है । फिर सयुक्त परिवार टूट जाने क बाद भी किसान की चेतना सयुक्त परिवार को मानती रहती है । प्रेमचन्द ने किसान-पात्रों के उस दर्द को बहुत सहानुभूति से चित्रित किया है, जा उन्हें सयुक्त परिवार के टूट जान के बाद होता है ।

वास्तव म किसान की दृष्टि के निर्माण म उन परिस्थितियों का योग भी बहुत ज्यादा होता है, जिसम उन्हें जीवन जीना पड़ता है । रोबर्ट रेडफील्ड न किसान-दृष्टि पर विचार करते हुए लिखा है कि किसान का जमीन से आत्मीय लगाव होता है, उसके अनुसार व्यापार की तुलना म खेती करना ज्यादा अच्छा है और उत्पादन कर्म पुण्य कर्म है । 52 जमीन के इस गहरे लगाव का कारण किसानों की असुरक्षा की भावना है । इसी असुरक्षा से उबरने के लिए जमीन पर स्थायी अधिकार करना चाहता है । प्रेमचन्द की रचनाओं म खेती के प्रति इस लगाव और उत्पादन के महत्त्व पर जो बल दिया गया है उसका विश्लेषण तो किया जा चुका है । 'रगभूमि' का सूरदास मानता है—'भाई, खेती सबसे उत्तम है, बान उससे मध्यम है, बस, इतना ही फरक है ।' 53 खेती को उत्तम मानने के कारण ही प्रेमचन्द समाज म किसान को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं । 'हठभागे किसान' (19 दिसम्बर 1932) टिप्पणी म उन्होंने लिखा "राष्ट्र के हाथ म जो कुछ विभूति है वह इ ही किसानों और मजदूरों की महनत का सदा है । हमारा स्कूल और विद्यालय, हमारी पुलिस और फौज, हमारी अदालतें और कचहरियाँ, सब उन्हीं की कमायी के बल पर चलती हैं, लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और वस्त्रदाता है, भरपेट अन्न को तरसते हैं, जाड़े पाले म ठिठुरते हैं और मखियों की तरह मरते हैं ।' 54 इसके अलावा शहर क प्रति जो दृष्टि प्रेमचन्द म है उसम भी किसान दृष्टि की भूमिका है । किसानों म शहर क प्रति जो सन्देह मिश्रित सराहना का भाव मिलता है 55 प्रेमचन्द की रचनाओं म भी शहर इसी रूप म आता है । विशेष रूप से 'रगभूमि' म शहर और गाँव इसी रूप म आये हैं । इसके अलावा किसान परिश्रमी होता है और यह चाहता है कि उसका पुत्र भी

खूब परिश्रमी हो। परिश्रम से ही उसका जीवन यापन हो पायेगा और उसी से उसे सम्मान मिलेगा। 'सुजान भगत' और होरी दोनों को अपने पुत्रों की काम न करने की प्रवृत्ति की कभी कभी चिंता होती है। कर्म के प्रति प्रेमचन्द न जो दृष्टि अपनायी है, उसमें किसानों का हाथ है। 'शतरज के खिलाड़ी' या फिर मोटेराम शास्त्री जैसे निठल्ले व्यक्तियों की प्रेमचन्द आलोचना करते हैं।

किसान बहुत ही यथार्थवादी और व्यावहारिक व्यक्ति होता है। उस वर्तमान काल की समस्याओं से इतना जूझना पड़ता है कि वह बहुत दिनों तक न तो अतीत-जीवी हो सकता है और न भविष्य की कल्पना में मग्न रह सकता है। बेटी का धन का सुख चौधरी एव ही एहसान से इतना द्रव्य गया कि जिस झगड़ साहू को व जन्म-भर बुरा-भला कहते रहे थे, सब भूल गया। होरी भी इसी तरह का भुलकरूट किसान है। प्रेमचन्द की रचनाओं का यथार्थवाद भारतीय किसान का यथार्थवाद है। प्रेमचन्द का मन अतीत की घटनाओं में रमता नहीं था। इसलिए उन्होंने प्रसाद की 'गड़े मुँदें उछाड़ने' के लिए आलोचना की और जब उन्होंने समकालीन जीवन पर साहित्य लिखा तो प्रेमचन्द ने उन्हाह में उन्हें यथाई दी। पटना म्यूजियम देखते हुए उन्होंने केसरी किशोर शरण से कहा—'हजार बप पहले की मिट्टी में गड़ी हुई चीजा से हमें क्या लाभ? हम तो वर्तमान की रक्षा का प्रश्न हल करना चाहिए।' ⁵⁶ इसी तरह उन्होंने दुखवादियों की भविष्य चिंता की भत्सना करते हुए 'दुखी जीवन' नामक टिप्पणी में लिखा 'भविष्य की चिन्ता दुख का कारण है नहीं, प्रधान कारण है। कल कही चल उसे तो क्या होगा। घर का कुछ भी इतना न कर सके। मकान न बनवा सके। पोते का विवाह भी न देखा। इधर हमने आँखें बन्द की और उधर सारी गृहस्थी तीन-नेरह हुई। लडका उड़ाऊ है, पैस की कद्र नहीं करता, न जमाने का रख देखता है। इस चिन्ता में अक्सर रात को नींद नहीं आती, जिसका स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है।' ⁵⁷ प्रेमचन्द ने ऐसे लोगों को सलाह दी है कि भविष्य की चिन्ता छोड़ो। 'गोदान' के मेहता साहय कहते हैं 'मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता। मेरे लिए वर्तमान ही सब कुछ है। भविष्य की चिन्ता हम कायर बना देती है भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हममें जीवन की शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाती है।' ⁵⁸ इसीलिए प्रेमचन्द ने वर्तमानकाल की समस्याओं पर ही अपने साहित्य का एक बड़ा भाग लिखा है लेकिन उनके पास भविष्य की एक कल्पना (स्वराज्य के रूप में) और अतीत का बोध (समकालीन अंध पतन के वारणा के रूप में) भी रहा है।

मशेष में प्रेमचन्द की जीवन दृष्टि के बारे में कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि राष्ट्रीय, उनके मूल्य जनताधिक और उनका दर्शन भौतिकवादी है तथा इसके साथ ही वे किसानों के पक्षधर बुद्धिजीवी हैं। वे उस किसान के पक्षधर हैं जिसके पास पाँच छ बीघा जमीन है, जीविका चलाने के लिए उस मजदूरी भी करनी पड़ती है, उस पर श्रृण का बोझ है, और अंततः उसे मजदूर बन जाना है। इस वर्ग की अस्मिता-रक्षा के लिए स्वराज्य की जरूरत है, जनतंत्र का महत्त्व है।

संदर्भ

- 1 साहित्य का उद्देश्य, पृ० 26
- 2 नयी कविता का आत्मसमर्पण तथा अन्य निबंध, पृ० 3, विश्वभारती प्रकाशन, धनवटे चेम्बर्स, नागपुर, प्रथम संस्करण, 1964
- 3 'The Writer's Creative Individuality and the Development of Literature' pp 40 by M Khrapchenko Progress Publishers, Moscow, USSR, First Printing 1977, translated into English
- 4 चिट्ठी पत्री, भाग 1, पृ० 93
- 5 उदाहरण के लिए 'सोवियत रूस की उन्नति' (28 नवम्बर 1932) और 'रूस में समाचार पत्रों की उन्नति' (30 अक्टूबर 1933) शीर्षक 'जागरण' की टिप्पणियों को देखा जा सकता है। 'विविध प्रसंग' भाग-2, म ये सगूहीत हैं।
- 6 "मनोहर भी धत्री है, उसने वही किया है जो खनी करते हैं। वह वीर आत्मा था। इस मन्दिर में अब उसकी समाधि बनेगी और उसकी पूजा होगी। इसमें अभी किसी देवता की स्थापना नहीं हुई है, अब उसी वीर मूर्ति की स्थापना होगी। उसने गाँव की लाज रख ली स्त्री की मरजाद रख ली।" 'प्रेमाश्रम', पृ० 260
7. 'विविध प्रसंग', भाग-2, पृ० 258
8. प्रेमचन्द स्मृति, पृ० 86
9. 'विविध प्रसंग', भाग-2, पृ० 233
- 10 प्रेमाश्रम, पृ० 87
- 11 सरस्वती, भाग-30 खण्ड 1 सख्या-2, पृ० 138
- 12 कर्मभूमि, पृ० 228
- 13 विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 262
14. हम, अप्रैल 1930 में 'स्वराज्य से किसका अहित होगा' शीर्षक टिप्पणी। 'विविध प्रसंग', भाग 2, पृ० 42
- 15 'पश्चिम वालों को शक्तिशाली देखकर हम इस भ्रम में पड़ गये हैं, कि हम में सिर से पाँव तक दोष ही दोष हैं, और उनमें सिर से पाँव तक गुण ही गुण। इस अधभक्ति में हमें उनके दोष भी गुण मालूम होते हैं और अपने गुण भी दोष।" 'हम' जनवरी 1931 में 'मानसिक पराधीनता' शीर्षक टिप्पणी। 'विविध प्रसंग', भाग-3, पृ० 189

- 16 विविध प्रसंग भाग 2 पृ० 420
- 17 वही पृ० 366
- 18 विविध प्रसंग भाग 3 पृ० 193—प्रमचन्द ने दीक्षा कहानी में भी पूव और पश्चिम का अंतर बताया है। स्वाय सेवा अंग्रेजी शिक्षा का प्राण है। पूव सतान के लिए यश के लिए धर्म के लिए मरता है पश्चिम अपने लिए। पूव में घर का स्वामी सबका सेवक होता है वह सबसे ज्यादा काम करता दूसरों को खिलाकर खाता दूसरों को पहनाकर पहनता है किंतु पश्चिम में वह सबसे अच्छा खाना अच्छा पहनना अपना अधिकार समझता है। यहाँ परिवार सर्वोपरि है वहाँ व्यक्ति सर्वोपरि है। मानसरोवर भाग 3 पृ० 187 1 ९
- 19 विविध प्रसंग भाग 3 पृ० 87
- 20 हानि नाश जीवन मरण जस अवजस विधि के हाथ है हम तो खाली मदान में गेलन के लिए बनाए गए हैं। सभी खिलाड़ी मन लगाकर खेलते हैं सभी चाहते हैं कि हमारी जीत हो न किन जीत एक ही की होती है तो क्या इसमें हारने वाले हिम्मत हार जाते हैं? वे फिर खेलते हैं फिर हार जाते हैं तो फिर खेलते हैं। कभी न कभी तो उनकी जीत होती ही है। — रंगभूमि पृ० 543
- 21 चिट्ठी पत्री भाग 1 पृ० 133
- 22 विविध प्रसंग भाग 3 पृ० 87
- 23 चान् दिसेम्बर 1926 के गन्पाक का प्रस्ताव — विविध प्रसंग भाग 3, पृ० 46
- 24 गोदान पृ० 166
- 25 मानसरोवर भाग 7 पृ० 217
- 26 रंगभूमि पृ० 231
- 27 मानसरोवर भाग 6 पृ० 182
- 28 रंगभूमि पृ० 23
- 29 मानसरोवर भाग 3 पृ० 144
- 30 वायाकल्प पृ० 117
- 31 रंगभूमि पृ० 582
- 32 प्ररणा में एक पात्र कहता है आप सीढ़ियाँ पर पाँच ग्यारह और छत की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकते। सम्पत्ति की अट्टालिका तब पहुँचेंगे जब दूरी की जिदगी ही जीनों का काम देती है। — मानसरोवर भाग 4 पृ० 12
- 33 मानसरोवर भाग 2 पृ० 237
- 34 रंगभूमि पृ० 57
- 35 मानसरोवर भाग 2 पृ० 246
- 36 मानसरोवर भाग 1 पृ० 191
- 37 चिट्ठी पत्री भाग 2 पृ० 92

- 38 चिट्ठी-पत्री, भाग-1, पृ० 93
39. कर्मभूमि, पृ० 383
- 40 गोदान, पृ० 18
- 41 कर्मभूमि, पृ० 153
- 42 मानसरोवर, भाग-3 पृ० 38
43. विविध प्रसंग, भाग-3, पृ० 260
- 44 मानसरोवर, भाग-2 पृ० 13
- 45 मानसरोवर भाग-2, पृ० 18—इसी तरह 'शान्ति' की गोपा भी कहती है—
'स्त्री पुरुष में विवाह की पहली शर्त यह है कि दोनों सोलहो आने एक दूसरे
के हो जाएँ।'—'मानसरोवर', भाग-1, पृ० 108
- 46 मानसरोवर, भाग ५, पृ० 76
- 47 'The Writer's Creative Individuality and the Development of
Literature', pp 18
- 48 विविध प्रसंग, भाग 2, पृ० 07
- 49 गोदान, पृ० 153
- 50 मानसरोवर, भाग 8, पृ० 72
- 51 कर्मभूमि, पृ० 2६9
- 52 'Peasant Society and Culture', pp 112. by Robert Redfield
The University of Chicago Press, Chicago & London, Fifth
Printing, 1969
- 53 रंगभूमि, पृ० 24
54. विविध प्रसंग भाग 2, पृ० 486
- 55 'Peasant Society and Culture', pp. 140
- 56 प्रेमचन्द स्मृति, पृ० 49
- 57 विविध प्रसंग, भाग 3 पृ० 88
- 58 गोदान, पृ० 166

उपसंहार

प्रेमचन्द-साहित्य में भारतीय किसान की सश्लिष्ट प्रतिमा

प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में भारतीय किसान का व्यापक और सश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। उन्होंने भारतीय किसान की इतिहास निरपेक्ष तस्वीर पेश करने का प्रयास नहीं किया है। इसलिए उनके साहित्य से भारतीय किसान की शाश्वत तस्वीर निकालना निरर्थक ही होगा। उन्होंने अपने साहित्य में समकालीन किसान की तस्वीर पेश की है। समकालीन किसान का प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तुत तस्वीर कितनी पूर्ण है, इसी बिन्दु पर विचार किया जा सकता है। उन्होंने उन सब स्थितियों-परिस्थितियों का वर्णन अपने साहित्य में विस्तार से किया है, जिनमें भारतीय किसान को जीवन बसर करना पड़ रहा है। उन परिस्थितियों से सघर्ष करता हुआ, टूटता हुआ, समझौता करता हुआ परिस्थितियों को तोड़ता हुआ और नयी परिस्थितियों का निर्माण करता हुआ भारतीय किसान का 'व्यक्तित्व' प्रेमचन्द की रचनाओं में उभर कर आता है।

इस सन्दर्भ में एक बात दृष्टव्य है कि प्रेमचन्द के साहित्य में सम्पूर्ण भारतीय किसान का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित नहीं हुआ है। भारत सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इतना विशाल देश है, उसमें किसानों की भी इतनी श्रेणियाँ हैं, कि उन्हें किसी एक चरित्र में समेटना असम्भव है। कश्मीर से बग्याकुमारी तक के भारतीय किसान की तस्वीरों की जो भिन्नताएँ और विशिष्टताएँ हैं उन्हें अपने साहित्य में रचनाकार ने समेटने का मोह भी नहीं किया है। यद्यपि उस युग में सम्पूर्ण भारत अंग्रेजों के अधीन था और इस रूप में भारतीय किसान एक ही औपनिवेशिक राज्य सत्ता के विरुद्ध सघर्ष कर रहा था, फिर भी उनमें कुछ भिन्नताएँ थीं। भारत के कुछ प्रान्त देशी राजाओं के अधीन थे। अंग्रेजी भारत में भी इस्तमरारी और रैयतवारी दो अलग-अलग भूमि-व्यवस्थाएँ विद्यमान थीं। इनमें भी कुछ क्षेत्रीय भिन्नताएँ रही हैं। प्रेमचन्द की रचनाओं में उन किसानों का वर्णन है, जो इस्तमरारी बन्दोबस्त के अन्दर जीवन व्यतीत कर रहे थे। प्रेमचन्द के किसान-पात्रों का संघर्ष और उनकी पीड़ा के मूल में कहीं न कहीं इस्तमरारी बन्दोबस्त रहा है। भौगोलिक दृष्टि से भी प्रेमचन्द ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसानों को अपने साहित्य में उपस्थित किया है। इनमें अवध, फैजाबाद, प्रतापगढ़, रायबरेली, इलाहाबाद, बनारस, गोरखपुर लखनऊ, बाँदा के आसपास के किसान शामिल हैं, जहाँ स्वयं प्रेमचन्द रहे भी हैं। चूँकि इन स्थानों पर अधिकतर

हिन्दू किसान ही रहते हैं, अतः सस्वारो की दृष्टि से प्रतिनिधि भारतीय किसान का सज्जन बनते हुए प्रेमचन्द ने हिन्दू किसानों को ही इसके लिए चुना है। हालांकि कादिर और जुम्मा श्रेष्ठ जैसे मुस्लिम चरित्र भी उनके साहित्य में आते हैं, लेकिन समाज की तरह उनके साहित्य में भी ये अल्पसंख्यक ही हैं। इस तरह प्रेमचन्द ने किसानों की आध्यात्मिक विचार प्रणाली का संकेत करते हुए उन्हें हिन्दू सांस्कृतिक परम्परा के भीतर रखा है। इस तरह प्रेमचन्द ने भारतीय किसान के प्रतिनिधि चरित्र सीमित क्षेत्र के निवासी हैं—उन्हें सम्पूर्ण भारतीय किसानों का सम्पूर्ण प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता।

इसके अलावा उस युग के किसानों में भी अनेक स्तर मिलते हैं। हालांकि उन्होंने (पूर्वी उत्तर प्रदेश के) उन सभी स्तरों का चित्रण किया है, फिर भी किसानों के बीच पनप रही इस भिन्नता का किसी पात्र में समेटना बहुत कठिन कार्य होता है अतः इस सन्दर्भ में भी प्रेमचन्द ने रचनात्मक चुनाव का रास्ता ही अपनाया है। भारत की जाति व्यवस्था भारतीय किसानों की एकता में बहुत बड़ी बाधा है। प्रेमचन्द ऐसे राष्ट्रीय रचनाकार हैं जिन्होंने किसानों की इस जातिवादी भिन्नता के बीच जा एकता दिखाई देती है उसी को रेखांकित किया है। प्रेमचन्द का पात्र जब पाठकों के सामने आते हैं तो पाठकों के मन में उनकी जाति की जिज्ञासा पैदा नहीं होती और न ही प्रेमचन्द अनिवार्य रूप से इस बताते ही हैं। अर्थ व्यवस्था के कारण किसानों के व्यक्तित्व का जो रूप बनता है, उसी को प्रेमचन्द चित्रित करते हैं।

मोटे तौर पर उस युग में तीन तरह के किसान थे। कुछ ऐसे लोग थे, जिनके पास जमीन जोतने का अधिकार तो था, लेकिन वे उस पर स्वयं खेती नहीं करते थे। 'गोदान' के पण्डित दातादीन ऐसे ही किसान थे। ये खेती के अलावा यजमानी और लेन-देन का घंटा भी करते थे। अधिकतर ब्राह्मण जाति के किसान स्वयं हल नहीं चलाते। प्रेमचन्द ऐसे व्यक्तियों को किसान नहीं मानते। दूसरी श्रेणी उन किसानों की रही है जिनके पास जमीन जोतने का अधिकार नहीं होता। ये दूसरों के खेतों पर काम करते हैं। ऐसे खेतिहर मजदूर अधिकतर नीची समझी जाने वाली जातियों के लोग होते हैं। प्रेमचन्द ने दिखाया है कि आर्थिक दबावों से पीड़ित होकर किसान खेत मजदूर बन रहे हैं। पूस की रात का हल्का बलिदान में गिरधारी का बेटा और गोदान में स्वयं होरी अंत में खेत मजदूर बनने पर मजबूर हो जाता है। ग्रामीण समाज में खेत मजदूरों की स्थिति और उनकी समस्याओं का चित्रण प्रेमचन्द ने किया है, फिर भी इनके चित्रण में प्रेमचन्द ने ज्यादा रुचि नहीं दिखायी है और इस तरह इन लोगों को भी प्रेमचन्द 'किसान' नहीं मानते। इसके अलावा कुछ ऐसे लोग भी गांवों में रहते हैं, जिनके पास जमीन जोतने का अधिकार भी होता है और ये स्वयं अपने खेतों में काम करते हैं और जमीन की लगान देते हैं। प्रेमचन्द इन्हें ही वास्तविक किसान मानकर इनकी समस्याओं का चित्रण करते हैं। ऐसे लोग अपनी जमीन को बचाने के लिए जो संघर्ष करते हैं, उसे प्रेमचन्द ने बहुत सहानुभूति से उपस्थित किया है। ऐसे लोग अधिकतर मध्यम श्रेणी की जातियों के होते हैं। होरी, मनोहर, कादिर, गिरधारी, अलगू चौधरी, शीगूर जैसे पात्र ही किसान पात्र हैं। जब

किमान कहा जाता है, तब अधिकतर प्रेमचन्द का तात्पर्य इन्हीं लोगो से होता है। प्रेमचन्द इसी वर्ग के पक्षधर रचनाकार है। वे किसान को किसान के रूप में ही देखना चाहते हैं और इसी वर्ग में रहते हुए इनकी दशा सुधारन का प्रयास करते हैं। और इसी वर्ग के रूप में उन्हें सामाजिक महत्त्व और प्रतिष्ठा दिलाना चाहते हैं। इन किसानों के मजदूर बन जाने में वह उनका पतन देखते हैं। इसी कारण कष्टों के बावजूद किसान को जो किसान बने रहने की जिदनुमा आकांक्षा होती है, प्रेमचन्द उसे बहुत महत्त्व देते हैं। यह किसान की (एक वर्ग के रूप में) अस्तित्व-रक्षा का गवात है। यह उन परिस्थितियों के खिलाफ खड़ा होता है और किमान ही बना रहने में अपनी मर्यादा देखता है। इस मर्यादा-रक्षा के लिए किसान जो 'पाप' करता है, प्रेमचन्द उसे क्षम्य समझते हैं। यही कारण है कि होरी की अनैतिकता में भी नैतिक गौरव छिपा दिखायी देता है।

प्रेमचन्द ने एक तरफ जहाँ उन परिस्थितियों का चित्रण किया है, जिनमें भारतीय किसान को जीवन बसर करना पड़ रहा है, वहीं उन्होंने उन स्थितियों के बीच जीवन-यापन करते हुए मानवीय चरित्र के रूप में किसान चरित्र को भी परिभाषित किया है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि पात्र और परिस्थितियों के बीच क्या और कैसा सम्बन्ध होता है? पात्र (मनुष्य) परिस्थितियों का निर्माता है या परिस्थितियाँ ही पात्रों का सर्जन करती हैं। भाववादी रचनाकार मानवीय चेतना को परिस्थितियों से ऊपर मानते हैं और इस तरह चेतना को परिस्थितियों में परिवर्तन में सक्षम मानते हैं। दूसरी तरफ कुछ ऐसे रचनाकार भी होते हैं जो मनुष्य को परिस्थितियों का दास मानते हैं, वह वही करता है जो परिस्थितियाँ अनुमति दें। इस तरह दोनों तरह के रचनाकार पात्र और परिस्थितियों के सम्बन्धों की सरल व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

भाववादियों के अनुसार मनुष्य की चेतना ही सर्जक है निश्चयवादियों के अनुसार मनुष्य भोक्ता है। प्रेमचन्द के साहित्य में पात्र और परिस्थितियों के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध अभिव्यक्त हुए हैं। पात्र और परिस्थितियों का सम्बन्ध इतना जटिल होता है कि दोनों को स्वतन्त्र रूप से पहचानना भी मुश्किल है। परिस्थितियों से जहाँ मानवीय चरित्र निमित्त होता है, वहीं चरित्र परिस्थितियों को अपनी त्रिपाशीलता से परिवर्तित करता है और इस तरह मानवीय त्रिपाशीलता नवीन परिस्थितियों का निर्माण करती है। इस सघर्षपूर्ण सम्बन्ध में ही पात्र और परिस्थितियों को पहचाना जा सकता है। निश्चय ही होरी और मेहता के व्यक्तित्व में जो अन्तर है, उसका कारण उनकी जीवन-स्थितियों का अन्तर भी है। लेकिन समान परिस्थितियों में रहते हुए भी होरी और हीरा के चरित्रों में भेद है। एका ही चरित्र भिन्न परिस्थितियों में जाकर बदल जाता है, यह परिवर्तन परिस्थितियों की ही देन है। गोबर का व्यक्तित्व इस दृष्टि से दृष्टव्य है। तात्पर्य यह है कि भारतीय किमान की चरित्रगत विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए हमें उन परिस्थितियों को नहीं भूल जाना चाहिए, जिनमें उसे जीवन बसर करना पड़ रहा है।

प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में अनेक जीवन-किसान-चरित्रों को

किया है, जिनम मनोहर, होरी, अलगू चौधरी, झीगुर कादिर आदि मुख्य हैं। प्रेमचन्द के आलोचकों ने यह सवाल उठाया है कि प्रेमचन्द क अनुसार प्रतिनिधि भारतीय किसान चरित्र कौन सा है ?¹ मनोहर या होरी ? उग्र स्वभाव का मनोहर या नम्र स्वभाव का होरी ? क्रान्तिकारी मनोहर या परम्परावादी-समझौतावादी होरी ? आखिर किसे भारतीय किसान का प्रतिनिधि माना जा सकता है ?

सवाल को इस रूप में उठाने में आलोचकों की मशा यह रहती है कि होरी ही ('गोदान' के पात्र ही) भारतीय किसान का वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है (प्रेमचन्द की नजरा में) कि भारतीय किसान अन्ध-विश्वासी है, रीतिरिवाज में जकड़ा हुआ है, असमानता की परम्परागत संस्कृति को वैध मानता है, परिस्थितियों से समझौता कर लेता है और इस तरह स्वाधीनता आन्दोलन में सघर्षशील भूमिका नहीं निभा रहा है। तथा इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि मनोहर, बलराज का (तथाकथित) क्रान्तिकारिता रचनाकार के कच्चे मन का उत्साह है वह भारतीय किसान के यथार्थ रूप के करीब नहीं है। निश्चय ही ये निष्कर्ष सचेत रूप से नहीं निकाले जाते लेकिन उनके तर्कों की परिणति इन्हीं निष्कर्षों में होती है।

होरी और मनोहर के व्यक्तित्वों में जो विरोध दिखाया गया है, वह कितना वास्तविक है ? इस पर भी विचार किया जाना चाहिए। क्या उनके व्यक्तित्वों में जो विरोध दिखायी पड़ता है वह वास्तविक है या ऊपरी दिखावा मात्र ? क्या उनका यह विरोध पात्रगत है या परिस्थिति जन्य ? सामान्यतः कहा जा सकता है कि होरी रूढ़िवादी भारतीय किसान का प्रतिनिधि है और मनोहर बलराज 'क्रान्तिकारी' किसान का प्रतिनिधि है। होरी अपने तीन बीघे के खेत लिए अनैतिक कर्म करता है और फिर उसके अपराध-बोझ से अस्त रहता है जबकि बलराज को अपनी जमीन की चिन्ता नहीं है। वह मयादा की कीमत पर जमीन बचाना नहीं चाहता। बलराज के पास 'अधूरा' आता है, जिनमें देश विदेश की खबरें छरी होती हैं। होरी इस नवीन ज्ञान से वंचित है। वह गोबर से कहता है 'बेटा जब तक मैं जीता हूँ, मुझे अपने रास्ते चलन दो। जब मैं मर जाऊँ तो तुम्हारी जो इच्छा हो, वह करना।'² इस तरह होरी परम्परा का अनुगामी है। बलराज किसानों का भविष्य है और होरी परम्परा का अनुगामी है। बलराज किसानों का भविष्य है और होरी उनका अतीत रूप है। होरी वह किसान है जिसे अन्ततः मर जाना है। (गोबर किसानों के भविष्य का प्रतीक इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह 'किसानी' छोड़ चुका है और मजदूर बन गया है।) सदियों के अरपाचार ने भारतीय रूढ़िवादी किसान में जो धैर्य और सहनशीलता का 'गुण' (?) विकसित किया है, जिम्मे कारण वह अन्याय के खिलाफ विद्रोह नहीं कर पाता, होरी उस किसान का प्रतिनिधि है। लेकिन इस समझ में यह दृष्टव्य है कि 'गोदान' में अबेला 'होरी' ही सम्पूर्ण भारतीय किसान का प्रतिनिधि नहीं है, अकेला तो वह 'अधूरा' पात्र है। धनिया से मिलकर ही उसमें पूर्णता आती है। होरी और धनिया मिलकर एक सखिलष्ट किसान चरित्र का रूप

लेते हैं। और इस तरह देखा जाय तो मनोहर या बलराज की उग्रता धनिया के तेज के सामने मद्धिम ही ठहरती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या वास्तव में मनोहर क्रान्तिकारी है और होरी दबू है? 'प्रेमाश्रम' का सन्तुलित अध्ययन इसकी पुष्टि नहीं करता है। आरंभ में आकर मनोहर एक बार रुपये सेर की जमींदार को देन से इन्कार कर देना है। विलासी और कादिर उसे समझाते हैं, इससे उसका आवश एतम होता है। इस पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने मनोहर की प्रवृत्ति पर इस तरह टिप्पणी की है "यद्यपि मनोहर बड़-बड़ पर बातें कर रहा था, पर वास्तव में उनका इन्कार अब परास्त तर्क के समान था। यदि बिना दूधरा की दृष्टि में अपमान उठाये बिगड़ा हुआ खेल बन जाय तो उस कोई आपत्ति नहीं थी। हाँ, वह स्वयं क्षमा-प्रार्थना करने में अपनी हेठी समझता था। एक बार तनवर फिर झुकना उसके लिए बड़ी लज्जा की बात थी।" ³ इस घटना के बाद मनोहर के घर में बेगार में दूध जाता है और वह स्वयं भी बेगार करने जाता है। उसकी अकड़ उसके व्यक्तित्व का 'रूप' रह जाती है, 'वस्तु' तत्त्व उतना आबग मय नहीं रह पाता। इसी तरह बलराज तो मनोहर से भी ज्यादा विद्रोही है, लेकिन मनोहर उसके साथ गौस खाँ की हत्या करने रवाना होता है तो वही बलराज कहता है—"मेरा तो कलेजा घर-घर काँप रहा है।" ⁴

अब इस पर भी विचार होना चाहिए कि क्या होरी इतना डरपोक है? रायसाहब के घर पर पठान के वेश में मेहता मालती का भगा लेना चाहता है, उस समय होरी बेघडक हाज़र उससे भिड़ जाता है। इसी तरह दमड़ी बसारे और पुनिया में कहा मुनी हो जानी है। होरी को लगता है कि दमड़ी ने पुनिया को पीट दिया है। ता होरी के 'धून न जोश मारा और अलगीसे की ऊँची बाँध का ताड़ता हुआ, सब कुछ अपने अन्दर समेटने के लिए बाहर निकल पड़ा। चौधरी को सात जमाकर वाला—अब अपना भला चाहने हा चौधरी, तो यहाँ से चल जाओ, नहीं तुम्हारी लहास उठेगी। तुमने अपने को समझा क्या है? तुम्हरी इतनी मजाल कि मेरी बहू पर हाथ उठाओ।" ⁵ इसी तरह होरा और धनिया के झगड़े में भी होरी पहुँच जाता है। मनोहर न विलासी के अपमान का बदला लेने के लिए गौस खाँ की हत्या कर दो, यह सही है। लेकिन क्या धनिया का अपमान होरी चुपचाप पी जाता? जब पुनिया का अपमान होरी नहीं सह सका तो धनिया का अपमान वह कैसे सह सकता है? होरी के चरित्र का वस्तुगत अध्ययन बताता है कि धनिया के लिए होरी मरने मारने पर उत्तारु हो सकता है और इस स्तर पर वह मनोहर जैसा ही श्रेणी और साहसी है। 'मुक्तिमार्ग' का किसान शीगुर भी जोश में आकर बुद्धू गडरिय से झगड़ बैठता है। लेकिन गाँव के अन्य किसान उसे समझाते हैं। और किसान सामूहिक रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं 'वास्तव में हम किसानों का कल्याण दबे रहने में ही है। ईश्वर को भी हमारा सिर उठाकर चलना अच्छा नहीं लगता।' ⁶

इस तरह दब्यूपन भारतीय किसान के व्यक्तित्व का स्वाभाविक गुण नहीं है, बल्कि समकालीन समाज व्यवस्था के लम्बे अनुभव से किसान इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उनकी कुशल दबे रहने में ही है। मनोहर भी आवेश शान्त हो जाने के

बाद इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है और होरी के जीवन-अनुभव का सार भी यही है। मनोहर गोम खाँ की हत्या से पहले मानसिक रूप से अपनी मृत्यु के लिए भी तैयार हो जाता है। जिन ठण्डे और निश्चयात्मक शब्दों में यह चलराज को जाते-जाते हिदायत देता है, उनमें मृत्यु पूर्व की नीरवता निहित है। वास्तव में, सम्पूर्ण समाज व्यवस्था किसान के साहस का सगठित रूप में विरोध करती है। उस विरोध से किसान का साहस दब जाता है। यह दबा हुआ साहस ही बभी-बभी भभक कर सामने आता है। लेकिन माहम की यह ज्योति बुझते हुए दीपक के समान होती है। किसान की यथार्थ की समझ उसे यही कहती है कि उसके जीवन में बहादुरी के लिए कोई स्थान नहीं है। होरी गोवर से कहता है "जब सिर पर पड़ेगी तब मालूम होगा बेटा, अभी जो चाहे कह लो। पहले मैं भी यही सब बातें सोचा करता था, पर अब मालूम हुआ कि हमारी गरदन दूसरो के पैरा के नीचे दबी हुई है, अकडकर निवाह नहीं हो सकती।" इस तरह प्रश्न किसान के साहसी या कायर होने का नहीं है, उन परिस्थितियों का है, जिनमें उसके साहम या उसकी कायरता की परीक्षा होनी है।

प्रेमचन्द मानते हैं कि किसान निरक्षर अवस्थ है लेकिन मूर्ख नहीं है। वह परिस्थितियों का बहुत ही यथार्थवादी विश्लेषण करके अपने लिए सही निष्कर्ष निकाल लेता है। होरी दबू इमलिए दिखायी देता है क्योंकि किसानों का अपना कोई राजनीतिक संगठन नहीं है। ऐसे लोग उसे दिखायी नहीं देते जो सघर्ष में उसका साथ देते। प्रेमचन्द यह मानते हैं कि गिजी चतना स किसान आधुनिक संगठन नहीं बना सकते। इससे लिए राष्ट्रीय नेताओं को किसानों के बीच जागृति फैलाने का कार्य करना पड़ेगा। 26 फरवरी 1934 का 'निरक्षरता की दुहाई' नामक टिप्पणी में उन्होंने लिखा 'अगर राजद्रोह का होवा न खडा कर दिया गया होता, तो राष्ट्रीय सेवक किसानों में बहुत कुछ संगठन कर चुके होते। मगर यहाँ तो यह नीति है कि प्रजा की राजनैतिक चेतना न जागन पाव, नहीं वह अपने हक पर अड़ना सीख जायगी।' 8

किसानों की विद्यमान चेतना तो असमानता की परम्परागत संस्कृति को बंध मानती है, अपनी बदहाली की जिम्मेदारी अपन भाग्य पर डाल कर संतोष कर लेती है, इस तरह अपन शोषकों को दुश्मन के रूप में नहीं पहचान पाती। होरी इसलिए विद्रोह नहीं करता कि उसे अपना शोषण अन्यायपूर्ण नहीं लगता, उसे वह बंध मानता है। शापण की अवैधता पर बल देने के लिए राष्ट्रीय और जनतान्त्रिक चेतना की जरूरत पड़ती है। प्रेमचन्द ने समकालीन किसान की जो सश्लिष्ट प्रतिमा खड़ी की है, उसमें किसान (होरी) इसी कारण विद्रोही नहीं है। किसान चेतना में परिवर्तन की आवश्यकता पर बल देने के लिए उसके इस 'मानसिक पिछड़ेपन' को उभार कर सामने रखा गया है। इस तरह उन्होंने यह दिखाया है कि परिवर्तन की शुरुआत वहाँ से की जा सकती है। उन्होंने जिस परिवर्तनशील रूप में किसान चरित्र को उपस्थित किया है, उससे यह भी लगता है कि यह भारतीय किसान की समकालीन तस्वीर तो है, लेकिन शाश्वत तस्वीर नहीं है। किसान में पीडा सहने की जितनी

शक्ति है, वह पीड़ा को दूर करने के सगठित सघर्ष में भी लग सकती है। प्रश्न किसानों में राजनीतिक जागृति फैलाने का है। 'नशा' का एक पात्र कहता है " असामी भी यही समझता है। अगर उसे गुझा दिया जाए कि जमींदार और असामी में कोई मौलिक भेद नहीं है, तो जमींदारों का कही पता न लगे।"⁹ इस 'ममानता' का प्रचार किसानों में होना अभी बाकी है। और इसके प्रचार से भारतीय किसान के व्यक्तित्व में बुनियादी परिवर्तन होगा।

सन्दर्भ

1. “ ‘प्रेमाश्रम’ के बलराज और मनोहर जैसे किसानों को उन्होंने बहुत अधिक विद्रोही दिखाया था, लेकिन होरी को उन्होंने सन्तोष, धैर्य, सहनशीलता तथा अन्धविश्वास का पुञ्ज दिखलाया, जो भारतीय किसानों की जाती विशेषता है। यदि किसान-आन्दोलन की ओर ध्यान दें तो ‘प्रेमाश्रम’ के सत्रह-अठारह वर्षों के याद लिखे हुए ‘गोदान’ में किसान को अधिक विद्रोही दिखाना चाहिए था, लेकिन वास्तविकता यह थी कि तमाम आन्दोलनों के बावजूद भारतीय किसान बाकी सन्तोषी, भाग्यवादी और धैर्यवान रहा है। अपने अनुभवों से प्रेमचन्द ने हम तथ्य को अन्त में समझा और होरी के रूप में उन्होंने ऐसे ही किसान का चित्रण किया जो तमाम किसानों का प्रतिनिधि हो सका।” —‘आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ’, पृ० 144 —डा० नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, 1968
2. गोदान, पृ० 184
3. प्रेमाश्रम, पृ० 14
4. वही, पृ० 216
5. गोदान, पृ० 27
6. मानसरोवर, भाग-3, पृ० 243
7. गोदान, पृ० 17
8. विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 507
9. मानसरोवर, भाग-1, पृ० 116

